महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अन्तर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

नव-सामाजिक विमर्श

निर्धारित पाठ्यपुस्तक

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
चतुर्थ सेमेस्टर
चतुर्थ पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 22

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

1

नव-सामाजिक विमर्श (निर्धारित पाठ्यपुस्तक)

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक- एम॰ए॰ हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रथम संस्करण : जून 2018

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना, संयोजन एवं पाठचयन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं टंकण

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

टंकण कार्य सहयोग (मलखान सिंह, कँवल भारती, ग्रेस कुजूर, चित्रा मुद्गल एवं रोज केरकेट्टा की कृतियाँ)
सुश्री राधा सुरेश ठाकरे
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री बी. एस. मिरगे जनसंपर्क अधिकारी एवं श्री राजेश आगरकर प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

हम उन समस्त साहित्यकारों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जिनकी कृतियों का उपयोग प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में किया गया है । हम उन समस्त रचनाकारों, अनुवादकों, सम्पादकों, संकलनकर्त्ताओं, सर्वाधिकारधारकों, प्रकाशकों, मुद्रकों एवं इंटरनेट स्रोतों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं जिनकी सहायता से प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में संकलित रचनाओं के पाठ उपलब्ध हुए हैं।

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यपुस्तक दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- इस पाठ्यपुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रह गई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विधा	निर्धारित पाठ्य कृतियाँ	कृतिकार	पृष्ठ क्रमांक
01.	कविता	स्त्रियाँ बेजगह तुलसी का झोला	अनामिका	05 – 12
02.	कविता	इस स्त्री से डरो सात भाइयों के बीच चम्पा गार्गी	कात्यायनी	13 – 15
03.	कविता	कैसा उदारवाद यह छत की तलाश सुनो ब्राह्मण !	मलखान सिंह	16 – 21
04.	कविता	चिड़िया जो मारी गई तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ? शम्बूक	कँवल भारती	22 – 26
05.	कविता	कथन शालवन के अंतिम शाल का जड़ी-बूटी पीसने की तरह राजा ठाकुर होते थे	रामदयाल मुण्डा	27 – 31
06.	कविता	एक और जनी-शिकार कलम को तीर होने दो हे समय के पहरेदारो !	ग्रेस कुजूर	32 – 42
07.	उपन्यास	एक ज़मीन अपनी (चयनित अंश)	चित्रा मुद्गल	43 – 90
08.	उपन्यास	नीला आकाश (चयनित अंश)	सुशीला टाकभौरे	91 – 127
09.	उपन्यास	जंगल के गीत (चयनित अंश)	पीटर पौल एक्का एस० जे०	128 – 174
10.	कहानी	अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी	सुधा अरोड़ा	175 – 179
11.	कहानी	अम्मा	ओमप्रकाश वाल्मीकि	180 – 189
12.	कहानी	मैना	रोज केरकेट्टा	190 – 195
13.	आत्मकथा	मुर्दहिया (चयनित अंश)	तुलसीराम	196 – 240

कात्यायनी

(1)

इस स्त्री से डरो

यह स्त्री
सब कुछ जानती है
पिंजरे के बारे में
    जाल के बारे में
        यन्त्रणा-गृहों के बारे में
उससे पूछो।
पिंजरे के बारे में पूछो,
वह बताती है
नीले अनन्त विस्तार में
    उड़ने के
        रोमांच के बारे में।
जाल के बारे में पूछने पर
गहरे समुद्र में
    खो जाने के
        सपने के बारे में
बातें करने लगती है।
यन्त्रणा-गृहों की बात छिड़ते ही
गाने लगती है
    प्यार के बारे में
        एक गीत।
रहस्यमय हैं इस स्त्री की उलटबासियाँ
इन्हें समझो।
इस स्त्री से डरो।

*   *   *

(2)
सात भाइयों के बीच चम्पा

सात भाइयों के बीच
चम्पा सयानी हुई ।
बाँस की टहनी-सी लचक वाली,
बाप की छाती पर साँप-सी लोटती
सपनों में
काली छाया-सी डोलती
सात भाइयों के बीच
चम्पा सयानी हुई ।

ओखल में धान के साथ
कूट दी गयी
भूसी के साथ कूड़े पर
फेंक दी गयी ।
वहाँ अमरबेल बनकर उगी ।
झरबेरी के सात कँटीले झाड़ों के बीच
चम्पा अमरबेल बन सयानी हुई ।
फिर से घर आ धमकी ।

सात भाइयों के बीच सयानी चम्पा
एक दिन घर की छत से
लटकती पायी गयी ।
तालाब में जलकुम्भी के जालों के बीच
दबा दी गयी ।
वहाँ एक नीलकमल उग आया ।
जलकुम्भी के जालों से ऊपर उठकर
चम्पा फिर घर आ गयी,
देवता पर चढ़ायी गयी
मुरझाने पर मसलकर फेंक दी गयी,
जलायी गयी ।
उसकी राख बिखेर दी गयी
पूरे गाँव में ।

रात को बारिश हुई झमड़कर ।
अगले ही दिन
हर दरवाज़े के बाहर
नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच
निर्भय-निस्संग चम्पा
मुस्कुराती पायी गयी ।

(3)

गार्गी

मत जाओ गार्गी प्रश्नों की सीमा से आगे
तुम्हारा सिर कटकर लुढ़केगा ज़मीन पर,
मत करो याज्ञवल्क्यों की अवमानना,
मत उठाओ प्रश्न ब्रह्मसत्ता पर,
वह पुरुष है !
मत तोड़ो इन नियमों को।
पुत्री बन पिता का प्यार लो
अंकशायिनी बनो
फिर कोख में धारण करो
पुरुष का अंश
मत रचो नया लोकाचार
मत जाओ प्रश्नों की सीमा से आगे।
गार्गी, तुम जलो रुपयों की ख़ातिर
बिको बीमार बेटे की ख़ातिर
नाचो इशारों पर
गार्गी तुम ज़रा स्मार्ट बनो
तहज़ीब सीखो
सीढ़ी बन जाओ हमारी तरक़्क़ी की
गार्गी तुम देवी हो – जीवनसंगिनी हो
पतिव्रता हो गार्गी तुम
हम अधूरे हैं तुम्हारे बिना
महान् बनने में हमारी मदद करो
दुनिया कोफ़तह करने में
आसमान तक चढ़ने में
गार्गी, तुम एक रस्सी बनो।
त्याग-तप की प्रतिमा हो तुम
सोचो परिवार का हित
अपने इस घर को सँभालो
मत जाओ प्रश्नों की सीमा से आगे
तुम्हारा सिर कटकर लुढ़केगा ज़मीन पर!

❖❖❖

मलखान सिंह

(1)

कैसा उदारवाद यह

कैसा उदारवाद यह
कैसा राष्ट्रवाद
जो हमें –
हमारे हाल पर छोड़
मुफ़्तखोरों को लूट की
खुली छूट दे
तिजोरियाँ खुद की भरता है।

आज !
देश की शिक्षा
देश की चिकित्सा
देश के बाजार
आकाश-पाताल
धरती की कोख तक
बस उन्हीं की सत्ता चलती है।

नगर के चौराहों पर
बिकने वालों की
इतनी भीड़ है कि
पाँव रखने की जगह नहीं
गाँव बंजर हो गये हैं
हम सिमाने पर खड़े
पेट के भेड़िये से जूझ रहे हैं
और सत्ता से
खुद की गरदन की मोटाई
छिपाने के लिये
मुफ़्तखोर गर्दन को
प्रगति का पैमाना बना
घोषित कर रहे हैं कि
देश समृद्धि कर रहा है।

*　　*　　*

(2)

छत की तलाश

इस अपरिचित बस्ती में
घूमते हुए मेरे पाँव थक गये हैं
अफसोस ! एक भी छत
सर ढँकने को तैयार नहीं।

हिन्दू दरवाजा खुलते ही
कौम पूछता है और
नाक भौं सिकोड़
गैर-सा सलूक करता है।

नमाजी-दरवाजा
बुलपरस्त समझ
आँगन तक जाने वाले रास्तों पर
कुण्डी चढ़ाता है।

हर आला दरवाजे पर
पहरा खड़ा है और
मेरे खुद के लोगों पर
न घर है, न मरघट।

अब ! केवल यही सोच रहा हूँ मैं
कि सामने बंद दरवाजे पर
दस्तक नहीं, ठोकर दूँगा।
दीवालें चूल से उखाड़
जमीं पर बिछा दूँगा।

चौरस जमीं पर
मकान ऐसा बनाऊँगा
जहाँ हर होठ पर
बन्धुत्व का संगीत होगा
मेहनतकश हाथ में
सब तंत्र होगा
मंच होगा
बाजुओं में
दिग्विजय का जोश होगा।

विश्व का आँगन
बृहत् आँगन
हमारा घर बनेगा।
हर अपरिचित गाँव भी
अपना लगेगा।

* * *

(3)

सुनो ब्राह्मण !

(i)

हमारी दासता का सफ़र
तुम्हारे जन्म से शुरू होता है
और इसका अन्त भी
तुम्हारे अन्त के साथ होगा ।

(ii)

सुनो ब्राह्मण
हमारे पसीने से
बू आती है तुम्हें ।

फिर ऐसा करो
एक दिन
अपनी जनानी को
हमारी जनानी के साथ
मैला कमाने भेजो ।

तुम ! मेरे साथ आओ
चमड़ा पकायेंगे
दोनों मिल बैठ कर ।

मेरे बेटे के साथ ।
अपने बेटे को भेजो
दिहाड़ी की खोज में ।

और अपनी बिटिया को
हमारी बिटिया के साथ
भेजो कटाई करने
मुखिया के खेत में ।

शाम को थक कर
पसर जाओ धरती पर
सूँघो खुद को
बेटे को
बेटी को
तभी जान पाओगे तुम
जीवन की गन्ध को,
बलवती होती है जो
देह की गन्ध से।

(iii)

हम जानते हैं
हमारा सब कुछ
भौंड़ा लगता है तुम्हें।

हमारी बगल में खड़े होने पर
कद घटता है तुम्हारा
और बराबर खड़ा देख
भवें तन जाती हैं।

सुनो भूदेव
तुम्हारा कद
उसी दिन घट गया था
जिस दिन कि तुमने
न्याय के नाम पर
जीवन को चौखटों में कस
कसाई बाड़ा बना दिया था।
और खुद को शीर्ष पर
स्थापित करने हेतु
ताले ठुकवा दिये थे
चौमंजिला जीने से।
वहीं बीच आँगन में
स्वर्ग के – नरक के
ऊँच के – नीच के
छूत के – अछूत के
भूत के – भभूत के
मंत्र के – तंत्र के

बेपेंदी के ब्रह्म के
कुतिया, आत्मा, प्रारब्ध
और गुण-धर्म के
सियासी प्रपंच गढ़
रेवड़ बना दिया था
पूरे के पूरे देश को।

तुम अक्सर कहते हो कि
आत्मा कुआँ है
जुड़ी है जो मूल-सी
फिर निश्चय ही हमारी घृणा
चुभती होगी तुम्हें
पके हुए शूल-सी।
यदि नहीं –
तो सुनो वशिष्ठ!
द्रोणाचार्य तुम भी सुनो!
हम तुमसे घृणा करते हैं
तुम्हारे अतीत
तुम्हारी आस्थाओं पर थूकते हैं।

मत भूलो कि अब
मेहनतकश कन्धे
तुम्हारा बोझ ढोने को
तैयार नहीं हैं
बिल्कुल तैयार नहीं हैं।

देखो!
बन्द किले से बाहर
झाँक कर तो देखो
बरफ पिघल रही है।
बछेड़े मार रहे हैं फुर्री
बैल धूप चबा रहे हैं
और एकलव्य
पुराने जंग लगे तीरों को
आग में तपा रहा है।

❖❖❖

कँवल भारती

(1)

चिड़िया जो मारी गयी

गोरख पाण्डेय ने लिखी थी कविता
एक चिड़िया थी
चिड़िया भूखी थी
इसलिये गुनहगार थी
मारी गयी वह चिड़िया
जो भूखी थी।
लेकिन गोरख पाण्डेय ने ग़लत लिखा था
वह चिड़िया भूख से नहीं
चिड़िया होने से पीड़ित थी
कवि इस अनुभव से गुजरा नहीं था
उसकी श्रेणी जन्म से पूज्य थी
वह कैसे जानता
गरीबी नहीं
सामाजिक बेइज्जती अखरती है ?
वह कैसे जानता
वह चिड़िया थी इसलिये गुनहगार थी,
चिड़िया जो मारी गयी।

* * *

(2)

तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?

यदि वेदों में लिखा होता
ब्राह्मण ब्रह्मा के पैर से हुए हैं पैदा।
उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं।
तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?

यदि धर्मसूत्रों में लिखा होता
तुम ब्राह्मणों, ठाकुरों और वैश्यों के लिए
विद्या, वेद-पाठ और यज्ञ निषिद्ध हैं।
यदि तुम सुन लो वेद का एक भी शब्द,
तो कानों में डाल दिया जाय पिघला शीशा।
यदि वेद-विद्या पढ़ने की करो धृष्टता,
तो काट दी जाय तुम्हारी जिह्वा।
यदि यज्ञ करने का करो दुस्साहस,
तो छीन ली जाय तुम्हारी धन-संपत्ति,
या, कत्ल कर दिया जाय तुम्हें उसी स्थान पर।
तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?

यदि स्मृतियों का यह विधान
लागू हो जाता
तुम ब्राह्मणों, ठाकुरों और वैश्यों पर
कि तुम नीच हो,
श्मशान-भूमिवत् हो,
तुम्हारे आवास हों गाँवों के बाहर
तुम्हारे पेशे हों घृणित –
मरे जानवरों को उठाना,
मल-मूत्र साफ करना,
कपड़े धोना, बाल काटना,
हमारे खेतों-घरों में दास-कर्म करना।
तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?

यदि यह विधान लागू हो जाता (तुम द्विजों पर)
कि तुम्हें धन-सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं।
तुम जिन्दा रहो हमारी जूठन पर;
हमारे दिये हुए पुराने वस्त्रों पर;
तुम्हें अधिकार न हो पढ़ने-लिखने का;

तुम्हारे बच्चे सेवक बनें हमारे
पीढ़ी-दर-पीढ़ी
हम रहें तुम्हारे शासक?
तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती?

यदि यह विधान लागू हो जाता
कि तुम अस्पृश्य हो
तुम्हारी छाया भी अमंगल है,
हमारे शरीर, वायुमंडल और धरा के लिए;
इसलिए तुम्हें गले में लटका कर हांडी;
और कमर में बाँधकर झाड़ू;
सड़कों पर चलने की राजाज्ञा हो,
तुम्हारा वर्जित हो मन्दिरों में प्रवेश
सार्वजनिक कुओं, तालाबों से लेना पानी।
तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती?

यदि यह विधान लागू हो जाता
कि तुम्हारे जीवन का कोई मूल्य नहीं।
कोई भी कर सकता है तुम्हारा वध;
ले सकता है, तुमसे बेगार;
तुम्हारी स्त्री, बहिन और पुत्री के साथ,
कर सकता है बलात्कार;
जला सकता है घर-बार।
तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती?

यदि रामायण में राम
तपस्वी-धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों का करते कत्ले आम।
तुलसीदास मानस में लिखते –
पूजिए सूद्र सील गुन हीना।
विप्र न गुन गन ग्यान प्रवीना॥
तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती?

* * *

(3)

शम्बूक

शम्बूक
हम जानते हैं तुम इतिहास पुरुष नहीं हो
वरना कोई लिख देता
तुम्हें भी पूर्वजन्म का ब्राह्मण
स्वर्ग की कामना से
राम के हाथों मृत्यु का याचक।

लेकिन शम्बूक
तुम इतिहास का सच हो
राजतन्त्रों में जन्मती
असंख्य दलित चेतनाओं का प्रतीक
व्यवस्था और मानव के संघर्ष का बिम्ब

शम्बूक
तुम हिन्दुत्व के ज्ञात इतिहास के
किसी भी काल का सच हो सकते हो
शम्बूक, जो तुम्हारा नाम नहीं है
क्योंकि तुम घोंघा नहीं थे,
घृणा का शब्द है जो दलित चेतना को
व्यवस्था के रक्षकों ने दिया था।

शम्बूक (हम जानते हैं)
तुम उलटे होकर तपस्या नहीं कर रहे थे
जैसा कि वाल्मीकि ने लिखा है
तुम्हारी तपस्या एक आन्दोलन थी
जो व्यवस्था को उलट रही थी

शम्बूक (हम जानते हैं)
तुम्हें सदेह स्वर्ग जाने की कामना नहीं थी
जैसा कि वाल्मीकि ने लिखा है।
तुम अभिव्यक्ति दे रहे थे
राज्याश्रित अध्यात्म में उपेक्षित देह के यथार्थ को।

शम्बूक (हम जानते हैं)
तुम्हारी तपस्या से
ब्राह्मण का बालक नहीं मरा था
जैसा कि वाल्मीकि ने लिखा है
मरा था ब्राह्मणवाद
मरा था उसका भवितव्य।

शम्बूक
सिर्फ़ इसीलिए राम ने तुम्हारी हत्या की थी।
तुम्हें मालूम नहीं
जिस मुहूर्त में तुम धराशायी हुए थे
उसी मुहूर्त में जी उठा था
ब्राह्मण-बालक
यानी ब्राह्मणवाद
यानी उसका भवितव्य।

शम्बूक
तुम्हें मालूम नहीं
तुम्हारे वध पर
देवताओं ने पुष्प-वर्षा की थी
कहा था – बहुत ठीक, बहुत ठीक,
क्योंकि तुम्हारी हत्या
दलित चेतना की हत्या थी,
स्वतन्त्रता, समानता और न्यायबोध की हत्या थी।

किन्तु, शम्बूक
तुम आज भी सच हो
आज भी दे रहे हो शहादत
सामाजिक-परिवर्तन के यज्ञ में।

❖❖❖

रामदयाल मुण्डा

(1)

कथन शालवन के अंतिम शाल का

वीरान शालवन !
कैसा विरोधाभास !
किंतु लगता है कालक्रम में
बहुत-सी असंगतियों की तरह
यह असंगति भी लोग सह लेंगे
जब अग्रजों-अनुजों का यह
समवेत संहार समाप्त हो जाएगा
और इस व्यर्थ में से
एक नया अर्थ निकलेगा
मुझे दु:खइस बात का नहीं है
कि मैं कट रहा हूँ
विकलांग होकर भी कहीं न कहीं
मेरा अस्तित्व रहेगा
और उस अर्थ में मैं अजर-अमर हूँ
किंतु यह जो अपने साथी
जंगल के आदमी के
किसी बड़े काम में नहीं
आ सकने का दर्द है
वह मुझे कहीं
चैन से नहीं रहने देगा
मेरे ही सामने उस दिन
ठीकेदार साहब ने
नागों की झोपड़ी को देखकर
अपने इंजीनियर
साथी से कहा था
"बेवकूफ हैं साले टिम्बर से घिरे हैं
पर
ढंग का मकान बनाने की भी
अक्ल नहीं आई"
फिर उन्हीं के सहयोगी कहते हैं
"जंगल का आदमी
जंगल काट कर बर्बाद कर रहा है

इसलिए इसकी रक्षा होनी चाहिए"
शायद इसीलिए इसकी
रक्षा हो रही है
टिम्बर मर्चेंट्स के गोदामों में
उनकी तिजोरियों में
नोटों के बंडलों के रूप में !
जंगल के आदमी को क्या मिला ?
फल-फूलहीन कंटीली झाड़ियाँ
पानी के बहाव से निरन्तर
छँटती जा रही
अनुर्वर ज़मीन ?

मैं जानता हूँ
नए जंगल भी लगेंगे
किंतु वह शालवन नहीं होगा
कमर्शियल पेड़ होंगे
जिसका अर्थ हुआ
कॉमर्स से जिसे काम नहीं
उसके लिए पेड़ की सृष्टि का उद्देश्य
कॉमर्स से
बहुत ऊपर तक जाता है
उसके पीछे जो दृष्टि है दिव्य है
हमसे मिलने वाले कंद-मूल
फल-फूल सबके हैं
मैं सब कुछ देख रहा हूँ
क्रोध से पागल हुआ जा रहा हूँ
अगर इस षड्यंत्र का पता होता
तो विकसित करता अपने भीतर
विषाक्त कोई द्रव
जो मेरी खाल छूने वालों को
कर देता खार-छार
या कि ओढ़ता काँटे
जो चुभते मात्र दृष्टिपात पर
कभी-कभी सोचता हूँ
अच्छा ही हुआ
कि अपने साथी के
जीवन के पूर्ण विघटन के पहले
हम ही जा रहे हैं

विघटन जो यों ही हो रहा है
हमसे लगे किंतु
कुछ स्वतंत्र कारणों से भी
इस समय इस आदमी की
नियति ही कुछ ऐसी हो गई है
कि उसकी सुगति की आशा
अगति से दुर्गति में बदल गई है
यह परिवर्त्तन
ज़रूरी है शायद
सभ्यता का पतन
ज़रूरी है शायद
ज़रूरी है शायद।

* * *

(2)

जड़ी-बूटी पीसने की तरह

राग – नावा

जड़ी-बूटी पीसने की तरह
गर्म लोहा गलाने की तरह
तुमने मुझे पीस डाला, मिला डाला
मैं घुल ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया

कपड़ा रंगने की तरह
मिट्टी लीपने की तरह
तुमने मुझे, लीप दिया, पोत दिया
तुम्हारे रंग में रंग ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया

कोई फल तोड़ने की तरह
कोई साग टूँगने की तरह
तुमने मुझे तोड़ लिया, टूँग लिया
मैं छिनग[1] ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया।

....

1. छिनग : अलग

* * *

(3)

राजा ठाकुर होते थे

राग – काराम

राजा ठाकुर होते थे
सोच कर जी धुक-धुक करता है
अब वे चुप हैं किसी कोने में
धूल उड़ने लगी है घोड़साल में
वे चुप हैं किसी कोने में

चली गयी ज़मींदारी
टूट गयी पत्थर की बखरी[1]
नहीं अब नर-बलि गढ़ के भीतर
ठेंपी[2] लग गयी शुद्ध शराब की बोतल में
वे चुप हैं किसी कोने में

वे सोचते हैं मन में
अपना हक़ खोया हमने कैसे
हम हल चलाना शुरू करें कैसे ?
भूल गया किधर बायें किधर दायें
वे चुप हैं किसी कोने में

लाज-शरम छोड़कर
जोतने-कोड़ने चलना ही होगा
जो काम करेगा वही खाएगा
कुछ नहीं है लम्बी पगड़ी में
जो काम करेगा, वही खाएगा।

....

1. बखरी : ज़मींदार का घर
2. ठेंपी : ढक्कन

❖❖❖

ग्रेस कुजूर

(1)

एक और जनी-शिकार

एक

कहाँ है वह फुटकल का गाछ
जहाँ चढ़ती थी मैं
साग तोड़ने
और गाती थी तुम्हारे लिए
फगुआ के गीत
जाने किधर है
कोमल पत्तियों वाला
कोयनार का गाछ
जिसके नीचे तुम
बजाया करते थे
मांदर और बाँसुरी ?

कहाँ गई वह सुगंध
महुआ[1] और डोरी[2] की
गूलर[3] और केयोंद[4] की
कहाँ खो गया बाँसों का संगीत
और जाने कहाँ उड़ गई
'संधना'[5] की सुगंध?

सखुआ[6] की पत्तियों में
किसने किए हैं सुराख
कैसे बीनूँगी उनकी पत्तियाँ
कैसे सीऊँगी दोना और पतरी
अब तो बढ़ने लगे हैं
दातून भी
टेढ़े मेढ़े

दो

संगी रे –
कितने चमकते थे
पटवा में खोंसे हुए तुम्हारे
उजले पंख-बगुले के
और कितना लहराता था
अखरा[7] में नाचते वक्त
तुम्हारी तोलोंग[8] का फुदना
कितना सुकून पैदा करती थी
रात के सन्नाटे में
मांदर की थाप
और हवा में घुलते
'अंगनई'[9] और 'डमकच'[10] के गीत

अब कहाँ है वह अखरा ?
किसने उगाए हैं वहाँ
विषैले नागफनी
बार-बार उलझता है जहाँ
तुम्हारी 'तोलोंग' का फुदना
क्यों उदास है आज
'पटवा' के उजले पंख ?
हवा में नहीं तैरते अब
'अंगनई' और 'डमकच' के गीत
सिल गए हैं होंठ मेरे
धतूरे के काँटों से .....

मेरा जूड़ा बहुत सूना लगता है संगी–
सरहुल के फूलों बिना
और लगता है
कहीं अटक गया है
किसी डाल पर 'करमा' का गीत
नहीं सुनाई पड़ता है अब
बारिश की बूँदों का वह
पत्तियों से झरता हुआ संगीत
नहीं है 'टोकी' में अब
'पियार'[11] और 'पिठोर'[12] की मिठास
न 'खुखड़ी'[13] न 'रूगड़ा'[14]

न घोंघी और केकड़ा
नहीं बुझती अब प्यास
'कादो'[15] हो गया है
डाड़ी[16] और चुआं का पानी

संगी रे –
न जाने कौन से देश उड़े
क्षितिज के पार वे
हरे खेतों में विचरते बगुले
नहीं खेलती झूमर अब
'डोभा'[17] के पानी में
'गीतू' और 'बुदु' मछलियाँ
फँसने लगे हैं क्यों
'कुमनी'[18] में
ढ़ोंढ़[19] बहुत दुमुँहे ?
और बार-बार फिसलने लगी है क्यों
हथेलियों से जिन्दगी यहाँ
मांगुर की तरह?
हे संगी!
क्यों घूमते हो
झुलाते हुए खाली गुलेल
जंगल-पहाड़, नदी-ढ़ोढ़ा[20]
तुम्हारी गुलेल का गोढ़ा[21]
डूबते हुए लाल सूरज की तरह
अटक गया है
टहनी में
क्या तुम्हें अपनी धरती की
सेंधमारी सुनाई नहीं दे रही?
क्या अब भी निहारते हो
अपने को
दामोदर और स्वर्ण रेखा के
काले जल में ?
किसने की है चोरी
भिनसरिया में ढेंकी के संगीत की
और उखाड़ी है किसने
'आजी'[22] के जाता[23] की कील ?

'पुटुस'[24] तक को
उखाड़ कर ले जाएँगे लोग
और तब
तुम खोजोगे उसकी बची हुई जड़ों में
अपना झारखंड
हंड़िया और दारू से सींच कर
क्या किसी ने उगाया है –
कोई जंगल ?

हे संगी !
तानो अपना तरकस
नहीं हुआ है भोथरा अब तक
'बिरसा आबा का तीर'
कस कर थामो
टहनी पर अटके हुए
सूरज के लाल 'गोढ़ा' को
गला दो अपनी हथेलियों की
गर्मी से
और फैला दो झारखंड की
फुनगियों पर
भिनसरिया में उजास
चटकने से पहले
बेध डालो
हाँ, बेध डालो
दामोदर और स्वर्ण रेखा को
काली नागिन बनने से पहले
कि देख सको तुम
उसके निर्मल जल में
सिर्फ़
मछली की आँख
अर्जुन की तरह

और अगर
अब भी तुम्हारे हाथों की
अँगुलियाँ थरथराईं
तो जान लो
मैं बनूँगी एक बार और
'सिनगी दई'[25]

बाँधूँगी फेटा
और कसेगी फिर से
'बेतरा'[26] की गाँठ
नहीं छुपेगी अब
किसी ग्वालिन[27] की कोई साठ-गाँठ

सच !!
बहुत ज़रूरत है झारखंड में
फिर एक बार
एक जबरदस्त
जनी-शिकार।

....

1. महुआ = जंगली फल।
2. डोरी = महुआ का बीज।
3. गूलर = जंगली फल।
4. केयोंद = जंगली फल।
5. संधना = करील।
6. सखुआ = शाल का वृक्ष।
7. अखरा = नाचने का स्थल।
8. तोलोंग = पुरुषों का कमर में बाँधने का पट्टा जो आगे-पीछे झूलता है।
9. अंगनई = एक प्रकार का आदिवासी राग।
10. डमकच = एक प्रकार का आदिवासी राग।
11. पियार = जंगली फल जो ग्रीष्मकाल में होते हैं।
12. पिठोर = जंगली फल जो ग्रीष्मकाल में होते हैं।
13. खुखड़ी = मशरूम या खुम्बे जिसे छोटा नागपुर में फुटका या पुट्टु भी कहते हैं।
14. रूगड़ा = मशरूम या खुम्बे जिसे छोटा नागपुर में फुटका या पुट्टु भी कहते हैं।
15. कादो = कीचड़।
16. डाड़ी = एक प्रकार का उपला कुँआ।
17. डोभा = ऊपर के खेत का पानी, जो निचले खेत में गिरता है, को डोभा कहते हैं।
18. कुमनी = बाँस का लम्बा-सा ढाँचा जिससे धनखेत में मछली फँसायी जाती है।
19. ढ़ोंढ़ = पानी का साँप।
20. ढ़ोढ़ा = नाला।
21. गुलेल का गोढ़ा = गुलेल से फेंके जाने वाला पत्थर।

22. आजी = दादी ।
23. जाता = चक्की ।
24. पुटुस = जंगली झाड़ी जो छोटा नागपुर के पठारी इलाके में पायी जाती है ।
25. सिनगी दई = एक आदिवासी महिला नेत्री जिनके नेतृत्व में रोहतासगढ़ के रक्षार्थ आदिवासी महिलाओं ने लड़ाई लड़ी थी । तभी से जनी-शिकार की परम्परा आदिवासी महिलाओं में चली आ रही है जिसके तहत वे मर्दों के कपड़े पहनकर शिकार करने निकलती हैं ।
26. बेतरा = बच्चे को पीठ पर बाँधने वाला कपड़ा ।
27. ग्वालिन = एक ग्वालिन ने शत्रुओं को बताया था कि सिनगी दई और उसकी सेना स्त्रियों की है । इसके बाद ही आदिवासी सेना को आक्रमणकारियों ने हराया था ।

* * *

(2)

कलम को तीर होने दो

शाखें हो गईं कमान सब कोंपल तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

उगल रही धरती आग है
धुँआ हमने पीया है
बूँद-बूँद को तरसे लोग
बूँद बहा कर जीया है
नदियाँ हो गईं कमान सब पर्वत तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

वे लूटने-लुटाने आए
हम गए परदेश
धरती उजड़ी जंगल उजड़े
रह गया क्या शेष ?
झाड़ियाँ हो गईं कमान सब बिरवे तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

कोयले की धूल में सोए हैं पाँव
काँधों पे अपने ही
ढोए हैं गाँव
देह हो गई कमान सब आहें तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

ईंटों के भट्टों में
सीझ गई जिंदगी
रोटी की खोज में कहाँ नहीं भागी
बाँहें हो गईं कमान सब अँगुलियाँ तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

अंगनई और डमकच
हवा में नहीं बोल रहा
भूख है शहर गाँवों को लील रहा
गलियाँ हो गईं कमान सब आँगन तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

क्या कर लेंगी उनका
बंदूक औरगोलियाँ
लाँघते ही देहरी
हजारों कहानियाँ
नस-नस हो गई कमान सब लहू तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो

* * *

(3)

हे समय के पहरेदारो !

पर्वतों की फिज़ाओं से
आती आवाज़ों को
कभी सुना है तुमने
जिनकी गुफाओं में
प्रकृति सोती है
जहाँ कंदराओं में
हवाएँ झूलती हैं
खामोश है जहाँ
ऋषि-मुनियों की
मौन भाषाएँ
और जुड़ी हैं
वन-प्रांतर की
अनेक कथाएँ
जिनकी तराइयों में
बहती है जीवन की
कई धाराएँ
क्या तुमने कभी देखा है
पर्वत को रोते ?
क्या कभी सुनी है
उसके हृदय की आवाज़
क्या कभी देखा है
उसका टुकड़े-टुकड़े होकर
बिखर जाना ?

इसके बावजूद
देखी होगी तुमने
उसके हृदय की
निर्मल धारा
सुनी होगी उसकी
जल तरंग
जिस नदिया के किनारे
तुमने बजाई होगी
अपनी राधा के लिए
सौतन बाँसुरिया

जिसकी डगरिया पर
फोड़ी होगी उसकी गगरिया
आज तुम
अपने ही स्वार्थ के लिए
पर्वतों के पत्थर
तोड़ रहे हो
बारूदी गंध से
जीवन को मरोड़ रहे हो
क्या कभी नदिया
लौट कर पूछेगी
अपने खंडहर होते
पर्वतों से –
कि कहाँ गया
उनका उद्गम ?
कहाँ गया उनका वैभव ?

तब पर्वत रोएगा
सूख जाएँगी उसकी धाराएँ
न किसी मोहन की बाँसुरी
तड़पेगी नदी किनारे
अपनी राधा के लिए
और न फूटेगी
कोई गगरी
न कोई पकड़ेगा
गाँव का बालक
नदी के रेत में
'टेंगरा' और 'गीतू' मछरी

एक बूँद पानी के लिए
तड़प-तड़प जाएँगी
हमारी पीढ़ियाँ
इसलिए
मैं सच कहती हूँ
हे समय के पहरेदारो !
तुमने अवश्य सुना होगा
एक वृक्ष की जगह
लगाओ दूसरा वृक्ष
क्या कभी सुना है

एक पर्वत के बदले
उगाओ दूसरा पर्वत

करोड़ों साल में बने
इन पर्वतों को
तुम्हारे बारूदी मन ने
फिर-फिर तोड़ा है
और कुँवारी हवाओं को
हर बार छेड़ा है –
जिसके धूल-कणों ने
तुम्हें तो मुँह छुपाना
भी नहीं आता
शायद इसलिए
उगा रहे हो धूल
छुपाने के लिए मुँह
शुतुरमुर्ग की तरह

इसीलिए फिर कहती हूँ
न छेड़ो प्रकृति को
अन्यथा यही प्रकृति
एक दिन
माँगेगी
हमसे
तुमसे
अपनी तरुणाई का
एक-एक क्षण
और करेगी
भयंकर ..... बगावत
और तब
न तुम होगे
न हम होंगे !

❖❖❖

एक ज़मीन अपनी

– चित्रा मुद्गल

एक

वह ठिठक गई – क्यारियों की चौड़ी मेड़ से एकदम सटकर, धनुषाकार हो।

जब भी 'रंगोली' आती है, उसके प्रवेश-द्वार के दोनों ओर चुने हुए गोटों और चट्टानों की सांधों में दुबकी-सी झाँकती कैक्ट्स की दुर्लभ प्रजातियाँ उसे मोहपाश में ही नहीं जकड़ लेतीं, बेईमान हो उठने को भी उकसाती हैं कि वह उनमें से किसी भी पौधे को पुतले-से जड़ खड़े दरबान की आँख बचाकर, फुर्ती से उखाड़ ले और अपने पर्स में छिपा ले ...

"उधर, उस कोने में चलते हैं।" उसने मेहता को इंगित कर तेजी से उस ओर बढ़ चलने का संकेत किया। इससे पहले कि अन्य कोई उस मेज को धाँपता, वह मेज पर पहुँच जाना चाहती थी। मनपसंद रेस्तरां में अगर मन मुताबिक बैठने की जगह न मिले तो वहाँ आना उसे व्यर्थ-सा महसूस होने लगता। अन्य खाली मेजों के बावजूद वह पलट पड़ती – "कहीं और चलकर बैठते हैं ... "

उन्हें पलटते देख मुख्य वेटर हड़बड़ाया हुआ-सा पास आकर पूछने लगता, "कोई गलती हो गई, सर ..?"

"मैडम की तबियत जरा गड़बड़ लग रही है।" मेहता खिसियाया-सा ऐसा ही कोई बहाना उछाल देता। अंकिता की यह आदत उसे सख़्त नागवार गुजरती और सनक की हद तक बचकाना।

"तुम जगह खाती हो या खाना ... ?"

"तीनों।"

"तीसरा ?"

"साथ !" बगैर उसकी खीझ की परवाह किए, अपनी बात चाबुक-सी हवा में लहरा देती वह, "मेहता ! जगह, साथ, खाना – तीनों ही समान महत्त्व रखते हैं मेरे लिए।"

यानी बहस फिजूल है ! आपके अच्छा लगने, न लगने की बात भी। आना है तो ऐसे ही आना होगा और इन्हीं शर्तों पर मित्रता भी निभानी होगी ! वरना न साथ आने की ज़रूरत है, न खाने की। इतने शुष्क, असम्बन्धित कटाक्ष से मेहता गहरे कटकर रह जाता है, लेकिन अकसर उसने अपने से उबरकर अंकिता के विषय में सोचने की कोशिश की है और पाया है कि स्निग्धता के कवच के भीतर कहीं कुछ इतना अधिक छिपा है उसमें कि वह छोटी-छोटी चाहनाओं को लेकर दुराग्रह की हद तक हठीली हो उठती है।

"हाय, अंकिता ... "

यहाँ कौन ? उसी को तो पुकारा गया है !

विस्मित दृष्टि इधर-उधर दौड़ाई तो ठीक अपने दाहिनी ओर 'आब्जर्वेशन एडवरटाइजिंग' के मुख्य कार्यकारी अधिकारी मि० मैथ्यू को खड़ा पा वह अप्रत्याशित ख़ुशी से छलक आई। लेकिन दूसरे ही क्षण पता नहीं क्या हुआ कि उत्साह अचानक हाथ से छूटे गिलास-सा चूर-चूर हो गया। बड़े बेमन से प्रत्युत्तर में उसने हाथ ऊपर उठा दिया, "हायऽ ... !"

तनिक आगे बढ़ गए मेहता ने उसकी 'हाय' पर पलटकर देखा तो सुखद अचरज से भरकर फुर्ती से उनकी ओर लौट आया।

लगभग मिनट-भर तक गर्मजेशी से हाथ मिलाते रहने के उपरान्त मि० मैथ्यू को सहसा अपने साथ आई, निकट खड़ी सुप्रसिद्ध मॉडल अलका गिरिराज का ख़याल आया। क्षमा-याचना करते हुए उसने बड़ी मृदुता से उससे परिचय की औपचारिकता निभाई, "अलका, अंकिता फ्रॉम फिल्मरस ... मेहता फ्रॉम फिल्मरस टू ... "

"हाय !" उसकी सुपरिचित मुसकान के प्रत्युत्तर में अलका ने बेहद ठंडे अपरिचित स्मित के साथ उसकी ओर देखा जैसे कि वह अंकिता से पहली बार मिल रही हो और बावजूद इसके उसे उससे मिलने में कतई दिलचस्पी न हो।

अलका के इस अप्रत्याशित व्यवहार से आहत नहीं हुई अंकिता। जानती है कि दोष अलका का नहीं है, उसकी प्रसिद्धि का है, जिसकी फुनगी पर चढ़कर अकसर लोगों की स्मरणशक्ति कमजोर हो जाती है और दृष्टि क्षीण।

* * *

"कैसी बातें कर रही हो !"

मैथ्यू का स्वर अविश्वास से फुसफुसा आया।

अगले ही क्षण वह सतर्क भाव से गलतफहमी बुहारता-सा बोला, "देखो अंकिता ! टकरा गए वाली लीपा-पोती यह नहीं है। मैंने तुम्हें देखते ही पुकारा ... अगर तुमसे मिलना न चाहता तो कतराकर निकल गया होता ... तुम्हें क्या पता चलता कि ... खैर, छोड़ो ... सच तो यह है कि मुझे तुम्हारे फोन की कोई सूचना नहीं मिली ... रहा उस सेक्रेटरी का रवैया, उसकी तो एजेंसी से छुट्टी हो गई – वह एक अलग पचड़ा है ... कम घपले नहीं किए उसने ... हाँ, तुम्हारी दोस्त नीता ने ही मुझे यह सूचना दी थी कि फिलहाल तुमबम्बई नहीं लौट रहीं ... किसी व्यक्तिगत समस्या के चलते ... फिर नीता ने ही प्रस्ताव रखा था – 'अगर आपको कोई आपत्ति थी न हो तो

अंकिता का काम मैं आगे भी देखती रह सकती हूँ !' वह तुम्हारी दोस्त थी; मुझे उसे रखने में भला क्या आपत्ति हो सकती थी ? काम वह बखूबी जानती ही है ... "

अविश्वास और विस्मय से वह अस्थिर हो गई। वह तो अब तक इसी प्रभाव में थी कि मैथ्यू का फोन पर उपलब्ध न होने का मतलब है, उसके लिए एजेंसी में – 'प्रवेश निषिद्ध' । यह मैथ्यू क्या कह रहा है ! नीता ने यह झूठ क्यों गढ़ा, जबकि वह निर्धारित प्रोग्राम के अनुसार ही बम्बई लौट आई थी और आते ही सबसे पहले नीता से ही मिली थी ?

* * *

अलका की कहाँ ले बैठी ? माना कि साल-भर पहले तक अलका के साथ उसका अच्छा उठना-बैठना था, पर मानसिक रूप से वह उससे इस कदर जुड़ी भी नहीं रही कि उसके आज के ये नक्शे उसे अस्त-व्यस्त कर जाएँ। लगे कि अचानक उससे उसका कुछ छिन गया है या छीन लिया गया है और वह एकाएक दरिद्र हो उठी है।

मगर नीता ! ...

नीता से उसे ऐसे दोगले व्यवहार की उम्मीद सपने में भी नहीं थी। एक भरोसा होता है जो अचानक बीज से फुटकर, अंकुआता हुआ, टहनियों में फलने-फूलने लगता है । आखिर मैथ्यू झूठ क्यों बोलेगा ? मैथ्यू के निःसंकोच व्यवहार से राई-रत्ती आभास नहीं हुआ कि वह उससे झूठ बोलने की कोशिश कर रहा है या अपनी कुटिलता पर परदा डालने की ख़ातिर नीता को लपेट रहा है ! कोई चालाकी होती तो क्या वह उसी पुरानी बेतकल्लुफी से उसका सामना कर पाता ? बहुत बड़े पद पर है मैथ्यू। न उससे रोब खाने का सवाल उठता है, न संकोच-लिहाज का। सीधे छुट्टी कर सकता था उसकी – 'आई एम सॉरी, अंकिता ! मेरे यहाँ अब तुम्हारे लिए कोई काम नहीं है ...'

काश ! ऐसा कुछ घट जाता। वह कुछ दिनों रो-बिसूरकर तनाव-मुक्त हो जाती। यन्त्रणा की चक्की में तो न पिसती रहती निरन्तर।

तलुवों के नीचे से उठा सर्द सुन्नाहट का बवण्डर पिंडलियों से रेंगता हुआ अचानक बिच्छू के विष-सा पूरी देह में चुनचुनाने लगा। उसका पोर-पोर अपना न होने के एहसास से टूट रहा है ... कोई नियन्त्रण नहीं ... अब गिरी ... अब ... घबराकर उसने मेहता की बाँह पकड़ ली।

अप्रत्याशित !

* * *

सिर्फ़ बीस-पच्चीस रोज के लिए वह अपने घर इंदौर गई थी और मि० मैथ्यू से प्रार्थना कर गई थी कि जब तक वह शहर से बाहर है, नीता उसके हिस्से का कामकाज देख लिया करेगी। इस व्यवस्था में कोई विशेष अड़चन भी नहीं थी। अकसर नीता के छुट्टी जाने पर वही पूरी जिम्मेदारी से उसके हिस्से का काम सँभालती थी। चूँकि मामला दूसरी एजेंसी का था, अत: इस व्यवस्था के लिए मैथ्यू की सहमति नितान्त आवश्यक थी। गरज इतनी थी कि उसके हाथों से 'ऑब्जर्वेशन एडवरटाइजिंग' का काम निकलने न पाए।

* * *

अब जो यह अंकिता है, उससे सुधांशु नाम के किसी पुरुष का कोई वास्ता नहीं ... उस सुधांशु से, जो ब्याह से पहले प्रशिक्षण के लिए जाते हुए उसे छिहत्तर पता-लिखे लिफाफे थमा गया था और उन ख़तों की ख़ुशबू जवान भी नहीं होने पाई थी कि असमय दम तोड़ बैठी।

मुश्किल से तीन साल साथ रह पाए वे ... उसे पहली बार यह एहसास हुआ था कि कुछ लोग दूर से ही अच्छे लगते हैं, अच्छे होते हैं – हरियाली के बीच गुँथे पोखर-से, जिसका सड़ा हुआ पानी गले से नीचे उतरते ही विष बनकर शिराओं को सुन्न कर देता है।

'तुम मामूली औरत ... क्या है तुममें ? सिवा तराशी देह के ? और मैं सिर्फ़ तराशे शरीर के साथ नहीं रह सकता ... पुरुष को इससे आगे भी कुछ चाहिए होता है। महज शरीर पाने के लिए उसे घर में औरत पालने की ज़रूरत नहीं होती ...'

कौन-सी, कैसी अपेक्षाएँ थीं सुधांशु की उससे?

* * *

वह क्षुब्ध हो दीवार पर अपना माथा पटक बैठी थी और भयंकर तनाव के क्षणों में विक्षिप्त-सी हो अकसर पटकने लगी थी। दीवारें तो उसकी छटपटाहट से बेअसर रहीं, अलबत्ता अड़ोस-पड़ोस में उसे अवश्य बहाने गढ़ने पड़े थे – 'बाथरूम घिसते हुए पाँव रपट गया ...' 'कमजोरी से चक्कर आ गया ...'

सुधांशु ने कहा था, 'अच्छा हुआ जो हमारा बच्चा जीवित नहीं रहा, नहीं तो ताउम्र वह मुझे तुमसे जोड़े रहता ... कुरेदता रहता कि तुम मेरे बच्चे की माँ हो ... मेरे पहले बच्चे की ...'

क्रोध में आकर उसने सँजोकर रखे गए छोटे-छोटे झबलों और लंगोटियों को निर्ममता से स्टोव के सुलगते बर्नर पर रख दिया था – 'मेरे लिए भी उसका मरना मेरी ज़िंदगी से तुम्हारा निष्कासन है ... वरना उसकी शक्ल में ज़िंदगी-भर मुझे तुमको ढोना पड़ता ... क्योंकि वह हमारा बच्चा नहीं था ... तुम्हारी कामुकता का परिणाम था... मुझे तुमसे घृणा है ... घृणा ... तुम्हारी ऐयाशियों और ज्यादतियों को सती-साध्वी बनी, मांग में सजाए झेलती

जाना ... इस मुगालते में रहना कि मैं स्त्रीत्व की पूर्णता का भ्रम जीती रहूँगी – लो, इसी वक्त यह रिश्ता खत्म !' उसने अपनी कलाइयों की चूड़ियाँ झन्न से फर्श पर उछाल दी थीं और पैरों के बिछुए लोढ़े से कुचल दिए थे।

* * *

वह मैथ्यू के पास नहीं गई थी। और अब जाएगी भी नहीं उसे नहीं याद पड़ता कि उसने कभी अपने काम में कोई कोताही बरती हो। फिर उसका दोष ?

अवहेलना तो उसने सुधांशु की भी बरदाश्तनहीं की थी ...

मगर ... अरसे बाद मैथ्यू से हुई आकस्मिक भेंट ने उसके सारे भ्रम तोड़कर जिस कुरूप सत्य को उद्घाटित किया है, सुनकर वह हत्प्रभ है ... क्या वह विचारशून्य है ? या उसके सोचने-समझने-परखने की क्षमता कुण्ठित और अपरिपक्व है ? क्या वह अति भावुक है या हीनत्व से पीड़ित ? कि सुधांशु से तिरस्कृत, प्रताड़ित, क्षुब्ध-मन किसी की मामूली-सी भी सहानुभूति या सौहार्दपूर्ण व्यवहार से उसे अपना समझने की भूल कर बैठता है ? ऐसा नहीं है तो जिस किसी व्यक्ति के सन्दर्भ में वह अपनी आत्मीय राय कायम ही नहीं करती, उस राय को पूरी अन्तरंगता और सघनता से जीवन में जीने क्यों लगती है – टूटती क्यों है ? छली क्यों जाती है ?

यही नीता है, विभाग में जब वह नई-नई आई थी तो सहकर्मियों ने उसे आगाह किया था – 'बड़ी कुत्ती चीज है, दूर रहना इससे।' कई किस्से, कई अफवाह उसके कानों में खुसफुसाई थीं कि एक समय वह छैला बॉस मि० गुहा की सूची में खासा ऊँचा नंबर रखती थी। बॉस अब भी बासी चीजों के शौकीन हैं और उन्हें इज्जत बख़्शना उनका मिजाज है और उनके मिजाज को कैसे भुनाना चाहिए, इस गुर में नीता माहिर है; कि मिस अंजू कृपलानी के विरुद्ध बॉस के कान फूँक इसी कमीनी ने उसे पक्की नौकरी से बरखास्त करवाया था – इस खुन्नस पर कि वह पूरे विभाग को बॉस के संग उसकी संदिग्ध गतिविधियों की गरमागरम खबरेंपरोसा करती थी ... लेकिन उसे नीता के सम्बन्ध में ये छिछोरी टिप्पणियाँ कार्यालयी विद्वेष का परिणाम लगी थीं। उसकी मान्यता थी कि अकसर बिंदास व्यक्तित्व अपने खुले चाल-चलन को लेकर सामान्य जन में आलोचना का विषय बनते रहते हैं। नीता उसे ऐसा ही अलमस्त व्यक्तित्व महसूस हुई थी। कुछ लोगों की चुटकी पर तो उसने भिन्नाकर जवाब दे मारा था कि जब वह 'बॉस' की लिस्ट में खासी धाक रखती थी तो अब तक अपनी नौकरी पक्की क्यों नहीं करवा पायी ...

* * *

नीता ने ठीक ही समझा था। उसके ही क्या, किसी के भी व्यक्तिगत मामले में न उसे दिलचस्पी थी, न उत्सुकता। न अन्तरंगता की यह शर्त ही लगती रही कि बिना अतीत बाँटे या वर्तमान का साझीदार बनाए मित्रता सम्भव नहीं। कारण कि वह स्वयं अपनी ज़िंदगी में न किसी की दिलचस्पी बरदाश्त कर पाती है, न खुफिया ताक-झाँक, न बेवजह टीका-टिप्पणी, न बिन माँगे सलाह-मशविरा ... मेहता और नीता के मुताबिक – वह जितनी

बुद्धिमान् है उतनी ही शिष्ट, सलीकेदार, समझदार और संवेदनशील भी। उसकी प्रकृति जैसा संतुलन बहुत कम व्यक्तियों में दृष्टिगत होता है। नीता ने तो यहाँ तक कहना शुरू कर दिया था कि वह एक ऐसा लॉकर है; जहाँ सब कुछ उगलकर निश्चिन्त हुआ जा सकता है। अपने व्यक्तित्व पर की गई ये टिप्पणियाँ अंकिता को न जाने कितना सम्बल सौंपती रहीं उसके संघर्ष की धार तीक्ष्ण करती हुई। साथ ही यह एहसास भी पुख्ता होता रहा कि कोई एक व्यक्ति न ज़िंदगी का अन्तिम पड़ाव होता है, न पर्याय ...

वही नीता ... कैसे खेल पाई इतना बड़ा छल उसके साथ !

*   *   *

पिछली रात तीन बजे तक आँखें दिन की-सी चैतन्यता से भी झपकने को तैयार ही नहीं हुईं ! कुछ नहीं सूझा तो बॉलकनी में सजे गमलों की कतारों से उलझ गोड़ाई-निराई में जुट गई। हालांकि जानती थी और मानती भी रही है कि रात में पेड़-पौधों को कदापि नहीं छेड़ना चाहिए। वे सो रहे होते हैं। पर न जाने कैसी तसल्ली हुई थी कि अब वह अकेली नहीं जग रही। गुलदाउदी, करोटन, सेवंती, गुलाब, जुही और ऊँचा हो रहा रबड़ का पौधा – सभी उसके संग जग रहे हैं...

लेकिन कब तक वह जगती और उन्हें जगाए रखती ! मेज की दराज में ठुँसे, दवाइयों के तमाम पुराने पत्तों में से उसने नींद की इकलौती गोली खोज निकाली थी और उसके खत्म होने की तारीख पढ़ने की असफल चेष्टा करते हुए अन्ततः निगल ली थी। निगलते ही उसने महसूस करने की कोशिश की थी कि उसने नींद की गोली नहीं, एक अदद राहत निगली है और निश्चित ही अब वह निश्चिन्त नींद सो सकेगी। इस बात पर तनिक खीझ भी हुई कि अब तक उसे गोली का ख़याल क्यों नहीं आया ? लेकिन गोली शायद पुरानी थी और उसका असर सम्भवतः अपना मिजाज खो चुका था।

क्या उसे कभी अच्छी और पक्की नौकरी नहीं मिल पाएगी ? कब तक वह बतौर फ्रीलांसर गुजारा करती रहेगी ? गुजारा जो हो नहीं पाता, करना पड़ता है। जबकि खासी मदद उसे घर से मिलती रहती है। तकरीबन महीनों का राशन-पानी अम्मा और रीना उसके मना करते-करते भी इसी बहाने साथ गँठिया देती हैं कि बम्बई जैसे किल्लती शहर में इतनी शुद्ध चीजें उसे कहाँ और कैसे मिलेंगी ?

आखिर इतने बड़े शहर में उसका भविष्य क्या है ! अम्मा अकसर उसे झिड़कती रहती हैं कि वह घर-परिवार से छिटकी पड़ी तकलीफें क्यों झेल रही है ? नौकरी का क्या, देर-सवेर यहाँ भी जुगाड़ हो ही जाएगा। तेरे बाबू के पढ़ाए न जाने कितने ही लोग ऊँची-ऊँची पहुँच में हैं और आज भी उनका अहसान मानते नहीं थकते। पचासों बार आग्रह कर चुके हैं कि उनके लायक कोई सेवा हो तो मैं बेहिचक कह दूँ। बिंदादीन कुलश्रेष्ठ को तेरे बाबू ने ही बी.ए. में संस्कृत पढ़ाई थी। रेडियो में वो आजकल स्टेशन डायरेक्टर होकर आया हुआ है। बड़ा नेक लड़का है। मिलने आया था तो संग झबा-भर के फल-मेवे साथ लाया था। तू अपना मन बनाए तो मैं उससे तेरी नौकरी की बात कर सकती हूँ, संकोच कैसा !

अम्मा की दलीलों ने उसे बहुत फुसलाया, मगर उसे यही लगता रहा है ... और बराबर लगता रहता है कि और चाहे जो भी तकलीफें हों, यह शहर आपको जानने में विशेष दिलचस्पी नहीं रखता। आप चाहे जिस रूप में रहें, उसे न आपसे कोई सरोकार है, न आपत्ति ! मगर उस शहर को – जो उसका अपना जन्मस्थान है – उसके हर व्यक्तिगत से लेना-देना है और ऐसे खुरचते अपनत्व में वह जी नहीं सकती, जिसमें जीना छाती पर निरन्तर धँस रही बल्लम की नोक-सा यह एहसास देता हो कि इर्द-गिर्द बिछी हर नज़र उसे देख ही नहीं रही, बदन से कपड़े खींच रही है ...

* * *

मेहता को उसे उसकी उखड़ी मनःस्थिति का पूर्णतः आभास है, तभी वह स्वयं उसे कॉपी बनाने में मदद करने को इच्छुक प्रतीत हो रहा है। फिर भी यह सम्भव नहीं। अपना काम वह स्वयं ही निपटाएगी। काम को लेकर किसी पर निर्भर होना उसे पसंद नहीं। छुट्टी पर गई हो तो बात और है। चलो, इतना कर सकती है कि कॉपी बना डालने के बाद अगर संतुष्ट नहीं हुई तो मेहता की मदद ले लेगी। मित्र है। दक्ष है। भाषा को लेकर जब भी मेहता को अड़चन हुई है, उससे परामर्श करने में उसने कोई संकोच नहीं किया, फिर वह क्यों ऊहापोह में गर्क होती है ? उससे मदद लेने का अर्थ यह तो नहीं कि वह अक्षम है ...

मेहता उसके रूखे जवाब से अनायास उदास हो आया। इस लड़की को कभी समझ भी पाएगा या नहीं।

मेहता की खिन्नता छिपी नहीं रह सकी। स्वाभाविक है, हर वक्त दूसरों पर अपने को आरोपित करने जैसी हरकतें नहीं होतीं उसकी। एक तो कोई आपकी चिन्ता करे और आप हैं कि आपका मिजाज ही नहीं मिल रहा ! अपने और मेहता के बीच सहज स्थिति कायम करने की गरज से उसने 'एडवरटाइजिंग क्लब' की उस बैठक के विषय में जानना चाहा जो कल दोपहर और रात में 'काकटेल' पार्टी के रूप में अंबेसडर में होने वाली थी और जिसमें विज्ञापन की दुनिया के सुविज्ञ और अनेक भाषा-भाषी कॉपीराइटर सम्मिलित हो रहे थे। बैठक में विशेष रूप से यह मुद्दा उठाया जाने वाला था कि विज्ञापनों को जो मूलतः अंग्रेजी में लिखे जाने की परम्परा बनी हुई है, समाप्त होनी चाहिए, क्योंकि अंग्रेजी से तैयार की गई कॉपियाँ मात्र अनुवाद बनकर रह जाती हैं। उसमें प्रान्तीय भाषाओं की निजी ख़ुशबू, सोंधापन, अपने मुहावरे और अभिव्यक्ति का भाषाई अंदाज पैदा नहीं हो पाता। अतः हर भाषा के कॉपीराइटर को उसकी अपनी भाषा में स्वतन्त्र रूप से विज्ञापन तैयार करने की सुविधा होनी चाहिए।

* * *

नीता सहसा होंठों पर आई किसी बात को भींचती हुई-सी दुविधाग्रस्त हो उठी।

कुछ पल खामोशी में डूब गए। फिर जैसे उबरकर, स्वयं को संकोच-मुक्त करती बोली, "अब छिपाने से कोई फायदा नहीं। तुम्हारे जाते ही एक दिन उसने मुझे केबिन में बुलाया और पूछा कि तुम इंदौर से कब तक वापस लौट रही हो। मेरे बताने पर कुछ क्षण वह विचारमग्नता का ढोंग बनाए बैठा रहा, फिर बोला – 'एक समस्या है,

निजी तौर पर तुमसे बाँटना चाहता हूँ ... अंकिता को मैं एजेंसी से निकालने के लिए बाध्य हूँ ... संशय नहीं कि वह बड़ी अच्छी कॉपी-लेखक है और शी हैज डन ट्रेमेंडस जॉब फॉर अस ... लेकिन हमें कार्यकुशल एक चुस्त लड़की की ज़रूरत है – छुई-मई की नहीं।' "

पल-भर रुककर अचानक अपनी बात अधूरी छोड़ नीता ने झिझकते हुए प्रश्न किया, "तुम 'ऑब्जर्वेशन एडवरटाइजिंग' की किसी पार्टी में सम्मिलित हुई थीं ?"

उसने उत्तर में उसे गुलाबी अनिश्चित दृष्टि से देखा।

"न्यू ईयर ईव पर ... ओबेराय में ?"

"हूं ।" उसे याद आ गया।

"पार्टी में मैथ्यू ने तुम्हें एक महत्त्वपूर्ण क्लाइंट मि० सक्सेना से मिलवाया था ? लिली प्रेशरकुकर वाले ?"

"हूं ।" उसकी चू रही आँखों में ढेर-से प्रश्न झिलमिलाए।

"मि० सक्सेना ने पार्टी में तुमसे कोई बदतमीजी की थी और तुमने सभी के सामने उसका हाथ झटककर उसे अपमानित किया था कि 'मि० सक्सेना, दिस शोल्डर बिलांग्स टू मी... अपना हाथ जगह पर रखेंगे या मैं उसे जगह बताऊँ ?' "

"ओह !" वह घृणा और वितृष्णा से एकाएक तिलमिला आई, "वह सूअर का बच्चा सक्सेना ... आठ-नौ पेग्स् उसके गले उतर चुके थे और उसके हाथ-पाँव अपने वश में नहीं थे। उसने कन्धे पर ही हाथ नहीं रखा था ... पार्टी की बात थी ... वरना वहीं चप्पल उतार लेती ... वह भी सीख जाता कि पार्टियों में लड़कियाँ बिकने नहीं आतीं, आती हैं तो उनके साथ कैसा सुलूक करना चाहिए ... मगर शराफत का घूँट पीकर रह गई, क्योंकि ऐसी जगह पर भर्त्सना करना उसे नंगा करना नहीं होता ... अलबत्ता अपने कपड़े ज़रूर उतर जाते ... मैंने मैथ्यू से उसकी शिकायत की थी ..."

"उसने भी मैथ्यू से तुम्हारी हिमाकत बयान की थी और इस घटना को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था कि कैसी-कैसी बेशऊर लड़कियाँ भर लेते हो तुम अपनी एजेंसी में, जिन्हें सोसाइटी में उठने-बैठने तक की तमीज नहीं और प्रतिक्रिया के कुछ ही समय के भीतर उसने 'आब्जर्वेशन एडवरटाइज़िंग' से अपना खाता वापस ले लिया था। हफ्ते-भर तक मैथ्यू ब्लडप्रेशर में पड़ा रहा। सक्सेना उसकी एजेंसी का सबसे बड़ा खाता था। घटना के तत्काल बाद ही तुम इंदौर चली गयीं। तुम सामने होतीं तब भी उसे तो तुम्हें निकालना ही था। तरीका कोई भी होता। तुम चली गयीं तो उसके लिए समस्या आसान हो गई।"

बात कहते-कहते अचानक विद्रूप खिंच आया नीता के चेहरे पर, "मैंने मैथ्यू से कहा था – 'डोंट वरी, मुझे रख लीजिए। मेरे साथ वह वर्जनाएँ नहीं हैं जो अंकिता के साथ हैं।' सच तो यह है, अंकू ! मैं ज़िंदगी में जो कुछ हासिल करना चाहती हूँ, उसे तुम्हारी तर्ज पर चलकर कोई लड़की हासिल नहीं कर सकती ! और तुम्हें क्या लगता है कि तुम्हारी छवि सती-साध्वी की है ? जबकि मैं जानती हूँ कि तुमसे कभी कोई समझौता नहीं हो सकता ... मगर लोगों का मुँह तो बंद नहीं किया जा सकता ? वही लोग, अंकू ! जिन्हें तुम अपने कन्धे पर हाथ नहीं रखने देतीं, न जाने कितनी बार तुम्हें अपना हमबिस्तर बनाने के चटपटे किस्से गढ़कर एक-दूसरे को सुना चुके होंगे। फिर तू ही बता ! इन गधों को उल्लू बनाकर हम क्यों न इनके सिर पर चढ़कर बोलें ? और बताऊँ ? वही बास्टर्ड सक्सेना ... हफ्ते-भर पहले 'सन एंड सन' में टकरा गया था मुझसे और ... और अंकू ! मैथ्यू को उसका पुराना खाता मिल रहा है। अब बताओ, वह मुझे स्थायी पद न देकर अपना क्लाइंट खोना चाहेगा...?"

एकाएक अंकिता कुरसी खिसकाती हुई उठ खड़ी हुई। मेज पर अधूरी कॉफी छोड़।

"मुझे घर पहुँचा दोगी .... ?"

चलते-चलते उसे लगा कि वह तो सँभलकर चल रही है, लेकिन मेज-कुरसियाँ हैं कि आ-आकर उसके घुटनों से टकराती हैं ...

दो

कल बहुत-सी पूर्व-धारणाएँ मिथ्या साबित हुईं। नीता ने उसके साथ कोई कूटनीति नहीं बरती। थोड़ी-बहुत बरती भी, तो तभी जब उसे यह अनुमान हो गया कि स्थिति अब उसके अनुकूल नहीं रही और जब उसके अनुकूल नहीं रही तब उसे अपने हित में इस्तेमाल करके उसने कौन-सा अनर्थ किया ! फिर भी उसे मानसिक ठेस पहुँची। इस बात से अधिक कि प्रतिभा के बावजूद उसको किस कदर मात खानी पड़ रही है पुरुष दुराशय के सामने ! दूसरे, नीता के स्वाभिमानी विद्वान् व्यक्तित्व को लेकर उसकी जो निजी धारणाएँ थीं, खण्डित हो गईं। लोगों की नुक्ताचीनी पर उसने कभी विश्वास नहीं किया, किन्तु नीता ने स्वयं स्वीकारा कि ज़िंदगी में वह जो कुछ भी हासिल करना चाहती है, उसे प्राप्त करने के लिए वह किसी भी सीमा तक जा सकती है। यह स्वाभिमान का कौन-सा जीवन-दर्शन है ! तिलक की टिप्पणी गलत कहाँ है ?

* * *

तिलक को किसी ज़रूरी काम से बड़े साहब मि॰ गुहा ने दस बजे अपने कमरे में बुलाया था। ठीक दस बजे जैसे ही तिलक उनके कमरे में दाखिल हुआ, उसने पाया, मि॰ गुहा की प्रेमिका नं. दो, बाबी ठाकुर – जो उनके साथ पिछले पाँच वर्षों से बिना ब्याह के डंके की चोट पर रह रही थीं – साहब के बहुचर्चित नए अंग्रेजी नाटक की नायिका, सुप्रसिद्ध पॉप गायिका श्रीमती गौरा सुधाकर से गुत्थमगुत्था दिखाई दीं। गौरा सुधाकर के खूबसूरत भूरे बालों को निर्दयता से मुट्ठी में दबोचे बाबी ठाकुर पूरी शक्ति से उन्हें गलीचे पर धराशायी करने की जी-तोड़ कोशिश

कर रही थीं। लगता था, आज अचानक उन्होंने बड़े साहब और गौरा सुधाकर को रंगे हाथों पकड़ने की योजना बनाई थी और वे अपने उद्देश्य में सफल रहीं। इधर लगातार ऐसा होने लगा था कि गौरा सुधाकर या तो बड़े साहब के कार्यालय में दाखिल होते ही उनके कमरे में पहुँच जाया करती थीं या आगे-पीछे। कार्यालय के उपरान्त शेष समय वे रिहर्सल में साथ होतीं और अमूमन रिहर्सल रात बारह-एक से पहले क्या ही खत्म होती ? गलीचे पर नए नाटक 'सिलविया' के कुछ श्वेत-श्याम चित्र, जिनमें गौरा सुधाकर के कुछ साहसिक नग्न चित्र भी थे, कुचले-मुचले पड़े हुए थे, जिन्हें साहब ने पिछले दिनों बड़े शौक से फ्रेम करवाकर अपने कमरे में लगवाया था और उन्हीं चित्रों के आधार पर लोगों ने उन दोनों के मध्य प्रगाढ़ होती अन्तरंगता और बढ़ती प्रेम-पींगों का अनुमान लगाना शुरू कर दिया था।

मि॰ गुहा के विषय में यह मशहूर था कि जब भी कोई लड़की उनकी ज़िंदगी में दाखिल होती, उसके चित्र उनके कमरे की दीवार पर टंग जाते। चाहे वह उनके विज्ञापनों की मॉडल हो या उनके नाटकों की नायिका या शुद्ध प्रेम की परिणिति। विज्ञापन जगत् में ही नहीं, अपितु अंग्रेजी नाटकों की बिरादरी में भी उन दोनों की प्रणयगाथा चर्चा का गरमागरम विषय बन गई थी। एक तो दोनों में आधे से ज़्यादा उम्र का अन्तर, तिस पर यह भी सुनने में आया कि इधर गौराजी अपने चार्टर्ड एकाउंटेंट महाराष्ट्रियन पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर अलग हो रही हैं और उधर मि॰ गुहा ने भी अपने घर में रहना लगभग छोड़ दिया है...

दरअसल इस प्रकारण में वर्तमान अविवाहिता पत्नी बाबी ठाकुर के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया रत्ती-भर भी सहानुभूतिपूर्ण नहीं थी। अधिकांश परिचित और नाटक-प्रेमी इस बात से आनन्दित हो रहे थे कि चलो, सेर को सवा सेर मिला, क्योंकि मि॰ गुहा की पूर्व ब्याहता पत्नी जरीना, जो किसी जमाने में मि॰ गुहा के साथ अंग्रेजी नाटकों में बाकायदा हिस्सा लिया करती थीं और जो मि॰ गुहा के पच्चीस वर्षीय जवान बेटे की जन्मदायिनी माँ भी हैं, बाबी ठाकुर के चलते ही पति द्वारा उपेक्षित और परित्यक्त हुईं। इन दिनों वे अपने गुजारे के लिए हिन्दी फिल्मों में बतौर चरित्र अभिनेत्री काम करने लगी हैं। कहते हैं कि कुछ अरसे पूर्व एक अंग्रेजी दैनिक को दिए गए अपने विवादास्पद साक्षात्कार में उन्होंने बाबी ठाकुर को किसी का बना-बनाया घर उजाड़ने वाली 'गली की कुतिया' ही नहीं कहा, 'छिनाल' और 'रंडी' जैसे विशेषणों से भी विभूषित किया। बाबी ठाकुर को उन्होंने सरेआम चुनौती दी कि वह किसी प्रकार के गुमान में न रहे, उनके नाटक-प्रेमी रसिक पति को मंच पर ही अभिनय करने और करवाने का शौक नहीं है, निजी जीवन में भी वे मँझे हुए अभिनेता हैं। उन्होंने तो अपनी छाती पर एक नहीं, कई-कई सौतें बरदाश्त कीं, फिर भी पति के साथ बनी रहीं। लेकिन जब कोई बाबी ठाकुर के सामने पलंग पर पड़ी गुहा साहब से किलोलें करेगी तब वे भी देखेंगी, उसकी सहनशक्ति और उसका आधुनिक जीवन-दर्शन – कि पति-पत्नी में अगर नहीं पटती तो मात्र दिखावे के लिए मृत सम्बन्धों को ढोने से बेहतर है तत्काल अलग हो जाना। ... कि यह किसी के द्वारा किसी के अधिकारों के शोषण का प्रश्न नहीं है, अपितु जीवन जीने की बुनियादी शर्त है, जिसे हमारे समाज में पूरे साहस के साथ स्वीकार किया जाना चाहिए ...

* * *

अंकिता को तिलक के छद्म व्यक्तित्व से बड़ी चिढ़ होती है और कई दफ़े उसकी तिलक से खासी झड़प भी हुई। लेकिन वह अच्छी तरह जानती है कि चटखारे लेने वाली मनोवृत्ति मात्र तिलक की ही नहीं है। तिलक वस्तुत: उद्दण्ड है, वही कनखोरी से बाज नहीं आता, किन्तु सुनने वाले कम रस लेकर नहीं सुनते ... और भ्रष्ट बोलने वाले की बनिस्बत भ्रष्ट सुनने वाले अधिक ख़तरनाक होते हैं। बोलने वाले से सीधी लड़ाई लड़ी जा सकती है, सुनने वालों से नहीं।

किस्सा सुनकर उसने कोई टिप्पणी नहीं की। जब सभी अखाड़ियों ने बाँहें चढ़ाकर तिलक का हौसला बुलंद किया हो, उसका मौन तिलक को बाजी अनिर्णीत हो जाने वाले मलालों से भर गया।

तिलक के कुछ बोलने से पूर्व किरपेकर ने उसे छेड़ा, "अंय ! स्त्री होकर इस झोंटापछाड़ फ्रीस्टाइल के विषय में आप मौन हैं !"

तिलक को अवसर मिला – "इनसे कुछ मत कहिए, जनाब ! ये फौरन गौरा सुधाकर की पैरवी करने लगेंगी कि बेचारी के साथ बुरा सुलूक हुआ ... या हमें क्या पड़ी है किसी के घर के मामले में टीका-टिप्पणी करने की ? लेकिन मैं इनसे जानना चाहता हूँ कि हमारी यह निरपेक्षता ही तो है तो अगले को शह देती है, कि भई चल, जितनी मन-मरजी तुझे करनी है, कर ! समाज गया तेल ... हमें कोई आपत्ति नहीं ... वह भी ख़ुश, कि उसके आसपास के लोग कितने समझदार और सहिष्णु हैं ... तो उसे तो किसी भी सामाजिक विरोध का सामना नहीं करना पड़ता ... तिरस्कृत होने का भय नहीं सताता ... कैसे रक्षा होगी हमारे नैतिक मूल्यों की ?"

"ठहरिए, ठहरिए !" अंकिता ने बगैर उत्तेजित हुए हाथ उठाकर आपत्ति प्रकट की, "पहले इस बात का जवाब दीजिए – ऐसी गोष्ठियों से क्या हम किसी समाधान पर पहुँच सकते हैं, सिवा चटखारे लेने के ? हमारे विरोध की गुंजाइश है ही कहाँ ? और हो भी तो उसका प्रभाव होगा ? आप क्या समझते हैं कि गौराजी या बाबी ठाकुर पर आपकी प्रतिक्रिया का कोई नैतिक प्रभाव पड़ेगा या पड़ने वाला है ?

"दरअसल गाँवों में जहाँ की कुल जमा-आबादी दस-पन्द्रह घर से अधिक नहीं हुआ करती थी, नैतिकता-अनैतिकता के उनके निर्धारित सर्वमान्य मानदण्ड हुआ करते थे और उन मर्यादाओं को भंग करने वाला व्यक्ति दोषी होता था ... पश्चात्ताप हेतु उसकी शुद्धि होती या हुक्का-पानी बंद कर दिया जाता था। दण्डस्वरूप तिरस्कार या बहिष्कार का उस पर अनुकूल प्रभाव पड़ता, क्योंकि वह समाज से कटकर नितान्त अकेला पड़ जाता।

"परिवर्तित स्थितियों में अब, जब अनुशासन गाँवों में अपनी महत्ता खो बैठा है, तब महानगरों में उसका कोई अपेक्षित प्रभाव सम्भव है, ऐसा सोचना ही अवैज्ञानिक होगा। क्योंकि जहाँ एक साथ करोड़ों लोग रह रहे हों – अलग-अलग जाति-धर्म और समाज के – वहाँ सामूहिकता के जीवन-मूल्य अनेक दबावों के चलते विभाजित हो गए हैं। व्यक्तिपरकता प्रमुख हो गई है। अत: कौन, कहाँ, क्या करता है, उससे किसी को समाज के ह्रास की चिन्ता नहीं सताती। दो-चार लोगों में, जैसे कि आज हम ही इस मुद्दे पर अर्थहीन बहस कर रहे हैं, ये बातें ज़रूर उठती हैं। कुछ में चिन्तास्वरूप, कुछ में समय बिताने के नाम पर शगल के रूप में, तो कुछ में परनिन्दा-

परिचर्चा-सुख भोगने के विचार से। एक पक्ष यह भी है कि इसका बहुत सीधा सम्बन्ध वर्ग-मानसिकता से भी है। समर्थता और सम्पन्नता से भी। संस्कारों से भी। खैर ..." उसने अर्थपूर्ण दृष्टि से तिलक की ओर देखा, "सामाजिक मूल्यों के ह्रास की चिन्ता अगर तिलकजी को इसी तरह सताती है, बेहतर होगा कि वे चिन्ता करना छोड़ दें।"

उसके चुप होते ही किरेपकर ने माइक का स्वांग भरती अपनी मुट्ठी को अपने मुँह के करीब ले जाकर प्रश्न किया, "वो तो समझे, लेकिन कमरे में हुई फ्री-स्टाइल के विषय में आपने अपनी कोई प्रतिक्रिया नहीं दी।"

वह मुसकराई, "जो अविवेक कार्यालय में बाबी ठाकुर ने बरता, वह सरासर अशोभनीय है ... यह समस्या से लड़ने का उचित तरीका भी नहीं है। मुझे तो लगता है कि गौराजी के बजाय, अगर वस्तुत: कोई दोषी है तो स्वयं उनके पति। उन पर अगर आपका वश नहीं चला या नहीं चल पा रहा तो किसी अन्य पक्ष को अपमानित या बदनाम करने का हक आपको नहीं मिल जाता। लड़ाई उन्हीं से लड़ी जानी चाहिए – ऐसे पुरुष जो किसी स्त्री को मात्र जिंस समझते हैं, औरत को स्वयं उन्हें ठुकराकर यह जता देना चाहिए कि वह भी आत्मसम्मान रखती है।"

* * *

तिलक भी उठकर उनके समीप आ खड़ा हुआ।

"बहुत दर्दनाक खबर है ... मेहता की बीवी ... कोकिला ने कल आधी रात फाँसी लगा ली ..."

"क्या ... ! क्या कह रहे हो ?" अविश्वास से सभी की आँखें फट पड़ीं।

"अभी लाश पोस्टमार्टम के लिए सेंट जार्ज अस्पताल गई हुई है ... दो-ढाई के करीब वापस मिल जाने की उम्मीद है ... लाश घर नहीं ले जाएँगे ... अस्पताल से सीधा चर्नी रोड वाले विद्युत शवदाहगृह में ले जाकर जलाएँगे ..."

"फोन किसका था ?"

"मेहता के मामा के लड़के जयंत कापड़िया का ... बेचारा घण्टे-भर से अपनी एजेंसी का नंबर लगा रहा है ..." किरपेकर ने उदास स्वर में बात पूरी की।

सुनकर सभी के जर्द चेहरों पर अवाक् पीड़ा मँडराने लगी।

* * *

अंकिता का हृदय विह्वल हो आया। मन किया कि आगे बढ़कर मेहता की हथेलियाँ बेझिझक अपनी अंजुरी में भरकर थपथपा दे। सम्भवत: एक वही है जो अनुमान लगा सकती है कि मेहता इस समय किस दोहरी मानसिक यन्त्रणा से जूझ रहा है। कितने धैर्य से वह अपने हिस्से की कुरूप, कड़वी, ठंडी ज़िंदगी के प्रहार पर प्रहार

सहे जा रहा है, लेकिन आगे नहीं बढ़ पाई। कितनी कष्टप्रद और मर्मान्तक होती है अपने को बलात् संयमित रखने की चेष्टा। अलबत्ता उस पर दृष्टि पड़ते ही मेहता अपने को जब्त नहीं कर पाया। उसकी हथेलियों को अपने चेहरे से जकड़ वह फफककर रो पड़ा। वह सूखी आँखें लिए गले के भीतर उमड़ते ज्वार को घुटकती रही। कुछ भी कहा नहीं गया। कितना कुछ कहना चाहती है ! वाक्-शक्ति जैसे हथेलियों के नम, शीतल स्पर्श में परिवर्तन हो आई और मेहता के दग्ध अन्तर्मन को अकेले ही धीरज बँधाने लगी – "जो कुछ तुम्हारे वश में था, तुम करते रहे, जो नहीं था ... उसके लिए धैर्य करो ..."

तिलक ने सांत्वना से उसकी पीठ थपथपाई – "कमजोर बनने से काम कैसे चलेगा, मेहता ... कैसे हुआ यह सब ?" तिलक ने यही सोचकर उसकी वेदना के अंगारों पर फूँक मारी कि जितनी तेज आँच वे धधकेंगे, उतनी ही तेजी से उनकी आँच राख होगी।

रुँधे कण्ठ से रुक-रुककर मेहता ने बताया – रात को जब वह पेशाब करने के लिए उठा, फ्रिज का दरवाजा खुला देख उसे अचम्भा हुआ। उसने सोचा, शायद पानी-वानी पीने के लिए कोकिला ने फ्रिज खोला होगा और नींद की बोझिलता में उसे बंद करना भूल गई होगी। फ्रिज का दरवाजा बंद कर यूँ ही कमरे की बत्ती का स्विच दबा दिया। लेकिन जो वीभत्स दृश्य उसने देखा, भय से उसकी आँखें फट पड़ीं। उसकी पत्नी कोकिला छत के पंखे से लटकी हुई थी। मेहता की नींद न उचटे, शायद इस ख़याल से कोकिला ने फ्रिज का दरवाजा खुला छोड़ उसकी मध्यम रोशनी के सहारे ही अपने इरादे को कार्यान्वित किया। एक छोटी-सी चिट्ठी तकिये के नीचे लिखकर रख गई, जिसमें उसने अपनी मौत के लिए जीवन के प्रति पैदा हुई वितृष्णा और विरक्ति को जिम्मेदार ठहराया था ... यह हत्या का मामला भी बनाया जा सकता था, चूँकि उसके फूफा सहायक पुलिस कमिश्नर हैं, उन्होंने अनावश्यक तहकीकात और भागा-दौड़ी से बचने में उसकी मदद की और कोकिला की चिट्ठी को आधार बनाकर इस घटना को पूर्णतः आत्महत्या का मामला दर्ज किया। इसीलिए केस अतिरिक्त उलझनों से बच गया, वरना मेहता के हाथों में हथकड़ियाँ होतीं। पत्नी के परिवारवाले भी चाहते तो केस बिगाड़ सकते थे, मगर उन लोगों ने समझदारी और सहयोग-भरा रवैया अपनाया कि बेटी तो हमारे हाथ से गई ही, अब आप लोगों को दोष देने से भला क्या फायदा ! लाश आठ-दस मिनट के भीतर मिल जाएगी। पोस्टमार्टम हो गया है। पोस्टमार्टम रिपोर्ट में कोई अन्य कारण नहीं निकला ...

मेहता की शोक-संतप्त माँ ने उन्हें बताया – रात में बहू के व्यवहार से उन्हें राई-रत्ती संदेह नहीं हुआ कि उस निर्मम ने अपनी मौत का षड्यन्त्र स्वयं रच रखा है। हमेशा की तरह सहज भाव से उसने पूरे परिवार को खाना खिलाने में उनका हाथ बँटाया। सुबह के लिए दूध की बोतलें और पैसा निकालकर खाने की मेज पर रखा। बाई से रसोई साफ करवाई। सारे कामों से निपटकर सोने चली गई। क्या पता था कि रात बीतने भी नहीं पाएगी और हम बहू का मरा मुँह देखेंगे ... मैं तो अब उस घर में नहीं रहूँगी ... बेच दूँगी। नहीं तो निरन्तर आभास होता रहेगा कि अपने घर में नहीं, फाँसीघर में रह रही हूँ ... चौबीसों घण्टे बहू घूमती रहेगी आँखों के सामने ... परसों से नवरात्रि शुरू हो रही हैं ... साल-भर का हमारा त्योहार बिगड़ गया ... हमेशा-हमेशा के लिए बिगड़ गया ... कितने उत्साह से गरबा में सम्मिलित होती थी। पूरी-पूरी रात जागती रहती। मेहता की गरबा में रत्ती-भर भी रुचि नहीं थी, शामिल

ही नहीं होता था। खूब लड़ती थी इससे कि पूरा मुहल्ला इकट्ठा हो जाता है, सिर्फ़ आप नहीं उतरते अपने माले से ... अब सब खत्म !

वह दुःख और निराशा से कातर हो आई। आगे बढ़कर नीता ने उन्हें सँभाला।

* * *

मेहता किसी उलझन में गोते लगाने लगा – भरे गिलास को आगे-पीछे खिसकाते हुए छलांग लगाने से पूर्व की बटोरन। एक गहरा घूँट भरते हुए बोला – "तुम अनुमान नहीं लगा सकतीं कि मैंने बहुत संक्षेप ... या शायद संकेतों में अपने दाम्पत्य के विषय में तुम्हें कभी बताया था ..."

"कुछ जिक्र किया था ... यही कि पत्नी के काम-सम्बन्ध तुम्हारे भाई ..."

अंकिता बीच में ही अटक गई।

मेहता कहीं और देखता-सा पल-भर चुप रहा, फिर बोलने लगा।

"महीने-भर पहले की बात है ... माँ ने भाई का रिश्ता तय कर दिया। चटपट भाई की मंगनी हो गई। हमारे यहाँ रिवाज है कि मंगनी तय होते ही लड़की लड़के के घर आने-जाने लगती है ... लड़के के साथ घूमने-फिरने की भी उसे छूट होती है ... मैंने शायद तुम्हें भाई की मंगनी-उत्सव में आने के लिए आमन्त्रित भी किया था ... !"

"हूं !" उसने सहमति में सिर हिलाया। उसे लगा कि मेहता प्रसंगों के स्मरण दिलाने के बहाने शायद रह-रहकर सच्चाई प्रकट करने की हिम्मत अपने भीतर सँजो रहा है।

"मंगनी होते ही एकाएक भाई का मन कोकिला की ओर से विरक्त होने लगा ... वह बहुत कोशिश करती उसे घेरने की ... मगर भाई को शायद यह भान हो चुका था कि उन दोनों के दरमियान चले आ रहे यौन-सम्बन्ध अब उसके सुखमय भविष्य की राह में रोड़ा हैं। मैंने भी यह महसूस किया कि भाई ने जिस अनिच्छा और दबाव में आकर मंगनी स्वीकार की थी, अब वह अनिच्छा-भाव तिरोहित होने लगा है और वह उस लड़की – रुचिरा से धीरे-धीरे भावनात्मक लगाव जीने लगा है ... कोकिला को उसका विमुख होना सहन नहीं हुआ। उसने एक दिन उस लड़की को खरीदारी के बहाने बुलाकर अपने और भाई के यौनाचार की कहानी कह सुनाई और उसे धमकाया कि वह भाई से विवाह भले कर ले, लेकिन उन दोनों के बीच की प्रगाढ़ता किसी हालत में कम न होगी ! प्रमाण के लिए उसने अपने नाम लिखे गए भाई के सहेजे कुछ प्रेम-पत्र रुचिरा को दिखाए। उसे सलाह दी कि बेहतर यही होगा कि वह समय चलते चेत जाए और मंगनी तोड़ दे। जीवनपर्यन्त डाह की भट्ठी में होम होने से तो अच्छा है कि वह अपनी ज़िंदगी का रास्ता बदल ले ... देवर की उससे शादी की कतई इच्छा नहीं है, माँ के दबाव में आकर उसने यह सम्बन्ध स्वीकारा है ..."

मेहता फिर ठहरा। गिलास की बची हुई शराब को उसने एक लम्बे घूँट में खत्म किया और बेयरा से तीसरा पेग तैयार कर लाने को कहा। अंकिता से पूछा भी कि क्या बेयरा को खाना लाने को कह दे?

अंकिता ने इनकार में सिर हिला दिया, "ड्रिंक खत्म कर लो पहले अपना।"

नए पेग से घूँट भरकर मेहता ने बातों का सिलसिला आगे बढ़ाया –

"रुचिरा उसकी धमकी से परेशान हो आई। एक रोज उसने हिम्मत कर भाई से सब जानना चाहता। भाई ने लड़की से सचाई कबूल ली और यह भी स्वीकारा कि जबसे रुचिरा उसके जीवन में आई है, वह ऐसी अनैतिक हरकतों से कोसों दूर है। शादी होते ही वह अलग घर ले लेगा। भाई ने एक रोज मौका पाकर पूरे घर के सामने – मैं भी था और इत्तिफाक से उस शाम कोकिला का अपना छोटा भाई भी घर आया हुआ था – झिझकते हुए कच्चा-चिट्ठा खोल डाला। कोकिला ने उसकी मंगेतर को इसी सम्बन्ध में एक धमकी-भरा पत्र लिखा था, वह भी माँ को पढ़वाया। मैं कोकिला के इस अधम कृत्य पर पगला उठा ... जो कुछ जितना था, जहाँ तक था, उसे वह वहीं तक रखती और भूल जाती तो भी क्षम्य थी, मगर ... अपनी कामान्धता के पीछे वह सारी मान-मर्यादा को पीकर नंगे नाच पर उतर आई ... मैं उस रोज अपने पर नियन्त्रण नहीं रख पाया। पहली बार ... मैंने उस पर हाथ उठाया ...

"और उसके तीन दिन बाद ही उसने ... पता नहीं क्या हो गया था मुझे ... मैं अब तक न अपने को समझ पा रहा हूँ, अंकू ... न समझा पा रहा हूँ। मैं इस बात को काफी अरसे से जानता था। तुमसे स्वीकारा भी था कि शायद मैं पत्नी को यौन-संतुष्टि नहीं दे पा रहा हूँ और ... इसी हीन भावना ने मुझे उसके काम-सम्बन्धों के प्रति उदार बनाया। लेकिन अब लगता है कि मेरी समझदारी और बराबरी का हक दिए जाने की भावना को उच्छृंखलता के रूप में अपनाकर कोकिला अनजाने अपनी ही आग में भस्म हो गई ... भाई का भी दोष है, मगर उतना नहीं। भाई को सहवास के लिए प्रवृत्त करने की सदैव कोकिला की ही कुचेष्टा रही। कॉलेज खत्म कर नई-नई नौकरी पर लगे युवक की यौन उत्सुकता की कल्पना तुम कर सकती हो ... मैं ... मैं ही दोषी हूँ। उसे इतनी छूट न देता तो ... शायद ... मैं अपने को माफ नहीं कर पा रहा ..."

अचानक मेहता ने गिलास को माथे से इस कदर सटा लिया कि वह आशंका से कांप उठी– कहीं ऐसा न हो कि थोड़ा और दबाव बढ़ते ही गिलास तिड़क जाए और उसकी हथेली लहूलुहान हो उठे। लेकिन इस वक्त अंकिता न उसे सावधान करना चाहती है, न और कुरेदना; जिस अन्तर्द्वन्द्व में वह तिल-तिलकर मथ रहा है ... ग्लानि और तनाव से तार-तार हो रहा है – उससे स्वयं लड़कर ही कोई रास्ता खोज पाएगा। खोजना चाहता भी है। बस, उसे छूकर मात्र आश्वस्त करना चाहती है कि लड़ाई तो अकेले ही लड़नी होती है ... लेकिन ऐसा ज़रूर होता है, जब हम स्वयं अपने साथ होते हैं तो कुछ कन्धे आहिस्ता से साथ आ खड़े होते हैं......

गिलास पर जकड़ी मेहता की उँगलियों पर अंकिता हौले से अपनी एक हथेली रख देती है ...

तीन

घर का दरवाजा खोलते ही फर्श पर बिखरी हुई डाक पर नज़र पड़ी उसकी । चेहरा खिल आया । दरअसल, पत्र अगर अन्तरंगों के हों तो उन्हें प्राप्त कर वह इस महानगर में अपने को उन कुछेक अपनों के सान्निध्य-सुख से प्लावित अनुभव करती है, जिनका अभाव उसे यहाँ अकसर अकेली और उपेक्षित महसूस कराता रहता है। पत्र उठा उन्हें गौर से उलट-पलटकर देखने लगी।

ये ... मेहता का है ... ये भिंड वाली बड़ी भाभी का और ... ये ...

दिमाग पर काफी जोर डालने के बावजूद लिखावट पहचानने में असमर्थ रही। छोड़ो, होगा जिसका भी होगा ! इतनी माथा-फोड़ी की ज़रूरत भी नहीं। बस, अपने लिखावट-विशेषज्ञ होने के गुमान पर खिसियाहट अवश्य हुई। अब तक तो यही लगता रहा और प्रमाणित भी होता रहा कि एक बार जिस लिखावट से वह गुजरी है, उसे पहचानने में कभी गलती नहीं की। यह भी हो सकता है कि यह पत्र सर्वथा अनजाने व्यक्ति का हो ... व्यक्ति अपरिचित न भी हो तो पत्र वह शायद उसे पहली बार लिख रहा हो। संभावना यही लग रही है। घर का पता उन्हीं लोगों के पास होता है, जिन्हें देना वह मुनासिब समझती है ...

पढ़कर न देख ले ?

उतावली क्या है ? इतमीनान से पढ़ेगी। हड़बड़ी में या सरसरी तौर पर पत्र पढ़ना उसे पत्रों के हक में अवहेलना प्रतीत होती है। जानती है, पत्र लिखना कितना कष्ट-साध्य है ... हाथ-मुँह धोकर तनिक तरोताजा हो ले, तब पढ़े। थकान से देह अनमना रही है। रास्ते-भर बस में खड़ी-खड़ी आई है। एक बार तो मन आया भी कि खड़े होकर झूलते हुए जाने से तो बेहतर है कि अगली बस की प्रतीक्षा कर ले। परिवहन-व्यवस्था इतनी चुस्त है कि घर पहुँचने में दसेक मिनट से ज़्यादा का अन्तर नहीं पड़ेगा। कम-से-कम आराम से बैठकर तो जाएगी। लेकिन अपनी बारी आते ही इरादा बदल गया – जितनी जल्दी घर पहुँच जाएगी, क्लान्ति से मुक्त हो सकेगी। चाहे उस घर की दीवारों के अलावा वहाँ कोई उसकी प्रतीक्षा में न हो ...

* * *

कहना चाहकर भी पता नहीं किस संकोचवश उससे कह न सकी – सचमुच, व्यक्ति के साथ दीवारों का कोई अर्थ होता है, किन्तु व्यक्तिविहीन होकर भी कभी-कभी उसके अस्तित्व का आभास अपनी निर्जीवता-बोध की परतें निकालकर सहसा आपके सामने प्रकट हो, आपके अकेलेपन को आश्रय ही नहीं देता, अपने साथ होने के गहरे बोध से भी सम्पन्न करता है। नीता की तरह गोमती की माँ को भी वह नहीं समझा पाई थी, जब उसने उसके शयनकक्ष की खिड़की से सटे हुए कदम्ब के पेड़ को लेकर दुश्चिन्ता प्रकट की थी – 'तुम इसकी डाल काय कू नई कटवा देता ! बोत ख़तरनाक है, कोई पन पेड़ पे चढ़के, तुम्हारा खिड़की तोड़के भीतर घुसने को सकता ... अकसर ... ?

अंकिता उसकी सरल हित-चिन्तना सुनकर प्रत्युत्तर में मुसकराकर रह गई थी। यही सोचकर कि गोमती की माँ समझ नहीं सकती – पेड़-पौधे से रिश्ते की बात ... उस बिन्दु तक जहाँ वे मानवीय संवेगों को अपनी कोंपलों, पत्तों की देह पर खिंची कोशिकाओं, रंगों की विविधताओं, आलोड़नों से उत्पन्न सरसराहटों से अनकहे ही बाँटने आगे बढ़ आते हैं ! और मात्र इस आशंका से खिड़की से सटी उस डाल को कैसे कटवाकर फिंकवाया जा सकता है कि वह उसके घर की असुरक्षा का कारण हो सकती है ! जब भी कभी उद्विग्न होती है, घण्टों खिड़की के सीखचों से सटी टुकुर-टुकुर टहनियों का डोलना देखती रहती है ... कोंपलों को फूटता महसूस करती है ... हाथ बढ़ाकर पत्तों को छूती है ... प्रत्युत्तर में वे अपनी स्पर्श-ऊष्मा से उसे आलोड़ित कर देते हैं, और कभी आश्वस्त – हम हैं ...

* * *

हरींद्र के भीतर जैसे कोई ज्वाला सुलग रही है सर्वहारा की चिन्ता में। नहीं जानती कि अचानक सीपीएम की सक्रिय सदस्यता से वह क्यों अलग हो गया और क्यों अचानक सत्ताच्युत कुछ लोगों से उसकी पटरी बैठने लगी ? कई दफ़े हरींद्र का पूरा व्यक्तित्व बड़ा रहस्यमय प्रतीत होता है, लेकिन लिखता अब भी वह उतनी ही बेबाकी से है, जिसे पढ़ते हुए लगता है कि वे शब्द नहीं, हथौड़े की चोट हैं।

"अच्छा सुनो, आज तुम्हें यहाँ बुलाने का मकसद यह नहीं है कि तुम बेसिर-पैर के ज़िंग्लस लिखना बंद कर दो। जब तक कोई बेहतर विकल्प नहीं मिल जाता, मैं तुमसे ऐसा आग्रह कदापि नहीं करूँगा। लेकिन चाहता हूँ कि तुम मात्र इन्हीं चीजों में अपनी रचनात्मक ऊर्जा जाया न करो ... तुम बढ़िया लिख सकती हो ... उसका उपयोग होना चाहिए ... मैंने सी.पी. सिंह से बात की है – उनके साप्ताहिक 'आरम्भ' में तुम्हारे नियमित स्तम्भ की। शीर्षक उन्हीं का तय किया हुआ है – 'आईना'। पहले यह तय हुआ था कि इसे किसी उपनाम से लिखवाया जाए, लेकिन मैं चाहता हूँ कि ... नाम से लिखने में क्या हर्ज है ... क्यों ?"

"हाँ, मगर उपनाम से लिखने में दबाव-मुक्त रहने की अधिक गुंजाइश है..."

"नाम से लिखने के आग्रह के पीछे मेरा एक और उद्देश्य है ... इधर महाराष्ट्र मन्त्रिमण्डल में जबरदस्त फेर-बदल होने की संभावना है। पूरी उम्मीद है कि युवा तुर्क दिनेश पाटिल गृह मंत्रालय के साथ-साथ आवास-निर्माण विभाग भी सँभालेंगे। दिनेश बड़ी इज्जत करता है अपनी ... विरोधियों द्वारा भिवंडीवाले दंगों में उसे जिस तरह फँसाया जा रहा था – मेरी रिपोर्टिंग ने उसे निर्दोष साबित किया है। तब से अकसर वह कहता रहता है कि कोई काम हो तो निःसंकोच बताना, यार ... स्तम्भ शुरू कर दो तो सी.पी. सिंह से मैं तुम्हारे नाम एक लेटर ले लूँगा उनके साप्ताहिक से सम्बद्ध होने का, और कोशिश करूँगा कि महाराष्ट्र हाउसिंग बोर्ड से पत्रकारों के लिए मकान का जो कोटा निर्धारित है, उसमें तुम्हारे नाम एक छोटा फ्लैट अलॉट हो सके।"

कप से चुस्कियाँ भरता हुआ अंकिता का चेहरा एक अचरज-भरी ख़ुशी से नरमा आया। बम्बई में अपने घर की कल्पना किसी के लिए भी जीवन का सबसे खूबसूरत सपना हो सकता है ... उसके लिए भी है – कभी न

सच होने वाला सपना ! लेकिन क्या सचमुच वह उम्मीद के डोरों पर पग धरती वह रास्ता बुन सकती है, जो उसे अपने घर की दीवारों तक ले जाएगा ? वह छत, जिसे ग्यारह महीने का मोहताज नहीं होना पड़ेगा ... कोई शिवराम, करीम, परब उससे आकर यह नहीं कह सकेगा कि 'ए बाई ! ... अभी अपने को मकान खाली माँगता है ... तुम किदर दूसरा जागा अपना इंतजाम कर लो !"

* * *

इस शहर की शुरुआत में वह हरींद्र पर निर्भर भी रही है, बल्कि सचाई तो यह है कि उसके संघर्ष को परिवेश-परिवर्तन का अवसर देकर नए सिरे से जीवन जीने का साहस भी हरींद्र ने ही बँधाया। हरींद्र अनभिज्ञ नहीं है कि उसे कोई बात अतिरिक्त गहरे चोट करती है तो वह है, किसी भी सन्दर्भ में सुधांशु का जिक्र। उसे विश्वास है कि इस कटाक्ष के मूल में हरींद्र की मंशा उसे आहत या अपमानित करने की कतई नहीं रही होगी, किन्तु वह हमेशा से इस परिप्रेक्ष्य में उसकी भावनाओं को लेकर सावधानी बरतता रहता है – कभी-कभी इतना असावधान और निर्मम क्यों हो उठता है ?

क्षण-भर पूर्व अंकिता के चेहरे पर थिरक आइ शरारत-घुली चहक एकाएक उदासी में परिवर्तित हो क्षुब्ध हो आई है – यह हरींद्र की सजग दृष्टि ने तत्काल भाँप लिया। सुधांशु से अलग होने के बाद से कुछ अधिक ही संवेदनशील और भावुक हो उठी है अंकू, वरना उसकी बात के मर्म को अन्यथा न लेती। तकलीफों की शायद यही कसौटी होती है, वह व्यक्ति की संवेदना को अपार सहिष्णु और अधिक व्यापक बना देती है या फिर भोंथरा ! विपन्न ! लेकिन अंकू का संघर्ष उसे इसख़तरे से बाल-बाल बचा ले गया है। कभी-कभी अवश्य महसूस होता है कि बाहर से जो कुछ सधा, उबरा, निथर आया अनुभव हो रहा है, उसके भीतर की तहें अब भी गीली हैं ... बड़ा स्वाभाविक है।

सुधांशु सिर्फ़ उसका पति ही नहीं था, प्रेमी भी था। जिसे पाने के लिए उसे उन दुर्गम पगडंडियों से गुजरना पड़ा जो जाति, धर्म, परम्परा और मान्यताओं के पहरों से गुजरती हैं। उसके अपने घरवालों ने आगे चलकर उसे क्षमा ही नहीं किया, अपनाया भी, किन्तु सुधांशु के परिवारवालों ने उसे सदैव प्रताड़ित, लांछित किया कि उसने उनके लड़के को प्रेम के चक्कर में फाँसकर उसका भविष्य ही नष्ट नहीं किया, उनके सपनों पर भी बेरहमी से गाज बरसाई है ! ऐसी विषम परिस्थितियों में वह अपना संतुलन बनाए रखती, अगर सुधांशु की अप्रत्याशित उच्छृंखलताओं ने उसे भीतर से बीन-बीनकर न कुचला होता; न पीसा होता। अंकू से जब पहली बार सुधांशु ने उसे मिलवाया था, मन में पहली प्रतिक्रिया उपजी थी कि इस लड़की के भीतर जो सर्वाधिक आकर्षित करने वाला गुण है, वह है उसके सलोने व्यक्तित्व के रोम-रोम से फूटता हुआ आत्मविश्वास ! और एक ऐसी स्निग्ध अन्तर्मुखी खामोशी जो अपने मौन की भाषा में इतनी मुखर है कि उससे संवाद स्थापित करने के लिए सामने वाले का उतना ही गहरा, सूक्ष्म और समर्थ होना आवश्यक है।

अनायास निकल गए एक परिहासपूर्ण वाक्य के चलते अच्छी-खासी संध्या तनावपूर्ण हो उठी।

* * *

क्षणांश मौन रहने के बावजूद नीता अपनी खीझ संयमित नहीं कर पाई। "मैंने तुम्हें पहले ही सावधान कर दिया था कि तुम 'संवाद' जाने से पूर्व इस सिलसिले में मि॰ भोजराज को फोन अवश्य कर लेना ... तुम मि॰ भोजराज से 'भाषा विभाग' में अनेक बार मिल चुकी हो – व्यस्त और भले आदमी हैं। मि॰ शास्त्री और वे कॉलेज के दिनों के मित्र हैं, कोई कारण नहीं था कि काम न बनता ... हर वक्त संकोच की तख्ती गले में टाँगे, मुँह सिए बैठी रहती हो ... व्यर्थ ही ..."

वह कानों में चोंगा सटाए नीता का क्षुब्ध होना झेलती रही।

"तुम नहीं जानतीं, अंकू ! नौकरी और प्रतिभा दो अलग-अलग चीजें हैं ... कभी-कभी वे दोनों को एक साथ, एक मंच पर होने का अवसर और सम्मान देते हैं, लेकिन अकसर नहीं ... वे खरीदार हैं। उन्हें मालूम है वे जो चाहें, जैसी चाहें, बुद्धि और प्रतिभा खरीद सकते हैं। उसके लिए उन्हें किसी को स्थायी नौकरी देने की ज़रूरत नहीं है। स्थायी नौकरी पर वे मित्र, प्रेमिका, सम्बन्धी या लेन-देन के आधार पर किसी को भी रखकर किसी को कृतज्ञ कर सकते हैं, किसी पर दया ! न जाने कितने प्रतिभाशाली फ्रीलांसिंग करते हुए उनकी दयादृष्टि के मोहताज हो, अधर में लटके अनिश्चय में सड़ रहे हैं और महत्त्वपूर्ण पदों को वे लोग सुशोभित कर रहे हैं जो सिर्फ़ ग्लैमरस हैं। यह ग्लैमर की दुनिया है, अंकू। यहाँ जीने की, जी पाने की पहली शर्त है – विशिष्ट दिखना, विशिष्ट करना, विशिष्ट होना, विशिष्ट बनना – जो वास्तविकता नहीं है ... बहुत कड़वी बात कह रही हूँ ... तुम्हारी भावनाओं को ठेस पहुँचाने के ध्येय से नहीं ... यह मेरा कटु अनुभव है ...

* * *

अकसर सोचती रही – यह शहर बेमुरव्वत क्यों नहीं हो जाता ? क्यों नहीं यह विद्रोह कर देता कि अब बस करो ? मेरी देह इतना बोझ सहन नहीं कर सकती ? मेरी साँसें अवरुद्ध हो रही हैं ? मैं धँस रहा हूँ ... धँस गया तो ? लेकिन किसी को कुछ सुनाई नहीं देता। लोग हैं कि भागे चले जा रहे हैं – गूंगे-बहरे ! क्योंकि यह शहर उन्हें फुटपाथ पर सुलाता ज़रूर है, मगर ऊसल-पाव खिलाकर।

और आज लगता है, शहर बेमुरव्वत होता जा रहा है। शायद इसकी सहनशक्ति जवाब दे रही है। अजगर होता शहर ! जब जिसे चाहे, लील ले और लोग हैं कि ऊसल-पाव के चक्कर में निरन्तर उसका ग्रास बन रहे हैं, क्योंकि अजगर होने को अभिशप्त हो उठा है यह शहर ! शहर के प्रति न जाने क्यों मन करुणा से प्लावित हो आया। हमेशा इस शहर को कोसती रही, मगर पता नहीं क्यों, इस शहर के प्रति कभी मुरव्वत से न भरा मन आज इसके मानव से दानव होती प्रक्रिया के प्रति संवेदनशील हो उठा है ... यह शहर और कुछ भले ही दे न दे, आदमी को ऊसल-पाव और छत के नाम पर आसमान अवश्य देता है। स्वयं उसे नहीं मिला है यह आसमान ? कैसे मन तड़फड़ाया था शुरू-शुरू में ! इच्छा होती थी कि टिकट कटाए और यहाँ से भाग ले। यहाँ की रफ्तार-भरी ज़िंदगी उसकी मुट्ठी में नहीं आ सकती। वह नहीं दौड़ती इस शहर के साथ। या तो उसकी उखड़ी हुई साँसें उसे पथरा देंगी

या भागते तलुवों से एक शून्य जहर की भाँति ऊपर संचरण करता बढ़ेगा और वह अचेत होकर कहीं ढेर हो जाएगी।

हरींद्र ने सरस्वती कॉलेज में उसकी नियुक्ति की सूचना देते हुए बड़े उत्साह से बम्बई के मौसम का कसीदा पढ़ते हुए लिखा था – 'बम्बई का मौसम हर समय भीगे गुलाबों की ख़ुशबू से सुवासित रहता है। न गरमी की तपिश, न हाड़ कँपा देने वाली ठिठुरन। और सागर से घिरे बम्बई की हवाओं में ही नमक नहीं है, यहाँ की पहाड़ियों, घाटियों, हरियाली और चेहरों पर भी उसकी आब महसूस की जा सकती है। वह कतई अलग बात है कि निरन्तर बढ़ती जद्दोजहद ने चेहरों से नमक सोख उसे लोन-लगी दीवारों में तब्दील कर दिया है जो एक सीमा के बाद उसे खोखला करने लगता है, उसकी मजबूती चूस लेता है।

चार

"बढ़िया ... हाँ, तो अंकिताजी, यह बताइए कि अंग्रेजी के समान हिन्दी में साहसिक रिपोर्टिंग या निर्भीक स्तम्भ-लेखिकाएँ क्यों नहीं हैं ?"

"गौरतलब प्रश्न है। एक पक्ष यह लगता है कि इस पेशे के हक में जिस निर्मम ईमानदारी, पैनी दृष्टि, वैचारिक-सम्पन्नता, साहसिक पहल, खोजी प्रवृत्ति और तटस्थ अभिव्यक्ति की दरकार होती है, वह वस्तुत: शिक्षा और परिवेश से आती है और ..."

"आपका मतलब कि हिन्दीभाषियों में यह वातावरण अनुपस्थित है ?"

"दुर्भाग्य से अनुपस्थित ही है लगभग ... क्योंकि अन्य प्रदेशों की तुलना में हिन्दी प्रदेश स्त्रियों के मामले में अनेक कुप्रथाओं और रूढ़ियों से गहरे जकड़ा हुआ है ... इस पिछड़ेपन और संकीर्णता के ऐतिहासिक, सामाजिक कारण हो सकते हैं। लेकिन ये सारी चीजें निश्चित ही उसके लिए सीमाएँ बन गई हैं। आपको क्या बताना !" उसका स्वर विक्षुब्ध हो, तनिक भावुक हो आया, "जहाँ आज भी स्त्री का आधी रात के अलावा पति से मिलना वर्जित हो, वहाँ इस चुनौतीपूर्ण पेशे में उसकी उपस्थिति असम्भव नहीं तो – कुछ वर्षों पहले तक – अपवाद अवश्य थी ... वैसे, इधर आप अवश्य महसूस कर रहे होंगे कि शिक्षा के चलते वातावरण में जागरूकता का प्रवेश हुआ है ... कुछ लड़कियाँ इस क्षेत्र में आई ही नहीं हैं, बाकायदा अपनी उपस्थिति का आभास भी करा रही हैं ... मगर स्थिति बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है – ऊँट के मुँह में जीरे के समान।"

"प्रतिशत का प्रश्न मैं नहीं उठा रहा।" सेनगुप्ता उसके विचारों से अंशत: सहमत होते हुए बोले, "मेरा तात्पर्य उनसे है, जो बाकायदा पत्रकारिता कर रही हैं और प्रतिष्ठित अखबारों में हैं ... उनका प्रस्तुति-स्तर इतना उथला क्यों है ?"

"उन्हीं गुणों का अभाव ! अपने परिवेश से वे निकल अवश्य आई हैं, किन्तु मानस पर पड़े उन गहरे प्रभावों से इतनी जल्दी मुक्त कैसे हो सकती हैं ! उनमें वह एक्स-रे दृष्टि विकसित नहीं हो पाई है जो व्यवस्थागत कुचक्रों के व्यूह को भेद उन षड्यन्त्रों पर से साहसपूर्वक परदा खींच सकें। जो जनसाधारण की हितचिन्तना की आड़ में परम कुशल नटों द्वारा सतत खेली और खिलाई जा रही हैं। दूसरा पक्ष, जो मुझे आज बड़ी शिद्दत से महसूस हो रहा है, वह है स्त्रियों में जागरूकता आ भी जाए, मगर मुश्किल उसके महत्त्व की है – वह अपनी जागरूकता का इस्तेमाल कहाँ करे ? स्थिति कुछेक व्यक्तियों से नहीं बदलती, पूरे परिवेश की मानसिकता बदलने से बदलती है। दुःख यही है कि हम स्त्रियों के जागरूक होने की बात तो सोच रहे हैं, मगर उस पूरक हिस्से के जागरूक होने की बात बिलकुल नहीं उठा रहे, जिसके बिना सार्थक परिवर्तन की कल्पना अधूरी है। खैर इस बात को यहीं छोड़ें तो कहना चाहूँगी कि वास्तव में स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है, जितनी कि आप चिन्ता कर रहे हैं मि० सेनगुप्ता ! जरा मेरी बात पूरी हो लेने दें ..."

उन्हें कुछ कहने के लिए उद्यत पाकर अंकिता ने उन्हें बरजा, "बहुत कुछ ऐसा भी है, जिस पर आप लोगों की नज़र नहीं पड़ पाती ... आप इस धारणा से भी जकड़े हुए हैं कि हिन्दी पत्रकारिता चाहे पुरुषों द्वारा की जा रही हो या स्त्रियों द्वारा, वह दोयम दर्जे की चीज है ... यह भेद-भाव प्रतिष्ठानों द्वारा भी बरता जाता है। अपने यहाँ से निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओं की ओर देखिए ! उन्हें मिलने वाली सुविधाओं और पारिश्रमिक को देखिए ... एक लेख पर जितना पारिश्रमिक अंग्रेजीवाले को मिलता है, क्या हिन्दीवाले को दिया जाता है ? हिन्दी में पत्रकारिता के साथ बंधुआ मजदूरों जैसा ही सुलूक हो रहा है कि उसे उतना ही भोजन दो कि वह हर वक्त पेट की आग से ग्रस्त पराश्रयी बनी रहे और अपने पैरों पर कभी खड़ी न हो सके ... सच कहूँ तो ... अंग्रेजीवाले उस महिला के समान हैं, जो स्लीवलेस पहनकर अपने को परम आधुनिक समझने का भ्रम पाल लेती है। यही वजह है कि हिन्दी में अगर कुछेक महिलाएँ तमाम असुविधाओं और अपने परिवेशगत संकोचों के बावजूद बेहतर लिख रही हैं तो उनकी लेखनी को बाकायदा 'हिन्दीवाली' मानकर उसकी उपेक्षा की जाती है और ..."

"आप रिसक्ट कर गईं, अंकिताजी ! मैं हिन्दी और अंग्रेजी के लफड़े में नहीं पड़ना चाहता, न उनके बीच के भेद-भाव को उठाना मेरा आशय था ..."

बहस के इस मोड़ ने अब तक मौन साधे उन्हें सुन रही शोभना को भी उकसाया। वह हस्तक्षेप किए बिना नहीं रह पाई। अपनी खामोशी तोड़ती हुई बोली, "अंकिता के इस तर्क में दम है, सेनगुप्ता साहब ! यह हिन्दी और अंग्रेजी का लफड़ा नहीं है ... भाषा की अस्मिता का प्रश्न है। इस बात से तो आप भी सहमत होंगे कि पर्याप्त सुविधाएँ और सहयोग की भावना व्यक्ति की परिश्रम-क्षमता और उसकी विचारशक्ति को अधिक ऊर्जावान्, गहन और पैना बनाती हैं। आपने हिन्दी की स्तम्भकार आकांक्षा पांडे का नाम सुना होगा! कुछ समय तक हम अपनी पत्रिकाओं में उनका स्तम्भ अनुवाद कराके नियमित छापते रहे हैं। मैं साक्षी हूँ ? वे लगातार विरोध प्रकट करती रहीं कि उन्हें फीचर और स्तम्भ का उचित पारिश्रमिक नहीं दिया जा रहा। वे दिए जाने वाले पारिश्रमिक से घोर असंतुष्ट हैं, मगर हमारी सम्पादिका के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी ... जबकि ..."

"इसमें भेद-भाव कहाँ से आ गया, शोभना ? उनके लेखों की गुणवत्तानुसार तुम्हारी सम्पादिका को जो उचित प्रतीत हुआ होगा, देती रही होंगी या देती हैं।"

"आपने शोभना की बात पूरी नहीं होने दी, सेनगुप्ता साहब !" अंकिता ने उनके तर्क पर ध्यान न देकर किञ्चित् मुसकराते हुए टोका।

सेनगुप्ता का खिंचता हुआ चेहरा अचानक ढीला हो आया। बोला, "कहो, कहो शोभना, क्या कहना चाह रही थीं तुम ?"

"लगता है, आप अन्यथा ले बैठे।" शोभना ने कटाक्ष किया।

"दो पाटों के बीच में इसकी गुंजाइश है।" सेनगुप्ता सहज होने की मजबूरी में झेंप मिटाते हुए 'हो-हो' करके हँस पड़े।

"तो मैं आपकी बात पर लौटती हूँ ..." शोभना ने अवसर खोना उचित नहीं समझा, "अंग्रेजी में ख्यात वनिता सिंह भी हमारे यहाँ निरन्तर लिखती हैं। उनके और आकांक्षा पांडे के पारिश्रमिक में दुगने का अन्तर है ... क्यों ? जबकि आकांक्षाजी के लेखन में अधिक वैविध्य और समस्याओं का परिवेशगत सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन है ... वह अध्ययन, सेनगुप्ता साहब, न कल्पना में रची गई दुनिया का है, न अखबारों में रेखांकित उसकी त्रासदी से उधार लिया गया ! आपको शायद मेरी बात खिन्न कर रही होगी, पर मैं स्वयं यह महसूस करती हूँ कि अगर आकांक्षाजी को उचित पारिश्रमिक प्रदान किया जाए तो सम्भवत: वह उन स्थानों पर भी जाकर वहाँ की समस्याओं और घटनाओं को हमारे लिए विश्लेषित कर सकेंगी, जो वर्तमान स्थिति में अनेक असुविधाओं के चलते उनके लिए सम्भव नहीं। वे बहुत प्रतिबद्ध हैं। 'नवजागरण' उन्होंने छोड़ा ही इसीलिए कि वे बाकायदा चुनौती के साथ पत्रकारिता कर सकें – 'यह लिखो, वह लिखो' के दबाव से मुक्त होकर। इस उदाहरण में न परिवेशगत संकोच की कमी है, न साहस की, न आत्मविश्वास की। जिन सीमाओं की चर्चा अंकिता ने की, वे भी यहाँ लागू नहीं होतीं ... आकांक्षाजी ठेठ बिहारी हैं और बिहार के ही किसी पिछड़े इलाके से आकर पत्रकारिता के इस मुकाम पर पहुँची हैं ... लेकिन जब भी महिला पत्रकारों की चर्चा चलेगी, उनके महत्त्व की बात उठेगी – वनिता सिंह का नाम ऊपर होगा, अंजना देव की बात होगी, सुलभा देसाई की तारीफ होगी ... आकांक्षा पांडे की नहीं गलत कह रही हूँ मैं ?"

* * *

बाबी ठाकुर और गौरा सुधाकर वाले प्रकरण के सन्दर्भ में उसे तिलक का कटाक्ष स्मृत हो आया – "न मानिए ... पर आपके मानने, न मानने से सचाई बदल जाएगी स्त्री-समाज की ? स्त्री-स्वातन्त्र्य की आड़ में स्त्री व्यर्थ ही पुरुष वर्ग को शोषक बनाकर 'मारो', 'मारो' का हल्ला मचा रही है ! स्त्री की वास्तविक लड़ाई तो स्त्री से है – उसकी असली शत्रु स्त्री ही है ! कहीं वह सास बनकर शोषण कर रही है तो कहीं माँ बनकर चौकीदारी, तो कहीं

ननद बनकर जासूसी, तो कहीं प्रेमिका बनकर सीनाजोरी। इसके बीच में ही सारे घपले घट रहे हैं ... आन्दोलन करना है, तो स्त्री को स्त्री की संकीर्णताओं और क्षुद्रताओं के विरुद्ध करना चाहिए। उसकी सामाजिक स्थिति में तभी परिवर्तन आ सकता है ... बेचारा पुरुष बेभाव मारा जा रहा है ...

"किसी हद तक, तिलक, लेकिन उसके लिए भी स्त्री नहीं, व्यवस्था दोषी है, जो उसे समाज ने दी है और उस व्यवस्था को बनाया पुरुषों ने ही है। बेभाव का रोना रोने की ज़रूरत नहीं !"

"फिर पुरुष ?"

"जी, पुरुष ही ... गौर कीजिए, स्त्री ही क्या किसी भी व्यक्ति को आप एक कमरे में सालों-साल बंद रखिए, मात्र उसे खाना-पानी देते रहिए, खुली हवा-पानी-प्रकृति से वंचित वह व्यक्ति एक रोज निश्चित ही असंतुलित हो उठेगा ... उसकी संवेदना कुन्द हो जाएगी, उसकी निर्णय-क्षमता छीज जाएगी ... वह सिर्फ़ अपने बारे में सोचेगा या उस कमरे में दाना-पानी पहुँचाने वाले के विषय में। उसकी पूरी दुनिया सिमटकर उस कमरे तक सीमित हो उठेगी ... वही हाल स्त्री का हुआ है। उसे सदियों से एक कमरे में बंद रखा गया है ... अब, जब नाममात्र को दरवाजे-खिड़कियाँ खोली जा रही हैं, आप उससे एकदम कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि वह अपनी दुनिया, कमरे की हदें तोड़, वहाँ तक विस्तृत कर ले जहाँ तक पुरुषों के लिए वह उपलब्ध है ..."

"यानी कि आप स्वीकारती हैं – स्त्री के मस्तिष्क के कल-पुर्जे ढीले हैं ?"

"कसे हुए होते तो, तिलक ... बोलती बंद होती आपकी ! यह जो कतरनी-सी जबान अनाप-शनाप बहकती रहती है न ! खूँटे से बँधी होती, खूँटे से ... यह न सोचो कि बंद नहीं होगी। समय ज़रूर लगेगा, मगर सीमाएँ हटेंगी – भोग्या और देवी के बीच पिसती हुई स्त्री अपनी स्त्री के लिए आत्मसम्मानपूर्ण समाधान खोज ही लेगी।"

"छोड़ो, छोड़ो ... एकपक्षीय बातें मत करो ! जिन सीमाओं की बात तुम कर रही हो, उनके पीछे समाहित ऐतिहासिक कारणों पर भी नज़र डालो। पुरुष ने वे सीमाएँ स्त्री के सम्मान और सुरक्षा हेतु तय की थीं, स्वार्थवश ..."

"स्त्री न हुई, गाय-भैंस हो गई ! ख़तरे अवश्य रहे होंगे, पर उन ख़तरों से सुरक्षित बने रहने के लिए पशुओं की भाँति उसे बाड़े में कैद करने के बजाय, परिस्थितियों का सामना कर आत्मरक्षा का साहस क्यों नहीं प्रदान किया पुरुष ने ? नहीं बना सकता था उसे समर्थ। उसका राजघाट छिन जाने की आशंका थी ! उसकी निरंकुशता पर अंकुश लग जाने का भय था !"

"घोर स्त्रीवादी हो तुम ..." तिलक उसके निर्भीक प्रत्युत्तरों से तिलमिला आया और छिछले स्वर में उपहास करता हुआ बोला, 'चलो भई, चलो ! स्त्री जाग रही है ... अब तो पुरुषों की जगह कानीहौद ही है, कोई बात नहीं, लो राजपाट ! ... मुक्त होकर भोगो स्वच्छन्दता !"

"बहस व्यर्थ है तुमसे ... छिछले होने में विलम्ब नहीं लगता !" तिलक के उपहास से विचलित न होती हुई बोली वह, "मैं स्त्री और पुरुष की समान साझीदारी की पक्षधर हूँ, किन्तु उसके अहंवादी शोषक स्वरूप की नहीं ... पुरुष को उसे बाड़े से मुक्त कर बराबरी का दर्जा देना होगा ... नहीं देता तो स्त्री को घर, परिवार और समाज के आतंक से आतंकित न होकर, खोखली दीवारों से सिर पटक-पटककर प्राण देने की बजाय, बाहर निकलने का साहस जुटा, आत्मनिर्भर हो, नए सिरे से जीवन जीने के विकल्पों को खोजना चाहिए !"

"जो भी हो ... अलका गिरिराज ग्लैमरस अवश्य है, मगर उसके चेहरे पर भारतीय लावण्य नहीं, कुछ-कुछ फिरंगी तराश लिए हुए नहीं है उसका चेहरा ...?"

शोभना की टिप्पणी पर उसने कोई प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की। स्कोर बोर्ड पर घटते-बढ़ते अंक कितने निर्मोही होते हैं ! यही शोभना है, 'फिल्मरस' आकर कितनी मिन्नतें किया करती थी अलका की अपने 'फैशन कोना' स्तम्भ के अन्तर्गत नई शैली की पोशाकों की मॉडलिंग के लिए। एक बार मजाक-मजाक में अलका ने उसे झटका दिया कि अब वह मुफ़्त में मॉडलिंग नहीं करती। वह अपनी पत्रिका से कहे कि पहले पारिश्रमिक की बात तय कर ले, तभी वह कैमरे के सामने खड़ी होगी, अन्यथा नहीं। सुनकर शोभना का मुँह लटक गया था ... हालांकि अलका गिरिराज के प्रति उसके हृदय में कोई लगाव शेष नहीं है, है तो मात्र विक्षोभ, जो उसके दर्पीले आचार-व्यवहार की खिन्नतास्वरूप उपजा, किन्तु इस समस्त कार्य-व्यापार की यह परिणति अत्यन्त दारुण है कि व्यक्ति सीढ़ियाँ चढ़ते समय बिसर जाता है कि सीढ़ियाँ सिर्फ़ उसके लिए नहीं बनी हैं ...

परदे पर तेजी से बदलते हुए दृश्यों के साथ नीता द्वारा प्रदर्शित मनमोहक पोशाकों पर अचानक कैंची चलने लगती है। वरसोवा तट पर स्लोमोशन में कुलाँचें भरते हुए श्वेत घोड़े के साथ वह टूपीस बिकनी में केश लहराते हुए पंजों के बल उड़ती हुई-सी दौड़ रही है ... पार्श्व में किलोल करती-सी खिलंदड़ी लहरें अपनी कलाइयों में चाँदी की फेनिल कंगनें खनकाती छुआ-छुई खेल रही हैं ...

"समय की रफ्तार है आम्रपाली !"

"आपका शृंगार है आम्रपाली !"

"अनूठी ! ... अनोखी !"

"निराली है आम्रपाली ..."

* * *

तीसरी फिल्म शुरू हो गई ...

दर्शक चाँदनी में भीग रहे मरुस्थल में पहुँच गए हैं ...

रेत की सीढ़ियों पर पायल पहने दो नंगे पाँव अपने पद-चिह्न छोड़ते हुए मन्थर गति से आगे बढ़ रहे हैं ...

एकाएक कैमरा पाँवों से हटकर ऊपर उठता है और एक तन्वंगी को अपनी गिरफ्त में ले लेता है ...

चिह्न पीछे छूट रहे हैं ...

परिधान बदल रहे हैं ...

दृश्य बदलता है ...

तन्वंगी रेत पर लेटी हुई है ... ऊँची स्कर्ट और अत्यन्त खुले गले का ब्लाउज पहने हुए ... गले में पहनी हुई हंसुली के बीच सेवक्षस्थल की रेखाएँ स्पष्ट फूट रही हैं ...

दृश्य बदलता है ...

तन्वंगी उठकर घुटनों पर चेहरा टिकाए हुए रेत के विस्तार को आँखों में भर रही है ...

देह पर है मात्र वक्षस्थल को ढँकता हुआ, अंगोछे-सा, कपड़े का कोई टुकड़ा और घुटने के नीचे तक फैली हुई लहंगा-स्कर्ट ...

लड़की की निर्वस्त्र पीठ कैमरे की आँखों में है ...

ऊफ् ?

अंकिता वितृष्णा से भरकर आँखें मूँद लेती है। यह कैसी पोशाकें हैं ? कपड़े होते हुए भी नग्न !

हम किसे पहनाना चाहते हैं ये पोशाकें फैशन और आधुनिकता की आड़ में ? इन्हीं का असर है कि पार्टियों में उसने युवतियों को बाकायदा होड़ करते पाया है कि आज की शाम कौन कम-से-कम कपड़े पहनकर लोगों की दृष्टि में आकर्षण का केन्द्र बनेगा ! लोगों की दृष्टि में आकर्षण का केन्द्र का गृध्र-दृष्टियों के बीच मांस का टुकड़ा ?

कुछ उबलता-सा अनुभूत होता है अन्तर्मन की दीवारों के बीच ...

ऐसा क्यों होता है कि किसी को कम कपड़ों में देखकर अचानक अपनी देह से कपड़े उतरते महसूस होते हैं ! शायद यह अपने सोचने की बात है, वरना सभी तो बैठकर देख रहे हैं .... तन्मय !

उजाला होते ही तालियों से अभिनन्दन होगा । नंगेपन को कलात्मकता का आवरण पहना, निःसंकोच बधाइयाँ प्रेषित होंगी । वह उजाला बरदाश्त कर पाएगी ?

अचानक बाथरूम जाने का-सा भ्रम देती हुई वह धीरे से सीट पर से उठी और शोभना कोई प्रतिक्रिया व्यक्त करे इसके पूर्व ही तेजी से दरवाजे की ओर बढ़ दी ... यह सही नहीं है । उद्दण्डता है । अपने को जबरन थोपने जैसा ! विवेक से काम लेना चाहिए उसे । नीता की यह पहली बड़ी सफलता है । उसे बिना बधाई दिए यूँ उठकर चल देना धृष्टता नहीं तो और क्या है ? मानती है और यह भी मानती है कि जितना अधिकार उसे अपनी तरह से जीने का है, सोचने का है, करने का है – औरों को भी है । उसे आपत्ति नहीं होनी चाहिए । हो तो उसे अपने तक ही सीमित रखे ।

नहीं, ये तर्क कन्नी काटने की सहूलियतें हैं । स्वयं को लालीपॉप थमाकर बच्चे की भाँति बहलाने का उपक्रम, ताकि नागरिक जिम्मेदारी से बचा जा सके । वह कोई कार्य निजी नहीं होता जो सार्वजनिक हित-अहित को प्रभावित करता है । प्रतिक्रिया प्रकट करने का उसे पूरा अधिकार है ... और करना चाहिए ... अपने कमरे के भीतर आप नंगे रहिए, कौन झाँकने, टोकने जाता है, किसे आपत्ति हो सकती है ? मगर घर से बाहर आप मात्र एक व्यक्ति नहीं होते – समाज होते हैं ...

* * *

हरींद्र उसकी बातों से शायद अधिक ही क्षुब्ध हो उठा । बोलते हुए अंकिता रुकी तो प्रत्युत्तर में उस ओर से कोई प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की गई ।

“हरींद्र, खूब सोचा है मैंने ! झेला भी है, यह उद्योग – उद्योग ही कहूँगी मैं इसे – शार्टकट की दुर्बलताओं से आपादमस्तक डूबा हुआ है और तुम भी जानते हो कि इस कार्यक्षेत्र में मैं मजबूरीवश ही आई हूँ मगर फिर दोहरा रही हूँ कि अगर आ ही गई हूँ तो अब मेरे लिए चुनौती और प्रतिष्ठा का प्रश्न है कि इसे इसके गुण्दोषों के साथ स्वीकार करूँ ! तुम्हारी चिन्ता लिखने को लेकर है – लिखना मैं बंद नहीं करूँगी । लिखना ही शायद मेरा बोलना है, प्रतिक्रिया देना है और मैं रिएक्ट करना चाहती हूँ – एक जागरूक व्यक्ति की भाँति ।”

* * *

नीता की तीखी, ठहरी हुई दृष्टि में उपहास का भाव छलछलाया । मगर उपहास-भाव से विचलित न होती हुई अंकिता ने बात आगे बढ़ाई, “जाहिर है कि उसकी कुन्द दृष्टि और प्रतिद्वन्द्वी मानसिकता के पीछे सदियों पुराना वह दासीत्व-भाव है जो उसे सुरक्षा, सम्मान, ‘पूजित’ जीवन जीने के भ्रम में झुनझुना -सा पकड़ा दिया गया, ताकि

वह संकीर्णताओं के कुहासों में जकड़ी हुई कृतज्ञ और समर्पित-सी पुरुष के सामन्ती इरादों के चक्रव्यूह में फँसी घुटती रहे ... जिसके दिल-दिमाग को घर की चारदीवारियों तक ही व्यापक और गहरा होने दिया गया। उस औरत से तुम एकदम से क्या उम्मीद करती हो? यह ... जागरूकता की नन्ही-सी लौ उम्मीद बँधाने और आश्वस्त करने के लिए काफी नहीं है कि वह कुछेक तनी मुट्ठियों में संगठित होकर, समाज में अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ने निकल पड़ी है?

"सोचो ... आधुनिकता की जिस परिभाषा को तुम जी रही हो, जीना चाहती हो, क्या तुमने अन्वेषित और अर्जित की है? नहीं! दरअसल, वह परिभाषा-अधिकार, आधुनिकता, समता और स्वतन्त्रता के नाम पर पुरुषों द्वारा ही अखबारों, पत्रिकाओं, विज्ञापनों, फिल्मों, पोस्टरों, स्लाइड्स के माध्यम से स्त्री को सौंपी जा रही है ... बड़ी चतुरता से काया-कल्प के बहाने उसको जिंस बनाए रखने का षड्यन्त्र! स्पष्ट है, स्त्री को आगे भी अपने अधीन बनाए रखने के सामन्ती इरादों को पुरुष इन हथकण्डों से सिद्ध कर रहा है ... क्या यही स्त्री को चाहिए? यही आधुनिकता-बोध को चेतनापूर्ण बनाएगा? कुरीतियों से भिड़ने की ताकत देगा? स्त्री अब भी इस्तेमाल हो रही है और तथाकथित भद्र, सम्पन्न, महत्त्वाकांक्षी आधुनिका कहलाने का शौकीन एक शिक्षित स्त्री-वर्ग, ठीक तुम्हारी तरह इन परिभाषाओं को आत्मसात् कर, पुरुषों से बराबरी का दम्भ जी रहा है ...

"दुःख तो यह है – आज का अधिकांश पढ़ा-लिखा विचारशील होने का दावा करता हुआ स्त्री-समाज, स्त्री-स्वातन्त्र्य, स्त्री-समानता और उसके अधिकारों की लड़ाई लड़ता हुआ भी नहीं जानता कि वे अधिकार वस्तुत: हैं क्या। कैसे होने चाहिए? किस रूप में चाहिए? उसकी सामाजिक छवि कैसी हो?

"इन दो चरम स्थितियों के बीच आँखें खुली रखकर समाज से अपने रिश्ते की बात तय करनी है। मैंने यह नहीं कहा – तुम्हारे कम कपड़े पहनने से स्त्री की सामाजिक छवि धूमिल होगी। मैं तो मानती हूँ – अब तक स्त्री की कोई सामाजिक छवि है ही नहीं। संघर्ष ही सारा यही है, चिन्ता भी उसकी सामाजिक छवि होनी चाहिए ... मैं जब ऐसा कहती हूँ तो मेरा तात्पर्य सिर्फ़ तुम्हारी विचारशीलता के बंद किवाड़ों पर दस्तक देना-भर है, ताकि इस्तेमाल की राजनीति को तुम समझ सको। सावधान हो सको। क्योंकि तुम निश्चय लड़ने में समर्थ हो ... दृष्टियुक्त संघर्ष में मेरी आस्था है।

"सच, नीता, मेरा वश चले तो मैं इन व्यवसायियों पर मुकदमा दायर कर दूँ और सभी को बरसों जेलों में सड़ने के लिए डलवा दूँ ताकि ..."

"यह तुम्हारे दिमाग का फितूर है ... कोई किसी का इस्तेमाल कर सकता है – कल क्या था, आज वह कितना है, इसे मैं कतई नहीं ओढ़ती-बिछाती। और मैं सोचती हूँ, औरों को भी यही करना चाहिए। आखिर लड़कियाँ इतनी छुईमुई क्यों है ...? क्यों वे सेक्स से आक्रान्त हैं? इस देश में हालत यह है, अंकू, कि किसी लड़के का किसी लड़की को गहरी नज़र से देख लेने मात्र से उसकी पवित्रता नष्ट होने लगती है। क्यों? पुरुष उसे क्या दे

रहा है, वह किन चीजों की हकदार है – यह कटोरा लेकर भिक्षाटन से नहीं प्राप्त होगा। उसे सबसे पहले अपने भीतर की कुण्ठाओं से मुक्त होना है।

"दृष्टि परिमार्जित करनी है – यानी सेक्स से पवित्र-अपवित्र होने की भावना से स्वयं मुक्त होना है। तभी– केवल तभी – वह समाज में मनुष्य की तरह जीवित रह सकती है – बराबरी पर। आखिर इसी समाज में पुरुष तो वर्जनाहीन जीवन जीकर भी कभी बिसूरता नहीं कि वह नष्ट हो गया। किसी को मुँह दिखाने के लायक नहीं रहा – समाज में अब उसका कोई स्थान नहीं। स्त्री क्यों नहीं मुक्त होती इन फरेबी मर्यादाओं से ? जिस दिन वह कुण्ठाओं से मुक्त होगी, उसके सारे कष्ट कट जाएँगे। वह नए आत्मविश्वास से परिपूर्ण होगी। निर्भीक विचरण कर सकेगी। यह हौवा जब उसके मन-मस्तिष्क से दूर हो जाएगा, पुरुष के हाथों से वे सारे कार्ड्स निकल जाएँगे, जिनके बूते पर वह स्त्री को घर, खेत, खलिहान, गली, मुहल्ला, स्कूल, दफ्तर अथवा समाज में दबोचने को उद्यत रहता है। जीवन के हर क्षेत्र में उसे दोयम दर्जे की मानसिकता में जिलाया है ... बस, इतना होने की भयंकर ज़रूरत है, तुम पाओगी, पुरुष अपनी औकात पर पहुँच गया है।

"स्त्री की सामाजिक छवि को दूषित करने के लिए तुम जैसी आधुनिकाओं को कोस रही हो, पुरुषों को कोस रही हो – उस स्त्री को क्यों नहीं कोसतीं जो फेरे लेते ही तोला-भर सिन्दूर के रूप में पति को खोपड़ी पर बाकायदा बैठाए दासीत्व-भाव को जीने में गौरव अनुभव करती है ! अनपढ़ औरत को छोड़ भी दें तो विश्वविद्यालय से डिग्रियाँ लेकर निकली ये छोकरियाँ माँग में पुरुष को सजाकर बैठाए रखने को इतनी आतुर क्यों होती हैं ? पुरुष से स्वतन्त्र होना है तो पहले उन्हें सिन्दूर पोंछना होगा ! बिछुए त्यागने होंगे ! दासीत्व के प्रतीक-चिह्न ! यह इस्तेमाल अधिक ख़तरनाक है। उससे तो पहले मुक्त कर लो उन्हें !

"यह हल नहीं है। इसकी आवश्यकता किसी हद तक है, मगर वर्जनाहीनता के रूप में नहीं ... और तुम्हारी दूसरी बात कुछ ज़रूर सोचने पर विवश करती है ! चलो, औरों की छोड़ो, बात मुझ पर हो रही थी, मैं उसी पर लौटना चाह रही हूँ और उसका जवाब भी देना चाह रही हूँ। तुमने जो कम कपड़ों की विवशता पर प्रश्नचिह्न लगाया है ... कोई विवशता नहीं थी मेरी। हाँ, बिकनी पहनने की बात आई, मुझे आपत्ति नहीं हुई। आखिर मैं जब भी तरणताल में तैरने जाती हूँ, धोती पहनकर तो नहीं तैरती। जब मैं निजी जीवन में तैरने के लिए वन पीस तरण-पोशाक या बिकनी का उपयोग करती हूँ तो तैरने के किसी भी दृश्य को उसी पोशाक में देने में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ?

"हाँ, जिन्हें इस तरह के दृश्यों को करने में संकोच अनुभव होता है, शोषण महसूस होता है, इस्तेमाल की बू आती है, वे विज्ञापनों में सिर्फ़ प्रेशरकुकर, जाम, जेली, मैगी और शर्बत बेचें। कोई मजबूरी नहीं है कि बिकनी पहनें। अगर वे इसे मजबूरी के रूप में बयान करती हैं, तो निश्चय ही यह अवसरवादिता है। छद्म है। और यह तो मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि इन दृश्यों से स्त्री का कुछ नहीं बनता-बिगड़ता !

"फिर तुमने उस फिल्म के कलात्मक पक्ष को तो एकदम ही नज़रअंदाज कर दिया ?"

"शायद।" अंकिता ने बहस से कटने के मूड में हाथ खींचे।

नीता की भौंहे चढ़ गईं, "यह जवाब नहीं।"

"कला और अश्लीलता के मध्य विभाजन-रेखा क्या है – यह जटिल मुद्दा है। और हम निरपेक्ष होकर इस विषय पर बात नहीं कर सकते।"

"मेरी समझ पर संशय है?"

"अधैर्य तो है! तुम जो कुछ करती हो, सामान्य जन के सन्दर्भ में उसे सोचने-समझने का कतई प्रयत्न नहीं करतीं – यह व्यक्तिवादी रवैया है, नीता! तुम्हें जो कुछ पहनकर अश्लील नहीं लगता, तरणताल की सुविधा का तर्क उसके साथ जुड़ा होने के बावजूद, मुझे अश्लील लगता है। वह सब कुछ अश्लील होता है, जिसे देखकर मन में अश्लील प्रतिक्रिया हो ... इरादों का कलात्मकता की आड़ में छिप पाना या छिपा पाना कठिन है। अभिव्यक्ति बड़ी पारदर्शी होती है ... तलछटी का रोम-रोम सतह-सा आँखों की सीमा में पसर आता है। चाहे जितनी अवधारणाएँ रचते-परोसते रहो ... हाँ ... फिर दोहरा रही हूँ, तुम्हारी खजुराहो वाली दूसरे नंबर की फिल्म सचमुच कलात्मक विज्ञापन फिल्म है ... परिपूर्ण। अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल! ऐसी फिल्में नहीं कर सकतीं तुम? इस बात को सोचकर ही हँसी आ रही है कि पोशाकों के प्रचार हेतु बनाई गई फिल्म में पोशाकें ही अदृश्य हैं!"

अगले ही पल अंकिता का स्वर अवसाद से टूटता हुआ प्रतीत हुआ, "स्त्री के अस्तित्व की तलाश तब तक पूरी नहीं होगी, नीता, जब तक वह वर्गों में बँटकर, स्वार्थों और सुविधाओं में उलझी, विभाजित होकर जीती रहेगी ..."

नीता ने गहरी क्षुब्ध दृष्टि से उसे देखा। अबोले ही उठी और ड्रायर का प्लग लगा, अलमारी के शीशे के सामने खड़ी हो, बालों के गुच्छे मरोड़-मरोड़कर उनका गीलापन सुखाने लगी – किसी आकार में ढालती-सी।

जब भी सामने होते हैं, सामने होते ही बहुत कम हैं, लेकिन ... जब भी होते हैं, इधर ऐसा ही होने लगा है कि उसकी भीतर की ऊष्मा पक्ष-विपक्ष में बँटने लगती है।

लगता भी है अंकिता को – नीता का अपना जीना है, जीवन-शैली है। उसमें असंतोष का कोई सिरा झाँकता नहीं नज़र आया कभी। उसे छद्म लगता रहे तो लगे। नीता उससे रत्ती-भर नहीं दरकती ...

बहरहाल, इस असुखद संवाद से बचना था उसे। सम्भव नहीं हो पाया; जानते हुए कि खूँटे से बँधे रहकर न स्वस्थ बहस हो सकती है, न सही-गलत का सूक्ष्म, स्वीकार्य विवेचन। जो मनवाए भले न, एक परिणाम अवश्य निचोड़कर रख दे। कुछ भी नहीं हुआ।

एक बदलाव भीतर जन्म ले रहा है। दबे पाँव अपने-आप – हस्तक्षेप दखल नहीं प्रतीत होता अब उसे।

फिर ?

यही कि ये हस्तक्षेप और कुछ नहीं ... कन्धे पर हाथ के स्पर्श से उसे अपने होने की अनुभूति से गुजरने देना है ...

आगे कोई बात नहीं हो सकती और अब नीता को मि॰ भोजराज के प्रस्ताव के विषय में बताने का न उत्साह मन में शेष है, न औपचारिक सूचना दे पाने की सामान्यता।

वह जानती है कि इस सूचना से नीता को हार्दिक ख़ुशी होती – असीम, विजयमिश्रित ख़ुशी । मि॰ भोजराज से सम्पर्क के संकोच को उसी के आग्रह से तो निरस्त किया था !

बाद में विदित होने पर आहत होगी। आखिर छुपाई क्यों उससे इतनी बड़ी बात !

पाँच

क्षण-भर को वह विचलित-सी हुई। सोचकर कि उसके समक्ष कोई मित्र या सहकर्मी नहीं, बल्कि उसका बॉस बैठा हुआ है। एक उद्योगपति-व्यापारी ! जिसकी भौंहों का मामूली-सा उठाव उसे दूध में से मक्खी की भाँति निकाल फेंकेगा । वह अपने जीवन का हाथ आया सबसे सुनहरा अवसर खो देगी । सामने होगी फिर वही अनिश्चितता की विकराल अन्धी खोह ... खोह की आँतों में जीवन से रिसते सारे सम्पर्क ... लेकिन, जो उसकी चेतना को कचोटता हो, उसे स्वीकार कर जीवन से सम्पर्क की कामना पाले ?

"कारण अनेक हैं ..."

"जैसे ?"

"शैलेंद्रजी अति व्यस्त हैं ..."

"यह कोई अवगुण नहीं ?"

"अवगुण बन चुका है..."

ठहरकर वह तनिक अपने को सँजोने लगी – जैसे लक्ष्य साधने के पूर्व गुलेल की रबड़ को शक्ति-भर पीछे खींचते हैं।

"उनके पास न पहले जैसा परिश्रम है, न परिणाम, न कल्पनाशीलता । हमारी एजेंसी को अभी अपनी प्रतिष्ठा बनानी है। बाजार में उत्कृष्टता का विश्वास अर्जित करना है। प्रतिष्ठा एक बार बन जाए तब उन्नीस-बीस का फर्क महत्त्व नहीं रखता, लेकिन शुरुआत में यह जोखिम नहीं उठाया जा सकता। प्रत्येक चीज पर गौर किया जाता

है। फिल्म नहीं ... क्लाइंट्स को एक करिश्मा चाहिए, वह करिश्मा हम नाम से नहीं, काम से ही पैदा कर सकते हैं।" उसने सीधे मि० भोजराज की आँखों में देखा, "और शैलेंद्रजी यह करिश्मा पैदा करने में सर्वथा असमर्थ हैं ... कहाँ उनके वज्रदंती, संदल, पॉन्ड्स की विज्ञापन फिल्में", कहाँ 'खरगोश छाप अगरबत्ती' का सतही, सपाट दृश्यांकन! फिलहाल निर्णय सुरक्षित रखें! विचार करें इस मुद्दे पर ... पता नहीं नितिन मेहता पर आपकी दृष्टि कैसे नहीं गई ..."

वे शैलेंद्र की बात पर प्रतिक्रिया न देकर उसके नितिन मेहता के जिक्र पर अर्थपूर्ण मुसकान मुसकराए बिना नहीं रह सके, "नितिन मेहता में आपको व्यक्तिगत दिलचस्पी है?"

सवाल उसे अच्छा नहीं लगा। बोली, "उनके काम की मुरीद हूँ ... आपने उनकी 'लाइटोरियल' आदि विज्ञापन फिल्में ..."

मि० भोजराज ने उसकी बात पूरी नहीं होने दी, "हो सकता है, नितिन मेहता बड़े समर्थ सिनेमेटोग्राफर हों ... शैलेंद्र के मुकाबले का न वे नाम हैं, न काम। मैं उनकी संभावना से इनकार नहीं करता ... न कोई दुराग्रह पाले हुए हूँ। फिलहाल, शैलेंद्र से मेरी बात हो गई है। वह हमारी फिल्मों को यथेष्ट समय देगा ... अंकिताजी, शैलेंद्र पहला व्यक्ति है, जिसने आपके विषय में मेरे निर्णय की सराहना की।"

"की होगी..." उसका स्वर कड़ुवा हो आया। अलका गिरिराज के साथ उसकी अभद्रता स्मरण हो आई...

पंचगनी की घटना है। आधी रात को धुत्त हो शैलेंद्र उसका दरवाजा खटखटाने लगा था और अलका के दरवाजा खोलते ही तुरन्त भीतर घुसकर शैलेंद्र ने लॉक चढ़ा दिया था। बगल के कमरे में ही उसकी पत्नी सो रही थी ...

शोर सुनकर सबसे पहले पत्नी की नींद उचटी। पूरी यूनिट के लोग एकत्र हो गए। पत्नी ने आँखों में उमड़ते अपमान के आँसू घुटकते हुए अलका से पति के उद्दण्ड आचरण के लिए क्षमा माँगी थी ...

"वैसे, आपने चर्चा चलाई है तो मैं इस सन्दर्भ में सोचूँगा। आपके इस तर्क से मैं सहमत नहीं हूँ, अंकिताजी, कि शुरुआत में लोग नाम नहीं, काम देखते हैं। बल्कि स्थिति बिलकुल विपरीत है, शुरुआत में लोग काम नहीं, नाम देखते हैं। वे नाम जो बेहतर काम की गारंटी साबित हो चुके हैं और भविष्य की गारंटी देते हैं..."

प्रतिक्रिया के लिए उन्होंने अंकिता की ओर देखा।

वह उन्हें ध्यान से सुनती हुई-सी लगी।

* * *

"ठीक है," उन्होंने एक पल में जैसे कोई निर्णय ले लिया, "तब ऐसा करिए, हमारी बाजार में शीघ्र आ रही बिजली की स्वचालित कपड़ा धोने की मशीन को लेकर दो-तीन रोज के भीतर एक बढ़िया प्रजेंटेशन तैयार कर डालिए – गृहिणियों की सुविधा के लिए देश में सिर्फ़ हम, सिर्फ़ हम इसे पहली बार बना रहे हैं ! भारतीय गृहिणियों की आवश्यकतानुसार ! पूर्णतः स्वचालित ! बस, प्रोग्रामिंग करके रख दीजिए कपड़े धुलेंगे, निचुड़ेंगे और अस्सी प्रतिशत सूख जाएँगे ... गृहिणियाँ आराम से अपने कामकाज के लिए निकलकर बाहर जा सकती हैं ... खैर ... मशीन का लिट्रेचर आपके पास सोम को पहुँच जाएगा। आप हमें प्रजेंटेशन दीजिए कि उसकी बेसलाइन क्या होगी। उसे अखबारों, पत्रिकाओं, बोर्डों, रेडियो, दूरदर्शन आदि पर हिन्दी, अंग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओं में किस तरह प्रस्तुत किया जाएगा ... हम खाता बढ़ा देंगे ..."

उसके चेहरे पर मैदान मार लेने वाला विजित भाव छलक आया, "बहुत बढ़िया रहेगा, सर !"

"दरअसल, हमारे इस उपकरण को बाजार में आने में लगभग छह महीने और लग सकते हैं। हमारी पूरी कोशिश है कि तीन-चार महीनों की अवधि में मशीन बाजार में आ जाए। उसमें सफलता मिलती है या नहीं, यह और बात है ... मगर पूर्व-प्रचार में कोई हर्ज नहीं। बल्कि फायदा ही हो सकता है, अगर प्रचार के साथ हम आरक्षण की बात भी जोर-शोर से प्रसारित करें ! मशीन की कीमत साढ़े दस हजार होगी। हम उपभोक्ताओं से बड़े आराम से हजार रुपये अग्रिम आरक्षण के नाम पर जमा करवा सकते हैं। और उसी क्रम में आगे चलकर उन्हें डिलीवरी देना शुरू कर सकते हैं ..."

सुनकर वह स्तम्भित हो उठी।

छह

रीना को इस अप्रिय प्रकरण से वितृष्णा हो रही है। स्वाभाविक है। अम्मा के जीवित रहते न किसी बहू को उनकी कभी चिन्ता हुई, न आवश्यकता। होती तब भी अम्मा कौन अपनी देहरी छोड़तीं। न वे रुपयों-पैसों की मोहताज थीं, न देख-भाल की। बाबूजी की पेंशन नियमित आती थी, दो दुकानों का किराया ऊपर से ! सेवा-टहल के लिए नाऊन-बारिन सिर में तेल ठुकवाने से लेकर हाथ-पाँव मिंजवाने तक। बड़े और मंझले भैया शहर छोड़कर भविष्य सँवारने अन्य शहरों को मुड़ गए। अम्मा की इच्छा थी कि अपनी देहरी पर बने रहते। मगर उनकी उन्नति को सोचकर उन्होंने कभी कोई जिद्द नहीं ठानी। एक भैया ही बचा जो शुरुआत में रीना की कलह के बावजूद घर छोड़कर बाहर नहीं गया – इस तर्क के साथ कि जैसी नौकरी वह करना चाहता है, यह शहर उसे दे रहा है और सिर्फ़ अलग रहने के मकसद से दूसरे शहर की ओर बढ़ना व्यर्थ की जद्दोजहद है। छोटे शहर की मान-प्रतिष्ठा बड़े शहर की बनिस्बत बड़ी होती है। यह उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि ये सारे तर्क उतने महत्त्वपूर्ण और वजनदार इसलिए भी हैं कि वह अम्मा को छोड़कर बाहर नहीं रह सकता।

बीतते समय ने रीना को उस घर का हिस्सा बना लिया। सभी ने महसूस किया कि अम्मा धीरे-धीरे उत्तरदायित्वमुक्त होने लगी थीं। दक्ष गृहिणी की भाँति रीना ने जैसे पल-पल का हिसाब अपनी मुट्ठियों में बाँध

लिया। कौन आ रहा है, कौन जा रहा है, किसे कब क्या विशेष पसंद है – सब कुछ अम्मा के मुँह से सुनकर उसने स्मृति में ऐसे सँजो लिया था कि बड़े भैया संध्या को घर पहुँचते नहीं कि चाय के साथ उनके सामने गरम-गरम गुलगुलों की तश्तरी आ जाती और कटहल के अचार के संग मुंगौड़े– चाहे बड़े भैया के घर में पाँव रखते ही उसे गरम पानी में मूँग की दाल भिगोनी पड़ी हो ...

पेटियाँ उठवाकर कमरे के बीचोबीच लाकर रख दी गई हैं। जिस कोठरिया में पेटियाँ रखी थीं, वह बड़ी संकरी है। एक संग इतने लोगों का वहाँ खड़ा हो पाना या बैठ पाना सम्भव नहीं था। समवेत निर्णय लिया गया कि सामान यहीं उठा लाया जाए।

ताला खोलने ताऊजी सरके तो मन एक बार फिर विद्रोही होने लगा – अधिकारपूर्वक बरज दे उन्हें। खबरदार जो उन्होंने अम्मा की सहेजी चीजों को छुआ ! यही व्यक्ति है, यही ... जिसने बाबूजी के आँख मूँदते ही अम्मा के साथ अनगिनत छल किए। बाबूजी की बर्मा की समूची कमाई हड़प गए ... कैसे पैसे ? कैसा सोना ? कौन-सा घर ? मैंने हजारों रुपये फूँक दिए दीवारें पक्की करवाने में। आधी रकम गिन दो तब देहरी में पाँव देना। अम्मा हिम्मती थीं। आजी ने साथ दिया। कई घर बदलने के पश्चात् पाई-पाई जोड़कर किराये के इस मकान को उन्होंने मकान मालिक से खरीद लिया। वरना वे कहाँ होते आज, कौन जाने ! दर-दर की ठोंकरें खाकर भी इन लोगों के आगे आँचल न फैलाने वाली उस स्वाभिमानी स्त्री के बच्चे आज ...

कितनी असहाय हो रही है वह ... ! क्या हो गया इन्हें ? क्यों इनकी जुबानें तालू से चिपक गई हैं ! यही दुर्गति करनी थी इन्हें अम्मा की सँजोई गई चीज-वस्तुओं के साथ ! पथरा गई हैं संवेदनाएँ ...

दीवार से टिककर उसने आँखें मींच लीं। कानों में गीदड़ों की चीखें गूँज रही हैं ... सिर पर चीलें मँडराती महसूस हो रही हैं ... बच नहीं सकती। एक अरराहट के साथ पेटी का ढक्कन खुल गया है। बोलती क्यों नहीं वह ? नहीं बोल सकती – 'ताऊजी, अपने अपवित्र हाथों से अम्मा की चीजों को स्पर्शित न करो ... न करो ! ये अमानत हैं ...!'

ओठ अचानक तपने से लगे। अब ... अब ...

नहीं, यह उसका घर नहीं है। भाइयों और भावजों का है। वे स्वतन्त्र हैं। जो चाहें, सो करें। उसे दखल देने का अधिकार नहीं है। उसकी भावना को हस्तक्षेप माना जाएगा। दिमाग में फटती उत्तेजना आँखों में पिघलने लगी है। कहीं मन स्वीकारता है कि अब यह घर उसका घर नहीं है ? अम्मा ने भी तो एक बार कहा था, 'बिटिया-बेटार की ख़ातिर घर की देहरी तबै तक, जबै तक महतारी-बाप जियत हैं, अऊर अब तो महतारी ही महतारी बची है ...'

हिस्से लग रहे हैं ...

कमला मौसी ने कुछ कहा है शायद। लहंगा-ओढ़नी के विषय में कि लहंगा-ओढ़नी बिट्टी को दे दो ... जीजी की आन्तरिक इच्छा थी कि बिट्टी की जयमाला के लिए मैं खूब गोटेदार बनारसी लहंगा-ओढ़नी बनवाऊँगी। नहीं बनवा पाऊँगी तो उसे अपनी ही पहना दूँगी।

किसी ने कोई प्रतिक्रिया नहीं प्रकट की।

कपड़े बँटे। बरतन बँटे। छोटी-छोटी डबुलियाँ बँटीं ... शीशे, कंघे, चोटीला, क्रोशिया के परदे, पेटीकोट की लेस ...

आभूषणों की पोटली भी खुली। सोने की। चाँदी की। चाँदी के रुपयों की।

*   *   *

अंकिता भावावेग में फूट पड़ी, "मुझे क्षमा कीजिए ... मैं यहाँ हिस्सा-बाँट लेने नहीं आई ... सुबह जा रही हूँ। आप लोग इज्जत देते तो अम्मा के न रहने के बावजूद मेरे लिए देहरी बनी रहती ..."

"दीन बनने की ज़रूरत नहीं, बिट्टी ! अम्मा दूरंदेशी थीं। सूंघ लिया था उन्होंने आने वाले ख़तरों को कि उनकी आँखें मुँदते ही उनके बेटे-बहू उनकी बेटी के संग कैसा क्षुद्र व्यवहार करेंगे !"

धैर्य छूट गया – अचानक कुएँ की घिरनी से छूटी रस्सी की तरह। ऊपर आकर सोते हुए टुन्नी को अंक में भरकर फफक पड़ी। महसूस हुआ, टुन्नी नहीं ... सूखे वक्षस्थल लिए अम्मा की छाँह-भरी छाती है ... जिनकी गदराहट-छीजी पसलियों में बरगद की सघन शाखाओं सदृश सुरक्षा-भाव था ...

यही घर है ... सुधांशु से अलग होने पर, जिसने उसे असुरक्षा के गहरे मनोद्वन्द्व से मुक्त किया था, आज वही स्वार्थ-प्रेरित हो उस शक्ति-पुंज बनी धारणा की निर्मम हत्या करने को उद्यत है !

*   *   *

गहरा उच्छवास पीछे छूट गया। सीढ़ियों से उतरती जूतों की भारी पदचाप मध्यम होती आँगन में विलीन हो गई। कितने अजीब संस्कार हैं ! व्यक्ति से कट जाने ... सदैव के लिए सम्बन्ध समाप्त हो जाने के बावजूद, सम्बोधन नहीं कटते ... भाई-बहनों के लिए सुधांशु अब भी जीजा है। ताऊजी आदि के लिए इस घर का जमाई ...

आँखें पिरा रही हैं। आँखों पर कोहनी रखकर वह टुन्नी की बगल में धीरे से लेट गई।

'मिलना चाहता था पिछली बार ...'

क्यों ? ... किसलिए ?

कभी सोचा होगा सुधांशु ने... देह और मन का बनवास ... उसकी चाहनाओं के विरुद्ध उसे विरक्त करना ... तप-सा असाध्य उसे साधना सहज है। आखिर वह भी मानवीय है ... उसके भीतर की स्त्री में किसी रोमिल छाती की सुदृढ़ सघन छाँव की ललक नहीं सिर उठाती ! माँगा था मात्र भीतर की उस स्त्री का सम्मान। अस्तित्व का स्वीकार। और ... इस्तेमाल से विद्रोह।

बहुत सोचा था ... वैचारिक मतभेद उनके दाम्पत्य की ऊष्मा को चाटता घुन नहीं था, घुन था उसका जबरन आरोपण ! सुधांशु के भीतर के अहंकारी पुरुष की निरंकुश प्रवृत्ति! जो उसकी भावनाओं को चुटकी पर धरे सिक्के की भाँति उछालती चित भी मेरी, पट्ट भी मेरी के खिलवाड़ में आनन्द पाती रही ...

तलुवों के छालों से रिसता पानी अब सूख चुका है... पड़े हुए डट्ठों को सुई से कुरेद वह उन्हें मवाद से क्यों भरना चाहती है ...

नहीं चाहती ... इसीलिए तो पाषाण हो आई है – स्वयं अपने लिए कवच बनती !

सात

वितृष्णा सिर उठाने लगती है स्वयं को कटघरे में खड़ाकर। तनी उँगली-से प्रश्न भाले हो उठते हैं। शनैः शनैः उसकी ओर बढ़ते ... यहाँ सुधार की उम्मीद है ? नख से शिख तक स्वार्थ में डूबे हुए लोग ! जहाँ न भावना का मूल्य है, न संवेदना को जगह ! मोटी चमड़ी ... असंवेदनशील ! व्यक्ति नहीं, आँकड़े हो उठे इन्हीं संकल्पहीनों के मध्य काम करने की ठानकर आई है वह !

हरींद्र कितना उग्र हो आया था बहस में ...

'किस दुनिया की बात कर रही हो ? जिनके लिए परिवर्तन और क्रान्ति हेब्बार या हुसैन की भुखमरी और गरीबी की सजीव कलाकृतियों की भाँति बैठक में सजावट का अंग है ? उस संसार की, जहाँ इतना दलदल निर्मित किया है उन्होंने स्वयं – स्वर्गिक परिभाषाओं से मण्डित कर कि अब वही परिभाषाएँ उनकी समझ, सोच, स्पन्दन, कर्म, भावनाएँ हो उठी हैं और उसी दलदल में सूअरों की भाँति लोटते पड़े हुए मस्ताते वे, उसे ही जीवन का सत्य और सत् मान रहे हैं ... तुम संकल्पबद्ध होकर भी कहाँ से लाओगी वे हथौड़े, वह छेनी जो उनकी खुली आँखों की दृष्टि-शून्यता को भेद सके .... खण्डित कर सके ?

'अंकू ! किसे जगाने की सोच रही हो ? यह आँखें खोले हुए लोगों का खेल है। तुम लड़ना चाहती हो संक्रामक रोग-सी फैलती हुई विज्ञापन-संस्कृति के घातक कीटाणुओं के विरुद्ध, जो लोगों को अपने विष-दंश से, 'व्यक्ति' से वस्तु में परिवर्तित करती जा रही है ! ऐसा नहीं है कि मैं इसे ख़तरा नहीं मानता और इसके कुपरिणामों से आगाह नहीं हूँ। देखकर रोष उपजता है। मस्तिष्क कुछ कर गुजरने की चेतना से सन्नद्ध भी हो उठता है। प्रश्न उठता है – प्राथमिकता क्या है ? और इस सन्नद्धता को हम कहाँ खर्च करें और किस पर ? ... हमें इन सियारों की

बनिस्बत उन्हें जागरूक करना है, जो अनजाने ही चकाचौंध के मकड़जाल में फँसकर उनका ग्रास बनते जा रहे हैं। वे सावधान हो जाएँगे तो इन सियारों का ग्रास बनने से स्वयं इनकार कर देंगे ... और अपनी जेबें खाली करने से भी ...'

वही पुरानी बात तनाव के क्षणों में साँप के फन-सी तनने लगती है कि इस व्यवस्था के लिए वह सर्वथा अनुपयुक्त है।

थकने लगी है। नहीं, अन्तर्मन विक्षोभ की आँच में उत्तप्त हो सुर्ख अवश्य हो उठता है, गलत नहीं।

गलत नहीं या उसे स्वीकारती नहीं, जो एक लक्ष्य साधा है उस संकल्प के चलते ! अहम् से पगी कि जिसके प्रकट होते ही उसे अपने नंगे हो जाने का भय सताने लगता है ?

ऐसा नहीं है। संकट के क्षण उसे गहरे निष्क्रिय कर देते हैं – विरक्ति की सीमा तक ... उनका धर्म है ! लेकिन कुछ तो है जो भागने के लिए तत्पर होते पाँवों में अनायास बेड़ी-सा कस जाता है। कुछ तो कर पाई है इन्हीं के बीच अपनी नीति-रीति अनुसार ... धारा के विरुद्ध संघर्ष करते हुए आखिर माध्यम को इस क्षमता तक पहुँचा ही दिया है कि वह अपने पाँवों पर खड़ी हो सके ... खड़ी है ... तराजू लेकर बैठी ज़रूर है हाट में, लेकिन डंडी मारकर लूट के लाभ से इस खड़े होने को सुदृढ़ नहीं कर रही। और इस बात को भी रेखांकित किया जा रहा है कि प्रचार ध्येय ज़रूर है उनका, मगर उसकी भाषा, कहने का तरीका पहले की अपेक्षाकृत स्तरीय हुआ है। यह उपलब्धि नहीं है ?

अंजुरी-भर ही सही ... आखिर यह ज़मीन कहाँ से आई जो उसके पाँवों के नीचे है ...

चप्पल उतारकर नंगे पाँव उसने ज़मीन को अनुभव करना चाहा। गुदगुदा गलीचा तलुवों के नीचे सुरसुरा आया। चौंककर पाँव उठा लिए उसने। कैसी गुलगुली-सी छुअन-साँप की देह-सी ! ये गलीचे ज़मीन पर क्यों बिछा दिए जाते हैं ? मनुष्य को अपनी ठोस ज़मीन से वंचित करने के लिए ! उसे अपने-आपसे ... अपने होने के बोध से काटने के लिए ? वह हटवा देगी इन्हें हरीराम से कहकर ...

* * *

उसके लिए सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा है – आत्मनिर्भरता। स्त्री आत्मनिर्भर होती तो आज सुरक्षा की परिभाषा उसके हिस्से में कुछ और ही होती।

मन की बात और है। वह कोना न आत्मनिर्भर होकर लहलहाता है, न पराश्रयी होकर उजड़ता है। उसे कुछ और चाहिए – संवेदनाओं का संवेग ! संग ! सोच ! जीना ! समझना ! परस्पर सम्मान ! न मिले प्रतिदान तो क्या, जीवन का यह नितान्त अलग पक्ष है। उसकी अपनी दुनिया। इस अन्तर्निहित दुनिया के आबाद हुए बिना भी जिया जा सकता है। जी नहीं रही वह ? दुष्कर है। इसलिए कि इस छोर से उस छोर तक संतुलन-सूत्र अनुपस्थित

होता है ! लेकिन असंतुलन व्यवधान नहीं बोता! इस जटिलता से स्त्री को गुजरना ही है। असंतुलन केशून्य को सिर्फ़ इसलिए भर लेना उसके लिए ज़रूरी नहीं कि बिना पुरुष के सम्पूर्ण सुरक्षा-भाव पूरा नहीं होता ...

एक विद्रूप-भरा अट्टहास उसके अन्तर्प्रकोष्ठ को कँपा गया। कुछ भी कह देना कितना सहज होता है ... सहज होता है झंझावात के ईंट-ईंट रौंद जाने के बाद भग्न बस्ती को तिनके-तिनके सँजोना ?

आठ

कारमाइकल रोड ...

चौकन्नी, दृष्टि कभी सड़क पर, सड़क छोड़, फुटपाथ से सटी दुकानों पर – दुकानों से भी ऊपर 'संजीवन प्रसूतिगृह' का बोर्ड तलाशती। माँ ने कहा था कि ठीक 'विमल फेब्रिक्स' की मिल की दुकान के एकदम बगल में हैं संजीवन की सीढ़ियाँ। विशाल दुकान है। दूर से ही बोर्ड दिख जाता है। ढूँढ़ने में कठिनाई नहीं होगी। वह कछुआ चाल से आगे बढ़ रही है। कहीं बोर्ड आँखों की पकड़ से चूक न जाए। छूट गया तो बहुत आगे जाकर गाड़ी मोड़ पाएगी। बीच में कहीं 'यू' टर्न नहीं है। मील-भर का चक्कर लगाकर लौटेगी तो दुकानों पर पुनः आँखें गड़ाए रखने की परेड !

वह ... वह रही विमल की दुकान ! बाहर 'शो रूम' में विमल की खूबसूरत साड़ियों में लिपटी निर्जीव तन्वंगियाँ .... और ठीक ऊपर सटा हुआ 'संजीवन प्रसूतिगृह' का बोर्ड ! गाड़ी कहाँ खड़ी करे ? फुटपाथ से लगाकर खड़ी करना उचित नहीं। पता नहीं कितना समय लग जाए ! इस बीच कहीं क्रेन से गाड़ी उठ जाए तो ? गाड़ी बंद कर किसी दुकान वाले से पूछ न ले कि कहीं आसपास पार्किंग के लिए कोई सुरक्षित जगह है या नहीं। सड़क से सटी हुई गगनचुम्बी इमारतें हैं। लोग-बाग रहते हैं। कार्यालय भी होंगे ही। कहाँ खड़ी करते होंगे वे अपनी गाड़ियाँ ?

"आगे बेन ... वो बगीचा है न नगरपालिका का, उसके बगल मेंच पार्किंग है ... सिद्धा जाओ।"

"वो आगे चौराहे वाली लालबत्ती पार करके ?"

"बरोबर बेन, बरोबर ..."

* * *

तेजी से सीढ़ियाँ फलाँगती हुई वह पहले माले पर स्थित 'संजीवन' में दाखिल हुई। भीतर कितना विस्तृत है ! बाहर से देखकर यह अनुमान ही नहीं होता कि छोटे-से बोर्ड के पीछे एक बेहद साफ-सुथरा अस्पताल डैने फैलाए हुए है। यही प्रतीत होता है कि चार-पाँच कमरों का कोई मामूली-सा 'प्रसूतिगृह' है यह। दालान में सम्बन्धित चिकित्सकों की सूची खासी प्रभावशाली है – उसकी उड़ती दृष्टि ने यह भी भाँप लिया।

"कमरा नंबर ग्यारह?" हँफनी-सी छूट रही है।

नर्स ने उसे व्यस्त भाव से देखा – "ये बाजू से सिद्धा जाना ..."

* * *

कमरे का द्वार खोलते ही स्पन्दन तीव्र हो उठा। खिले गुलमोहर-सा उद्दीप्त नीता का व्यक्तित्व किस असहाय अवस्था में पाएगी ! बगुले के पंखों-सा श्वेत पलंग खाली दिखा। स्टैंड में ग्लूकोज और रक्त की खाली बोतलें झूल रही थीं। माँ दरवाजा खुलने की आहट से लगभग चौंकती हुई-सी सोफे से उठकर उसकी ओर लपकीं और उससे लिपटकर बच्ची-सी फूट पड़ीं – अस्पताल के अंकुशों से सतर्क स्वर भींचे।

बड़ों से सांत्वना पाती रही है – देने में सर्वथा अनभिज्ञ ! शब्द कहाँ से लाए उन्हें सांत्वना देने को? न जाने कितनी प्रसूतियाँ देखी होंगी माँ ने। स्वयं की, बहुओं की, नाते-रिश्तेदारों की ! भयंकर संकट के क्षणों की साक्षी वे आज अचानक इतनी दुर्बल हो आई हैं ... विद्रोहिणी पुत्री को सदैव कोसने वाली माँ ! ऊपर छितरी विरल दूब की गहरी जड़ों-सी ! मिट्टी से गहरे आबद्ध ...

* * *

"नीता कहाँ है?"

"लेबर रूम में ले गए उसको ... अंग्रेजी में कुछ बोल रहे हैं... मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा।"

* * *

लेबर रूम के दरवाजे को फलाँगता हुआ चरम चीत्कार उसका दिल दहला गया ... नीता का स्वर है यह? पीड़ादग्ध ! उफ् !

दरवाजा ठेलकर बाहर आती नर्स ने उसके कुछ पूछने से पूर्व ही उसे सवालिया दृष्टि से टटोला – "इदर नहीं खड़े रहने का ... कमरे में जाके बइठो !"

नर्स की बात अनसुनी कर उसने अधैर्य से प्रतिप्रश्न किया, "ग्यारह नंबर वाली नीता से मिल सकती हूँ ... मैं अंकिता हूँ ... उसकी ..."

नर्स का रवैया अचानक बदल गया। विनम्र हो आई – "अंकिता ! आप पहले रजिस्टर में साइन करो ... नीता मैडम ने बोला, उनका ऑपरेशन का अनुमति आपसे लेना ... सिर्फ़ आपसे ... आइए !"

नर्स बायीं ओर बने एक केबिन का दरवाजा ठेलकर भीतर गई और तत्काल हाथ में रजिस्टर लिए हुए बाहर आई।

"इधर ... नीचे।"

* * *

"केस बोत नाजुक है ... डॉ॰ चंद्रा ऑपरेशन के वास्ते नीचे आ रही हैं ... कैसे जाने को देगा मैं ?"

क्या करे ! नर्स की विवशता अपनी जगह है। अनुशासन कैसे भंग कर सकती है वह ! नीता को शल्य-क्रिया कक्ष में ले गए हैं। वहाँ तो सम्बन्धित नर्सों के अलावा बिना अनुमति के अन्य नर्सों का प्रवेश भी निषिद्ध है। तब उसे कैसे जाने दिया जा सकता है ... संक्रामकता के भय से !

मगर उसका मन किसी दलील में नहीं बंध रहा। क्षण-भर के लिए ही सही, उसे नीता को देख लेने दें। छू लेने दें। उसे जता-भर दे वह कि मैं आ गई हूँ ... साहस न खोना !

* * *

शल्य-क्रिया कक्ष में अस्त-व्यस्त नीता को दो नर्सों ने सँभाल रखा था। उस पर दृष्टि पड़ते ही चरम पीड़ा से विकृत मुख लिए नीता ने विह्वल हो बिस्तर से उठने का प्रयास किया। उसने बरज दिया। नीता के माथे पर चिपके-बालों को छुड़ाकर उँगलियों से सुलझाया। उसके पपड़ियाए होंठों पर हथेली फेरी। जैसे हफ्तों बाद माँ अपने दुधमुँहे बच्चे से मिल रही हो। उसकी दुरवस्था से विचलित, अकुला रही आँखों को जबरन मुसकान से भरने की चेष्टा की।

"माँ बनना स्त्री का अधिकार है ... तुम तो स्वयं यह सौभाग्य चाहती थीं ... हिम्मत न हारो ..."

"कुछ नहीं हो सकेगा ... चाहने-भर से ... न मैं बचूँगी, न बच्चा ..." नीता की भिंचती आँखों से हताशा ढुलक आई।

आँखों के संकेत से नर्स ने उसे बाहर जाने का इशारा किया। उसने झुककर नीता का माथा चूमा, भीतर-ही-भीतर गीली होती, "मैं यही हूँ ... इस दरवाजे के बाहर ... माँ भी हैं, सुधीरजी भी।"

"दैट बास्टर्ड ... उसने मुझे छला है ... प्रेम-व्रेम कुछ नहीं ... काम-सम्बन्धों का भूखा भेड़िया ... आई हेट हिम ..."

* * *

नीता ने तीखे होकर जवाब दिया था, "सुधीर शादीशुदा है दो बच्चों का पिता है, उसकी पत्नी है ... तो क्या ? ... पत्नी ... या मात्र एक व्यवस्था ? माता-पिता द्वारा सौंपी गई व्यवस्था ! जो उन्हें सास-ससुर बनने के संतोष से ही नहीं पूरती, तथाकथित कौटुम्बिक और उसके सामाजिक दायित्व से भी उऋण करती है। जितनी खोखली रीति-नीति, उतनी ही आडम्बर-पुती उसकी महत्ता ! ऊपर से पुष्ट, भीतर से पोली ! सात फेरों के स्वांग में रची-बसी ...

"वास्तविक अर्थों में अर्चना उसकी पत्नी होती तो वह परस्त्री में साथ ढूँढ़ता ? आकर्षित होना अलग बात है, साथ ढूँढ़ना वह असंतुष्टि है, अनुपलब्धि है, बोध है, जिसकी सघन ललक उसे अनायास मेरी ओर खींच लाई है। जानती हूँ – सुधीर के मन-प्रांगण का वह कोना सर्वथा रिक्त है और मैं 'पत्नी' नहीं, 'सहचरी' बनना चाहती हूँ – उस रिक्त कोने को ढेरों फूलों से भरती उसकी जीवन-सहचरी ! 'पत्नी' शब्द से मुझे दासीत्व की बू आती है... इस शब्द ने हमारे समाज में अपनी गरिमा खो दी है ... हम प्रेम करते हैं। हमारा प्रेम मात्र आवेग नहीं है। न क्षणिक उन्माद ! यह परस्पर संवाद है। परिपक्व ! परिपक्व मानसिक जुड़ाव ! हम वर्जनाहीन होकर जिएँगे ! ... बन्धनहीन होकर बँधेंगे ! रूढ़िमुक्त हो ... मानसिक वरण !"

* * *

"जिस वर्जनाहीन समाज की परिकल्पना की तुम वकालत कर रही हो या तुम्हारी तरह विचारशील होने का दम्भ भरती अनेक अन्य आधुनिकाएँ ... क्या तुम्हें नहीं लगता कि इन थोथे तर्कों की आड़ में तुम पुरुष को वह छूट दे रही हो कि वह अनुत्तरदायित्वपूर्ण होकर आत्मसुख को किसी भी सीमा तक भोगने के लिए स्वतन्त्र है और उनकी इन उच्छृंखलताओं के लिए स्त्री स्वयमेव उसे उपलब्ध है ? वैसे समाज में पुरुषों के लिए यह ताबीज नया नहीं है ... समाज में यह औरत पहले भी मौजूद रही है और अब भी मौजूद है। अन्तर है तो सिर्फ़ इतना कि तब इस तरह का जीवन जीने के लिए वह अभिशप्त थी, किसी न किसी विवशता के चलते – रखैल शब्द से लांछित, तिरस्कृत, बहिष्कृत ... तब उसके पास अपने को नैतिक सिद्ध करने के लिए ये कौशलपूर्ण तर्क नहीं थे। न वह आत्मनिर्भर थी कि परिवार और समाज के विरोध के बावजूद समाज में तनकर खड़ी रह सके। सोचो, सदियों पूर्व के वर्जनाहीन जीवन से, वर्जनापूर्ण सामाजिक व्यवस्था को अंगीकार करने के पीछे आखिर कोई गूढ़ चिन्तन रहा होगा ... वर्जनाहीन जीवन के परिणामों की ओर भी आँखें खोलकर देखो ... तुम आत्मनिर्भर हो, इसलिए तुम्हें उस विशेषण से भले ही मण्डित नहीं किया जाएगा, परन्तु ..."

"मण्डित किया भी जाए तो किसे परवाह है ... ये रूढ़ विचार ही स्त्री-स्वतन्त्रता में बाधक हैं ... मैं इस बात को सचमुच जीना चाहती हूँ ... इसी समाज में पुरुष सर्वदा अपने मन को जीता आया है ... आज भी जी रहा है ... पुरुष अपने मन को जी सकता है, स्त्री नहीं ?"

"तुम मुझे गलत समझ रही हो। औरत ज़रूर अपने मन को महत्त्व दे, लेकिन मर्द बनकर नहीं। तुम्हारा स्त्री-समानता का दृष्टिकोण मर्द बनना है ... मर्दों की भाँति रहना ... वे समस्त आचार-व्यवहार, व्यवस्थाएँ

अपनाना ... यही समानता का दृष्टिकोण है ? स्त्री को समाज में समान अधिकारों के नाम पर इन्हीं उच्छृंखलताओं और अनुशासनहीनता की चाह है ? प्रश्न उठता है, नीतू ... जब ये अव्यवस्थाएँ मर्दों के लिए अनैतिक, अमानवीय, दुराचरण और निरंकुशताएँ हैं तो स्त्री के लिए उचित कैसे हो सकती हैं ? और इन्हें अपनाकर वह समाज में बराबरी का दर्जा कैसे हासिल कर सकती है ?

"यह तो प्रतिक्रिया में उपजी प्रतिशोधात्मक कार्यवाही है ! गलत दिशा की ओर उन्मुख होते डग ... जो कुछ दिनों उसे खूबसूरत भ्रम में बाँधे रहने के पश्चात् एक ऐसी मानसिक उद्विग्नता में झोंक देंगे जहाँ अकेलेपन के संत्रास के अतिरिक्त उसे कुछ हाथ नहीं लगेगा ! इसका मतलब यह नहीं कि मैं खूँटे की समर्थक हूँ। दोष भयंकर हैं। आते गए हैं। और आज वे स्त्री के गले का फंदा बन बैठे हैं ... उन्हें सहना किसी भी स्त्री के लिए अपराध है, लेकिन लड़ाई उन दोषों से है ! लड़िए ! पुरुष वह आत्मसम्मान नहीं देना चाहता तो उसे ठेंगे पर रखिए, लेकिन उपचार यह नहीं है, जो तुम सोच रही हो ...

"मैं 'वैवाहिक' व्यवस्था को दो व्यक्तित्वों के साहचर्य और आत्मसम्मानपूर्ण साझेदारी के रूप में देखती हूँ। ये स्त्री-स्वतन्त्रता के पश्चिमी मापदण्ड हैं। हमारी संस्कृति, हमारे सामाजिक परिवेश के लिए सर्वथा अनुपयुक्त ! ये भ्रम वहाँ भी टूट रहे हैं। दोहरे शोषण से गुज़र रही है वहाँ की स्त्री ... खैर, यह बहस कभी खत्म नहीं होने की ... मैं तो विशेष रूप से इस बात को रेखांकित करना चाहती हूँ कि स्त्री मर्द बनकर समाज में समानता चाहती है, स्त्री बनी रहकर क्यों नहीं ? स्त्रीत्व के गुणों को बरकरार रखते हुए ?

"संघर्ष का यह गलत मोड़ है, नीतू ! चेतने की ज़रूरत है .... स्त्री की स्त्रीत्व से मुक्ति नहीं चाहिए। उन रूढ़ियों से मुक्ति चाहिए, जिन्होंने उसे वस्तु बना रखा है ... तुम वर्जनाहीनता के तर्क से लैस होकर पुरुष की उसी पिपासा को संतुष्ट करने जा रही हो, जो स्त्री को भोग की वस्तु मानकर उसे इस्तेमाल करता आया है और कर रहा है ! यह शुद्ध काम-सम्बन्धों की सुविधा है – क्या तुम कभी मातृत्व को जीना नहीं चाहोगी ? चाहोगी तो क्या नाम दोगी उसे ? अपनी भावनाओं, मान्यताओं को जीने के लिए उसे त्रिशंकु के मनोद्वन्द्व से मण्डित करोगी !"

लगातार बोलते हुए वह लगभग तैश में आ चुकी थी।

* * *

और वही हुआ जिसका उसे शक था। छह महीनों से वे दोनों अलग रहने लगे हैं। उसने कारण नहीं जानना चाहा, मगर अफवाहें तैरते गुब्बारों-सी आसमान में फूट रही हैं। नीता को रंगरेलियाँ करते हुए सुधीरजी ने पकड़ा या सुधीरजी को नीता ने। सुधीरजी अचानक अपने बीवी-बच्चों के पास वापस लौट गए हैं। कभी-कभी उसके पास आते हैं ...

सुधीरजी की पत्नी ने उसे फोन करके दर्प-भरे स्वर में कहा था, "तुम सिर्फ़ उनके लिए एक फिल्म थीं, सिर्फ़ एक फिल्म ! और जो गहरा लगाव एक संवेदनशील निर्देशक को चरम संवेदना के साथ अपनी फिल्म-

निर्माण के दौरान फिल्म से होता है ... वह फिल्म सोचता है, फिल्म खाता है, फिल्म पीता है, फिल्म ओढ़ता है, फिल्म सोता है, फिल्म चलता है और फिल्म ही रति करता है ... तुम वही और उतनी ही हो और फिल्में बनाना उनका शौक है !"

नीता मानसिक उद्विग्नता से अशान्त अपने में कैद-सी हो आई । अविश्वास और चरमराई आस्था से कुण्ठित ! फोन करो तो घंटी बजती रहेगी । घर में होते हुए भी घर में नहीं है । कोई मिलने पहुँच जाए तो जयंती से कहलवा देगी कि वह घर में नहीं है । पूर्णा की नौकरी उसने छोड़ दी थी । सुधीरजी से सम्बन्ध कटते ही 'आम्रपाली' का अनुबन्ध भी समाप्त हो गया । अगला अनुबन्ध छाया गुप्ता के साथ हो चुका था । विज्ञापन-जगत् में बैनर व्यक्ति की कीमत और महत्त्व को तय करते हैं । वरना जीवन-भर विज्ञापनों में 'पाँच सौ एक बार' और 'विजय वाशिंग पाउडर' से कपड़े धोते रहिए ! लोग कपड़े धुलवाने के प्रस्ताव लेकर आपके पास दौड़ते रहेंगे ।

नीता की स्थिति फिर भी 'हाथी मरा तो सवा लाख का' वाली थी । उसके पास अपेक्षाकृत बेहतर प्रस्ताव आ रहे थे । दरअसल 'आम्रपाली' से अलग होकर नीता अब कहीं भी काम करने को स्वतन्त्र थी, मगर कइयों की शिकायत थी कि नीता बददिमाग हो गई है और हामी भरने के बावजूद शूटिंग पर नहीं पहुँचती ।

अचानक एक संध्या उसने फोन किया था, "अंकू ! किसी अच्छे मनोचिकित्सक को जानती हो ?"

नौ

स्तब्ध हो उठी वह अपने कृत्य पर । अनजाने कैसी अनहोनी कर बैठी ! यह कैसा अधिकार-प्रदर्शन ! क्यों ? आखिर क्यों ? ... बचपना, मूर्खता, भावुकता ... क्या था यह ? अनजाने अपने ही हाथों अन्तर्मन के जंगल में तीली पड़ गई ! कहाँ, कौन-सा कोना अपने में लीलती ... कितने दिनों झुलसाती रहेगी ... क्या सोचेगा हरींद्र ? सुधांशु के मन में क्या धारणा उपजेगी? नहीं महसूस करेगा वह कि उसके मन का कोई कोना उसके लिए अभी भी संवेदनशील है ? शायद वह एक सहज चिन्ता को भावावेश में अधिक तूल दे रही है, जो और कुछ नहीं, स्थितिजन्य दबावों से उत्पन्न होकर अचानक उसके चेतन पर सवार हो उठी । बात चाहे समयाभाव की रही हो या तीन पेग पी लेने के बाद सुधांशु के अनियंत्रित हो उठने की या शायद ... उस एक आदत का कोई हिस्सा सहसा जहन में कुनमुना आया हो, जो बरसों पूर्व के ऐसे दृश्यों में ऐसे ही हुड़क उठता था । उलटा इस क्षण उसका असहज हो उठना अवश्य विभ्रम का वातावरण निर्मित कर सकता है । कह गई, तो कह गई ! जितनी सहजता से कह गई, उतनी ही सहजता से उसे ले भी !

होठों पर पलों तक मन में सोचा हुआ अटपटाया ठिठका रहा ...

"खाने चलें ?"

"हाँ आं ..." सुधांशु उठा तो महसूस हुआ कि अब तक वह एकदम होश में था, अभी अचानक वह गहरे नशे में हो गया है।

हरींद्र के मेज की ओर बढ़ते ही वह आहिस्ता से उसके निकट ठहर गया – "तुम मेरे बारे में ... दुबारा नहीं सोच सकीं ..."

अंकिता उसे अनसुना करती हुई तेजी से बढ़कर मेज से प्लेट उठाने का उपक्रम करने लगी।

सुधांशु की ओर हरींद्र ने लगभिलगाई प्लेट बढ़ा दी। प्लेट हाथ में लिए हुए वह पुनः उसकी ओर बढ़ आया, "जवाब नहीं दोगी ?"

मुँह में जाता कौर अचानक मुँह के बाहर ठिठक गया, "सुधांशुजी, औरत बोनसाई का पौधा नहीं है ... जब जी चाहा, उसकी जड़ें काटकर उसे वापस गमले में रोप लिया ! वह बौना बनाए रखने की इस साजिश को अस्वीकार भी तो कर सकती है !"

दस

साँवले पड़ते बादलों को कन्धों पर उठाए हवा अचानक उग्र हो उठी ...

वे वरसोवा तट के बिलकुल आखिरी छोर पर हैं। सटे हुए मछेरों के गाँव के निकट। रेत में पाँव धँसाते हुए आगे बढ़ते। हवा प्रतिरोध करती-सी उन्हें पीछे ढकेल रही है। हवा में एकाएक उमड़ी नमी का भारीपन रेत में आ समाया है और उसकी भुरभुराहट शीतल आर्द्रता में परिवर्तित होने लगी है। धँसाहट उन्हें ज़रूरी भी लग रही है। वे पाँवों के पंजों से रेत को पकड़ते-से चल रहे हैं। आशंकित। कहीं अंधड़ का चोला पहनती तेज हवाओं के झोंके उन्हें उड़ाकर हहराती लहरों में न उछाल दें ...

गाड़ी बहुत दूर खड़ी है – 'सन एंड सी' की बहुमंजिली रिहायशी इमारत के सामने। सड़क से दूसरी ओर, यहाँ से डेढ़-दो मील के फासले पर। वहाँ तक मौसम से बचकर निकल पाना सम्भव नहीं। बरसात किसी भी क्षण शुरू हो सकती है। आसमान छूने को लालायित सीधे खड़े नारियल के वृक्षों की सघन शृंखलाएँ अंधड़ के झोंकों से विवश, दूर जाती माँ की ओर नन्हीं भुजाएँ पसारे, बिलखते बालक-सी बायीं ओर को रेत छूती-सी टूटी पड़ रही हैं ... नुकीली पत्तियों की कुछ क्षणों पूर्व की मीठी सरसराहट विचित्र-सी कर्कश ध्वनि में बदल गई है – सिहरन पैदा करती ...

पेड़ों की कतारों से दूर जाकर कहीं बैठना होगा। भय लग रहा है। उनके कदम और तेज हो उठे। किसी भी क्षण कोई पेड़ उखड़कर उनको अपनी चपेट में ले सकता है।

अंकिता की साड़ी बेइंतहा फड़फड़ा रही है। कण्ठ पर बढ़ते दबाव से बेचैन छूट भागने को छटपटाते पक्षी-सी ... एक पल पीछे ठहरकर वह सचेत-सी साड़ी को देह पर कसती, फिर मेहता की ओर कदम बढ़ा देती है।

वे पेड़ों की कतारों से बाहर निकल आए। कहाँ बैठें ? मुँह और आँखों में भरती रेत को हथेली से झाड़ते हुए मेहता ने आसपास दृष्टि दौड़ाई। सागर की गजों ऊपर उछलती सर्पाकार उन्मादी लहरें टूट-टूटकर फेन उगलती, तट को लीलने दौड़ती चली आ रही है – विकराल ! हहराती !

"वहाँ ... उस बँगले के पिछवाड़े बैठें चलकर ?"

वे रेत का चढ़ाव चढ़ने लगे। चढ़ना दूभर हो रहा है। मेहता ने सहारे के लिए अपना हाथ उसकी ओर बढ़ा दिया। अचानक बूँदें टपटपानी शुरू हो गईं – झोंकों में हिलोरें लेती हुई।

"यहाँ बैठे-बैठे भीगने से अच्छा है, चलते-चलते भीगें ... बारिश शुरू हो गई है और जल्दी रुकने के आसार नहीं हैं !"

मेहता को अंकिता की बात सही लगी। सिर छिपाने के लिए कोई जगह नहीं दिखाई दे रही आसपास। पुराने बँगलों की दूर दिखती पीठें हैं और वे भी काई खाई हुई भसकी चारदीवारियों में कैद। उन्हें फाँदकर आश्रय लेने नहीं जाया जा सकता।

"अंधड़ का वेग कम हो रहा है, कुछ और शान्त होने ही निकल लेंगे ... तब तक बैठे-बैठे ही भीगें ... बैठो !" रेत पर बैठते हुए मेहता ने टिप्पणी की, "अचानक ही मौसम बदल गया।"

"आधा जून बीत चुका है ... बम्बई में अब तक मानसून आ जाना चाहिए था – अचानक कैसे ?" अंकिता ने प्रतिवाद किया।

वह नथुनों पर झूलती हुई बूँदों को सिर हिलाकर झाड़ता हुआ हँसा। "ठीक कह रही हो तुम। चीजें पकती रहती हैं भीतर ... उनके सामने आते ही पता नहीं क्यों यही अनुभूति होती है कि अचानक इसी क्षण घटा है, जबकि वह उसके प्रकट होने की एक क्रिया मात्र है !"

किस ओर इंगित कर रहा है मेहता ?

आँखों पर अवरोध उत्पन्न कर रहे बालों को उँगलियों से सरियाते हुए उसने मेहता की ओर देखा। मेहता उसे ही देख रहा है। अनझिप। वह नहीं देख पाई उन आँखों में। वह भेदती दृष्टि नहीं है। अपने को खोलती दृष्टि है। खुली किताब-सी। किसी का भीतर निचुड़कर जब उसकी आँखों में सिमट आता है – शब्द रचता। उसका सामना करने के लिए उसी साहस और गहनता की आवश्यकता होती है, जिसके सहारे वह स्वयं आँखों की सीमा के भीतर अपने सत्य पर से सारे कपड़े उतार पाने में समर्थ होता है ...

वह बगल की नम रेत को मुट्ठी से चाँप लड्डुओं का आकार देने लगी है। उस दृष्टि का सामना कर पाना आसान है ?

उसकी मुट्ठी पर अचानक मेहता की हथेली आ कसी है। मुट्ठी में रेत का एक लड्डू कैद हो उठा है। नम रेत ! सूखी होती तो निश्चित ही उँगलियों की सांधों से भुरभुराती हुई बहने लगती ...

वह कहना चाह रही है – मेरी आँखों में यही किताब खुलने दो, मेहता ! पृष्ठ-दर-पृष्ठ ... अपने को उड़ेलती हुई, ताकि वह जुड़ाव मैं अपने में अन्वेषित कर सकूँ, जो तुम्हारे लिए मित्रता की कृतज्ञता से दीन न हो ! इस तरह से आगे बढ़ना बेईमानी होगी और मैं तुम्हारे प्रति बेईमान नहीं होना चाहती ... विश्वास की सीमा तक विश्वास हुआ है तुम पर ...

"सर्दी लग रही है ...? उसे हवा की तेजी से सिहरता हुआ देख मेहता ने प्रश्न किया।

"भीगने के कारण ..."

"वैसे अब चल सकते हैं ... चलें ? घर पहुँचकर एक क्रोसिन ज़रूर ले लेना।"

"पहली बौछार में भीगना नुकसानदेह नहीं होता।"

"बौछार में न ..."

वह कँपकँपाहट के बावजूद खिलखिला पड़ी – खिले घाम-सी।

* * *

क्या अनर्थ कर बैठी नीता ? इतनी दुर्बल कैसे हो उठी ? आत्मविश्वास से पोर-पोर डूबा व्यक्तित्व ... जटिल परिस्थितियों से जूझने को तत्पर ... सदैव स्फूर्तिपूर्ण मुद्रा ... 'बताओ, कहाँ क्या करना है ... ऐसे छुई-मुई होकर रहना है तो घर से क्यों निकले ? यही इनकी मंशा है, 'जलन है साहब, जलन ! सह्य नहीं स्त्री का महत्त्व ... अपने सिर पर मँडराते उसके आदेश। देखना है ... मेरे सामने देखो, वर्मा की ता, ता, थैया ... हमेशा सुर में बजता है ... कहो तो बाहर करवा दूँ 'आब्जर्वेशन' से ?'

जीवन जीने की अदम्य लालसा से सराबोर ... जीवन से हारकर घुटने टेक बैठी ? इस कदर कि अपने प्रेम का प्रतिफल इस बच्ची के प्रति राई-रत्ती मोह नहीं रहा ? पल-भर को नहीं सोचा कि अपने इस क्रूर कृत्य से किससे प्रतिशोध लेने जा रही है ... स्वयं से ? सुधीरजी से ? बच्ची से ? समाज से ? भावना से ? अपनी जाति से ? महत्त्वाकांक्षी प्रवृत्ति से ? रास्ते गम्य-अगम्य, टेढ़े-तिरछे चुने हों, यह अलग बात है, मगर क्या नहीं अर्जित किया उसने ? पद, ख्याति, अर्थ, मनचाहा जीवन जीने की स्वतन्त्रता – अंकुशरहित।

तब ?

क्या था जो टूटा और टूटते ही उसे खण्डित कर गया ? बुद्धि, विवेक, परिपक्वता – सभी को परास्त कर ! महत्त्वपूर्ण विज्ञापनों का हाथ से जाना या सुधीरजी की उपेक्षा या... या शिखरा का उनके जीवन में प्रवेश। शायद मोहभंग का मगरमच्छ लील गया उसे ... शायद, देह के बूते पर टिका आत्मविश्वास देह का तिलिस्म टूटते ही तिरोहित हो गया ... शायद वह बेहद कमजोर लड़की थी, भीतर से खोखली, ऊपर से पुख्ता होने का भ्रम देती ! लेकिन सिर्फ़ प्राप्ति ही जीवन का पर्याय नहीं है, नहीं सोचा उसने ?

'सुधीरजी ऐसे नहीं है ... पुरुषों की प्रकृति का गहरा अनुभव है मुझे ... न मैं अपने-आपको धोखा दे रही हूँ, न धोखा खा रही हूँ ... गलत प्रचारित है उनके विषय में कि 'पूर्णा' की हर बदलती मॉडल उनकी प्रेमिका होती है ... पुरुष के लिए जीवन का सम्पूर्ण अर्थ स्त्री मात्र नहीं होती। स्त्री चाहे जितनी आगे बढ़ जाए, पद, प्रतिष्ठा, ख्याति अर्जित कर ले – उसका पूरा जीवन एक अदद पुरुष क्यों हो उठता है ? वह भी नीता जैसी लड़की के लिए ?

विशाल अस्पताल भूलभुलैया-सा प्रतीत हुआ। नौ बजे से चिकित्सक रोगियों को देखना शुरू करते हैं, मगर अभी से रोगियों की लम्बी-लम्बी कतारें लगी हैं। सामने से आती हुई नर्स को रोककर उसने पूछा, "आपातकालीन किस ओर है ... मेरा मतलब ... आत्महत्या के मामले ..."

* * *

नीता के जाने के बाद शिद्दत से महसूस हो रहा है – विपरीत ध्रुवों-सी मानसिकता के बावजूद उनके लगाव की जड़ें कितनी सूक्ष्म और गहरी थीं ! कठोर अतल भूमि-तहों के नीचे दबे स्रोत-सी ! पोस्टमार्टम के पश्चात् सफेद कपड़े में गठरी-सी कसी हुई नीता की निर्जीव देह देख हृदय में हौल-सा बैठ गया था ... सिर्फ़ चेहरा बाहर था ! विश्वास ही नहीं हुआ कि यही नीता है। उसी का चेहरा उसके सामने है ... वीभत्स ! उबले हुए आलू-सा भसका हुआ। इस काया पर कल तक एक सलोना चेहरा हुआ करता था, स्निग्ध, स्मित-भरा ... चुम्बकीय ! कहाँ गुम हो गया वह अचानक ? कहाँ ? कहाँ ...

अस्पतालवालों को चाहिए था, उसके पार्थिव शरीर के साथ उसके चेहरे को भी कपड़े से कसकर लपेट देते ...

कुछेक अख़बारवालों ने नीता की मृत्यु को संदिग्ध दृष्टि से देखते हुए उसे आत्महत्या का मामला साबित करने की कोशिश की है – विशेष रूप से 'संदेश टाइम्स' वालों ने वर्जनाहीन सम्बन्धों का चटखारा लेते हुए सुधीरजी और नीता की तसवीरों के साथ सुधीरजी की पत्नी अर्चना का चित्र भी प्रकाशित किया है। एक स्थान पर हलके से अंकिता का भी उल्लेख है – नीता की गहरी सखी के रूप में कि इस प्रेम-त्रिकोण में व्याप्त तनावों के विषय में उससे महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती है – 'हमारे संवाददाता ने इस सन्दर्भ में जब उनसे सम्पर्क करने

की कोशिश की तो अंकिताजी ने यह कहकर बात करने से स्पष्ट मना कर दिया कि यह नीता और सुधीरजी का निजी मामला था और उनके निजी मामले में न उन्हें पहले कोई दिलचस्पी थी न अब है ...' यह वही 'संदेश टाइम्स' है, जिसके सन्दर्भ में हरींद्र ने कभी उससे चर्चा की थी ! क्या यही रचनात्मकता थी, जिससे हरींद्र उसे जोड़ना चाहता था ?

कितना विचित्र संयोग है ! सदैव चर्चा में बने रहना नीता की नीति थी – किसी परिचर्या में काम-सम्बन्धों पर दुस्साहसी वक्तव्य देकर, अपने पर खुले-ढके फैशन फीचर करवाकर, मुखपृष्ठ पर छपकर, गॉसिप कॉलमों में ऊटपटांग नाम उछलवाकर, विवादास्पद साक्षात्कार देकर चर्चा का प्रकरण खड़ा करती रहती ! कोई अंग्रेजी-हिन्दी की पत्रिका उठा लो, नीता हर जगह मौजूद होती। आलोचना करने पर उसका एकमात्र जुमला होता – 'तुम नहीं समझोगी। ज़रूरी है यह सब ! वरना लोग भूल जाते हैं कि कौन कहाँ है ...'

अपनी मौत को भी उसने चर्चा से अछूता नहीं छोड़ा ...

* * *

मि॰ जैन ने फाइल में से दो लिफाफे बाहर निकाले। एक सीलबंद लिफाफा फाड़कर उन्होंने नीता की वसीयत पढ़नी शुरू कर दी।

वसीयत का मजमून सुनते ही नीता के बड़े भाई साहब के माथे पर बल पड़ने लगे और अंकिता स्तब्ध हो उठी ...

... नीता ने अपनी पूरी सम्पत्ति बेटी मानसी के नाम की थी और बच्ची और सम्पत्ति की देखभाल की पूरी जिम्मेदारी वह अंकिता को सौंप गई थी। बैंक में पैसा अधिक था नहीं, जो भी था – उसका उपयोग अंकिता जैसे चाहे, जिस प्रकार चाहे, कर सकती थी। माँ के नाम जो पन्द्रह हजार की रकम बैंक ऑफ इंडिया में सावधि जमा खाता में जमा थी, वह माँ चाहें तो बैंक ऑफ इंडिया की बड़ौदा शाखा में स्थानान्तरित करवा सकती हैं और उसका मनचाहा उपयोग कर सकती हैं। घर के सामान में से भी माँ जो चीज अपने साथ ले जाना चाहें – ले जाने के लिए स्वतन्त्र हैं ...

वसीयत में नीता ने अपनी आखिरी ख्वाहिश व्यक्त की थी कि अगर अंकिता उसकी बेटी मानसी को कानूनन गोद ले ले तो उसे असीम ख़ुशी होगी ... ऐसे में सारी सम्पत्ति की अधिकारणी अंकिता – मानसी की माँ होगी ...

वसीयत पढ़ने के बाद मि॰ जैन ने दूसरा लिफाफा अंकिता की ओर बढ़ा दिया – "यह आपके लिए उनका निजी ख़त है ... लीजिए ..."

उसने हाथ बढ़ाकर लिफाफा मि॰ जैन के हाथ से ले लिया। फाड़ा और पढ़ने लगी –

'अंकू!

'अपने भीतर अपने को तिल-तिलकर मरता महसूस करना कितनी असाध्य यन्त्रणा है ! मुझमें अब और साहस शेष नहीं रहा कि मैं और अधिक दिनों तक अपनी मौत की साक्षी हो सकूँ। चरम अकेलेपन और कुण्ठा से मुक्त हो स्वयं को बहुतसँभालने और सहेजने की कोशिश की, लेकिन असफल रही। शिखर और धरातल के मध्य एक फासला होता है, दीर्घ ! जो अकस्मात् खत्म होते ही रीढ़ को साबुत नहीं रहने देता। बीच में सीढ़ियाँ नहीं होतीं न ! वे बनाई ही नहीं गईं कभी। बनाई गई होतीं तो वह फासला उन सीढ़ियों पर डग भरता उतरता – तब पाँवों में उतराव की थकन ही हिस्से में होती ... जिजीविषा न टूटती ! आज महसूस हो रहा है, रीढ़ के बिना कोई ज़िंदा कैसे रह सकता है ? सोचती हूँ – इस देश की स्त्री को यहीं का खुला हवा-पानी चाहिए ... यहाँ की मिट्टी का पौधा यहीं के मौसम के अनुशासन में जी सकता है। बाहरी और उधार लिया हवा-पानी उसे पच नहीं सकता। पच पाता तो सुधीर के छोड़ देने पर यह मन अपने लिए कोई अन्य अहलूवालिया या श्रीधर क्यों नहीं तलाश पाया ! और अंकू, जिस दिन से सुधीर को इस मन ने चाहा, देह भी अपना धर्म भूल गई – उसी को चाहने लगी। मैं हमेशा ऐसा मानती रही थी कि देह का धर्म है, ज़रूरी नहीं कि वह मन के प्रति निष्ठावान् रहे। उसकी ज़रूरतें अलग हो सकती हैं। अलग लगती भी रहीं। और मैंने उन्हें अलग रूप में जिया भी। लेकिन जिस दिन से यह मन सुधीर से जुड़ा, देह भी उसी के साथ जुड़ गई ... वह सुधीर को ही चाहने लगी – किसी के जगाने पर भी नहीं जग पाई ... क्यों ? मैंने मूल्य तोड़े – पति-पत्नी के दासत्व-भरे सम्बन्धों से मुक्त होने की कामना लिए, शुद्ध रूप से नारी-पुरुष सम्बन्धों की गहराई और उदात्तता को जीना चाहा ... लेकिन ...

'तुम्हारे सामने खुले पृष्ठों को मेरी यह फिर से दोहराने की कोशिश ...

'अंकू ! मानसी – भविष्य की इस स्त्री – को तुम्हें सौंप रही हूँ, कुम्हार के हाथों में कच्ची मिट्टी-सी ! तुम्हारी ममता की गोद में मानसी अपने अस्तित्व की तलाश पूरी कर सकेगी – विश्वास है। अपनी नन्हीं-सी बेटी को अपने पास ले आना ...

तुम्हारी – नीतू'

अंकिता के गालों पर अविरल अश्रुधाराएँ फूट पड़ी हैं। कायर लड़की ! चिट्ठी को एकाएक उसने अपने चेहरे से भींच लिया। उसके थर्राते होंठ अनायास बुद्बुदा उठे, "मैं अपनी बिटिया को अपने संग ही ले जाऊँगी, नीतू ... तुरन्त ... निश्चिन्त रहना !"

❖❖❖

नीला आकाश

– सुशीला टाकभौरे

'नीला आकाश' उपन्यास मेरे मन का आकाश है – जहाँ मेरे विचार, मेरी भावनाएँ और मेरी अपेक्षाएँ मुखरित हैं। 'नीला आकाश' की कथावस्तु दलित जीवन का यथार्थ है। यहाँ सवर्णों के षड्यन्त्रों के साथ दलितों के शोषण, उत्पीड़न और अभावपूर्ण जीवन का चित्रण है। अभी भी दलितों को शिक्षा से वंचित रखे जाने के षड्यन्त्र चलते रहते हैं, तब बीसवीं शताब्दी के साठ और सत्तर के दशक की स्थिति को प्रमाणित रूप में समझा जा सकता है। भारतीय समाज रचना में वर्णभेद और जातिभेद की भावना है। यह पहले बहुत विकराल रूप में थी। धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ है, मगर यह भावना अभी भी है। इसे पूरी तरह खत्म करके, सवर्ण और अछूत का भेद मिटाया जा सकेगा। इसके लिए सबसे अधिक ज़रूरत है, दलितों के बीच एकता, संगठन और भाईचारे की। 'नीला आकाश' यही सन्देश देने के लिए अग्रसर हुआ है।

यहाँ मातंग और वाल्मीकि जाति की एकता का उदाहरण दिया है। इसी प्रकार चमार, महार, खाटिक सभी दलित जातियाँ एकता और प्रेम के साथ संगठित होंगी, तो बड़ी ताकत बनेंगी। महार और चमार दलित जातियाँ दलित आन्दोलन से जुड़कर, प्रगति और परिवर्तन के पथ पर आगे हैं। उनका कर्त्तव्य है कि वे अन्य पिछड़ी दलित जातियों को अपना सहयोग देकर, उन्हें भी समकक्ष आने के अवसर प्राप्त करने दें।

दलित जातियों के बीच अन्तरजातीय विवाह होने चाहिए, इससे दलित एकता मजबूत होगी। दलितों के परिवार छोटे हों, ताकि अनावश्यक अधिक खर्च से बचकर अपने बच्चों की परवरिश अच्छी तरह कर सकें। बच्चों को शिक्षा पाने के पूरे अवसर मिलें। व्यक्तिगत जीवन के साथ सामाजिक उत्थान के कार्यों को भी महत्त्व दिया जाए। 'नीला आकाश' में इन सभी मुद्दों की ओर संकेत किया है। महिलाओं के पूर्ण व्यक्तित्व विकास को भी महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। पुरुषप्रधान समाज व्यवस्था में स्त्री सबलता ज़रूरी है, तभी स्त्री-पुरुष समानता की भावना आ सकेगी।

भीकूजी और चन्दरी जैसे दलित वर्ग के प्रतिनिधि पात्र केवल स्वयं तक सीमित नहीं हैं। वे अपने दलित-शोषित समाज की मुक्ति और उत्थान के लिए प्रयासरत हैं। नीलिमा और आकाश जैसी वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियाँ दलितों के शोषित-पीड़ित जीवन में पूर्ण परिवर्तन लाएँगी – तभी वे धरती से लेकर आकाश तक अपने संघर्ष और सफलता की पताका फहरा सकेंगे।

'नीला आकाश' मुख्य रूप से दलितों की व्यथा और एकता की कथा है। नीलिमा और आकाश भविष्य की संभावनाएँ और सफलताएँ लेकर उपस्थित हुए हैं। दलित समाज की नई पीढ़ी शिक्षित, सबल और जागरूक होकर इसी तरह सामाजिक आन्दोलन में अपना योगदान देती रहेगी, पुनः पुनः इस आशा के साथ, उनकी सफलता की कामनाएँ हैं।

•••

भोर की लाली आसमान में छिटकने लगी। दूधिया धुँध छटने लगी। देखते ही देखते पूर्व दिशा के क्षितिज पर बाल-अरुण उदित हुए। शीतल-शान्त, अनुराग रंग से भरा सूरज पृथ्वी के माथे का बड़ा-सा लाल टीका जैसा दिख रहा है। सुनहरी किरणें आकाश से धरती पर बरसने लगीं। प्राची में उजाला फैलने लगा। सूरज का रंग सिन्दूरी गुलाबी से सुनहरा होगया। इसके साथ गाँव का जन-जीवन भी शुरू हो गया।

लोग अपने-अपने घर के दरवाजे खोलकर बाहर निकलने लगे। किसी के हाथ में दातून है। कोई दिशा-मैदान के लिए खेतों की तरफ जाने लगा। घर की बहू-बेटियाँ लिपे-पुते आँगन बुहारने बाहर निकल आयीं। घर की बूढ़ियाँ जलावन के लिए कंडे लकड़ी के इन्तजाम में जुट गईं। बूढ़े खाँसते-खखारते, अपनी उपस्थिति का भान कराते, घर-आँगन से बाहर निकल आए। सूरज भी अब सोने-सा निखरकर तेज आलोक में बदल गया। लोगों को हर काम में हड़बड़ी लगने लगी। उनकी जुबान पर बस यही बात है – "कितना दिन निकल आया है ? कितना दिन चढ़ गया है ?"

दिन के साथ बँधा जीवन, सूरज की गति के साथ आगे बढ़ने लगा। सूरज पूरे आकाश को पार करता हुआ, पूर्व से पश्चिम की ओर जाएगा। मगर लोग घर से अपने काम-धंधों पर जाकर, शाम तक फिर अपने घर लौट आएँगे। यह चक्र बरसों से चल रहा है, सदियों से, कई सदियों से। भीकूजी भी घर से बाहर निकले और तेजी से गाँव की तरफ बढ़ चले। उनका घर गाँव से बाहर, हाशिए पर है।

कन्हान महाराष्ट्र का एक गाँव है। यहाँ की संस्कृति और परम्पराएँ देश के अन्य शहरों और गाँव जैसी ही हैं। सदियों से चली आ रही सामाजिक भेदभाव और छुआछूत की परम्परा यहाँ भी हैं। पूरा गाँव जाति और वर्ण के अनुसार अलग-अलग मुहल्लों में बँटा है। ब्राह्मण, बनिया, तेली, कुनबी सबकी अलग-अलग बस्तियाँ हैं। इन सबकी बस्तियों से दूर, गाँव के बाहर, नाले के किनारे अछूत जाति के घर हैं।

मांग जाति के चार-छह घरों का छोटा-सा मुहल्ला है। थोड़ी दूरी पर सुदर्शन-वाल्मीकि जाति के घर हैं। पहले इस 'मांगवाड़ा' और 'मेहतर मुहल्ला' नाम से पुकारा जाता था। महात्मा गाँधीजी की प्रेरणा से हरिजन मुहल्ला भी कहा जाता था। मगर अब यह सेवानगर कहलाने लगा है। यहाँ एक घर बौद्ध समाज (महार जाति) के लोकनाथ मेश्राम का भी है। उनका घर सेवानगर के सभी घरों से अच्छा है। लोकनाथ का बेटा यशवन्त नागपुर के 'भारतीय जीवन बीमा निगम', विभाग में अधिकारी है। यशवन्त अपने बीबी-बच्चों के साथ नागपुर में रहता है। लोकनाथ कभी-कभी अपने सेवानगर के घर में आते हैं। वे रेल्वे के खलासी की नौकरी से सेवानिवृत्त हैं, तब से बेटे के पास नागपुर में ही रहते हैं।

सेवानगर से कुछ दूर नवबौद्ध, महार जाति की बड़ी बस्ती है। इसे भीमनगर कहा जाता है। भीमनगर से लगे हुए दो-तीन घर चमार जाति के हैं। वे सब छोटेलाल के कुटुम्ब परिवार के लोग हैं। जब भी गाँव में कोई गाय, भैंस या बैल मरता है, तब छोटेलाल को ही बुलाया जाता है, क्योंकि महार जाति के लोगों ने डॉ० अम्बेडकर की प्रेरणा से अब यह काम करना छोड़ दिया है। छोटेलाल अपने पूरे कुटुम्ब-परिवार के साथ गाँव के काम और खेत-

खलिहानों में दिहाड़ी पर मजदूरी करते हैं। ये सभी लोग श्रम और संघर्ष करते हुए कष्ट और अभाव का जीवन जीते हैं।

सेवानगर में भीकूजी के घर की बगल में गंगाराम का घर, गंगाराम के घर के बगल में भोला का मकान। भोला का परिवार पति-पत्नी और एक बेटा है। बेटा कई बरसों से नागपुर में नौकरी करते हुए अपने बीबी-बच्चों के साथ नागपुर में बस गया है। वह कभी-कभी कन्हान आता है। भोला कांबले मय्यत में बाजा बजाने का काम करता है। सवर्णों, बहुजनों के घर मय्यत होने पर भोला को ही बुलाते हैं। लखन के साथ भोला बहुत ही सुरीली और दर्द भरी शहनाई बजाता है। बाकी दिनों में भोला खेत-खलिहान में मजदूरी का काम करता है। उसकी पत्नी भी गाँव के कुछ घरों का काम करती है।

भोला के घर के सामने फूलवती का घर है। फूलवती का पति दयाराम खिल्लारे शहनाई और बैंड-बाजा बजाने का काम करता था। नशे की आदत और दमे की शिकायत के कारण कमजोर होकर वह कम उम्र में ही चल बसा। उसकी तीन बेटी और एक बेटा है। बेटा लखन खिल्लारे भोला कांबले के साथ शहनाई बजाता है। घर खर्च चलाने की और लखन के बीबी-बच्चों को सँभालने की जिम्मेदारी फूलवती अपना कर्त्तव्य समझकर करती है। इसके लिए वह गाँव में दिनभर कई घरों में सफाई का काम करती है।

भीकूजी अपने छोटे कच्चे मकान में, पत्नी चन्दरी और पाँच बच्चों के साथ रहते हैं। दोनों पति-पत्नी गाँव के सवर्णों द्वारा बताए गए काम को तत्परता से करते हैं। इसके बदले में उन्हें कुछ नगद आमदनी होती है, साथ ही रोटी भी मिल जाती है। इसके साथ हर दिन अपमान और तिरस्कार भी मिलता रहता है।

इन चारों घरों में एकता और भाईचारा है। सभी एक-दूसरे के सुख-दुःख में साथ निभाते हैं। लेकिन यह सहयोग भावनात्मक ही अधिक है। आर्थिक दृष्टि से सभी गरीब और अभावग्रस्त जीवन जी रहे हैं। सबके घरों में बाँस छीले जाते हैं। सबके घरों में बाँस के डलिया, टोकना, सूप बनाते हैं। छीन्दे की झाडू और चटाई भी बनाते हैं। घर की प्रौढ़ और बूढ़ी औरतें दाईपने का काम करती हैं। घर के आदमी बैंड-बाजा और शहनाई बजाते हैं। मांग मुहल्ला के लोग सवर्णों के घर-आँगन की सफाई, पशुओं के बाड़े की सफाई का काम भी करते हैं। उनके घरों में ये काम कई पीढ़ियों से चल रहे हैं।

•••

भीकूजी मोरे का नाम उनके पिता ने ज़रूर भीकमचन्द रखा होगा। मगर बचपन से सब उन्हें भीका और भीकू कहते रहे। अब उनकी परिपक्व उम्र को देख, सेवानगर के लोग उन्हें भीकूजी कहने लगे हैं। सेवानगर में भीकूजी का बड़ा नाम है। शादी, ब्याह, सगाई, जन्मदिन और तीज-त्योहारों पर गाँव के लोग घेरा बजाने के लिए भीकूजी को ही बुलाते हैं। भीकूजी आसपास के छोटे गाँवों में भी घेरा बजाने जाते हैं। उनकी पोशाक है, सफेद कुर्ता और सफेद पायजामा। रंगीन सूती गमछा कन्धे पर रखते हैं। कभी उसे गले में मफलर की तरह लपेट लेते हैं।

सांवला रंग, मझोले कद-काठी के भीकूजी के हाथों में बड़ी ढफली जैसा घेरा बाजा है, जिसे उन्होंने एक तरफ से बाँधकर कन्धे से लटकाया है। उनके हाथ में बाँस की बनी पतली एक फुट लम्बी दो छड़ी हैं, जिन्हें उन्होंने बहुत सँभालकर पकड़ा है। गाँव में उत्सव वाले घर के सामने जाते ही, वे इन्हीं दोनों छड़ी से अपने बाजे पर थाप देते हैं और जैसे आसपास के माहौल को नींद से जगा देते हैं। लोग बाजे की ताल पर थिरक-थिरक उठते हैं। कभी भेरवा, कभी कहरवा बाजे की धुन पर गाँव की महिलाएँ झूम-झूमकर, झुक-झुककर, गोल-गोल फिरकनी की तरह घूमकर नाचती हैं। बाजे के लय ताल पर मानो सबके मन-मोर थिरकने लगते हैं।

भीकूजी भी झूम-झूमकर बाजा बजाते हैं। जैसे कोई छोटे बच्चे को सँभालकर पकड़ता है, वे अपना घेरा गले में अथवा बायें कन्धे पर टाँगकर, बगल में दबाकर दोनों हाथों से बजाते हैं। दायें हाथ की छड़ी नीचे से ऊपर और दायें-बायें पूरे घेरे पर अलग-अलग प्रकार की ध्वनि बिखेरती हुई, तीव्र गति से दौड़ती है। बायें हाथ के ठोके ऊपर की तरफ लय ताल को बाँध रखते हैं। एक रिदम में गूँजती हुई ध्वनि से लोगों का उत्साह चरम सीमा तक पहुँचने लगता है। 'तिडिंग-तिडिंग तिंग, तिडिंग-तिडिंग तिंग' – से जैसे सब कुछ अनुशासित होने लगता है।

नाच-गाने और बजाने की ख़ुशी अलग है, पेट भरने की बात अलग है। सिर्फ़ घेरा बजाने से पेट नहीं भरता, आमदनी के बिना परिवार का भरण-पोषण नहीं हो सकता। भीकूजी को हमेशा चिन्ता रहती है। शादी-ब्याह के मौसम में आमदनी हो जाती है, मगर बाकी के मौसम सूखे-सूखे जाते हैं। बरसात का मौसम तो और भी सूखा-सूखा जाता है। तब भीकूजी जैसे कलाकार को मेहनत-मजदूरी भी करनी पड़ती है। मान-सम्मान की बात अलग है, कलाकारी का सम्मान भी अलग है, मगर पेट का सवाल सबसे अहं बात है। यह गरीबों की मजबूरी बन जाती है। उच्च जाति के कलाकारों को अधिक सम्मान, मानधन और गौरव दिया जाता है, जबकि दलित अछूत कलाकारों की कला को भी निम्न दृष्टि से देखा जाता है। दलित होने से जैसे उनकी कला भी निम्न हो जाती है। चन्द सिक्के उनकी तरफ फेंक कर, जैसे उन पर उपकार किया जाता है। फिर भी भीकूजी अपनी कला को कभी छोटा नहीं मानते। वे तन-मन से अपनी कला को पूजते हैं।

भीकूजी की पत्नी चन्दरी, लोग उसे इसी नाम से पुकारते हैं। चन्दरी को पुकारे जाने की जनानी और मर्दानी आवाजें सुनायी दे रही हैं – "चन्दरी ... चन्दरी ... चन्दरी ...।" चन्दरी को पुकारने की आवाजें उसे घर के कोने-कोने में ढूँढ़ती हुई सेवानगर की गली, मुहल्ला, बस्ती को पार करती हुई, गाँव के बाहर जंगल की सीमा तक पहुँची। चन्दरी जंगल से लौट रही है। हरे बाँस का गट्ठर उसके सिर पर है। बरसों से यह उसकी आजीविका का साधन है। उसने साड़ी का पल्लू सिर ढाँककर, गले में लपेटा है। हाथ से गट्ठर थामे हुए चन्दरी लदर-फदर चली आ रही है। एक तो सिर पर भारी बोझ, दूसरे जंगल से घर तक की दूरी ! जल्दी चलते हुए चन्दरी हाँफ रही है। दोपहर ढलने लगी है।

* * *

सेवानगर में मांग जाति के घरों से कुछ हटक, पश्चिम दिशा में वाल्मीकि जाति के 4-5 घर हैं। भीकूजी के घर से कुछ ही दूरी पर कालीचरण चौहान का घर है। कालीचरण चौहान के पिता अब नहीं रहे, बूढ़ी सुगिया माँ है। आठ भाइयों का बड़ा कुनबा है। उनकी एक बहन दुलारी भी है। वे मिलजुल कर, साथ-साथ और कुछ लोग पास-पास अपने छोटे कच्चे घर बनाकर रहते हैं। दो घर अन्य वाल्मीकियों के हैं। उनके कुटुम्ब परिवार अलग हैं। उनके गोत्र राठौर और परमार हैं।

सेवानगर में बसने वाली इन जातियों के बीच उन दिनों आपस में रोटी व्यवहार नहीं था और न ही बेटी व्यवहार था। ये अछूत जातियाँ अपने से दूसरी को छोटा मानती। बस, गाँव-बस्ती के रिश्ते से वे आपस में हँस बोल लेते, कभी आपस में स्वार्थ टकराने की स्थिति में लड़-झगड़ भी लेते हैं।

कालीचरण वाल्मीकि का कुटुम्ब बड़ा होने के साथ दबंग भी है। कुटुम्ब परिवार में सभी भाई कालीचरण चौहान की इज्जत करते हैं। उसकी हर बात मानते हैं और बड़े भाई के कहने पर कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। घर की बहुएँ और बच्चे सभी कालीचरण को पूरा मान-सम्मान देते हैं। कालीचरण भी पिता की मृत्यु के बाद, पूरे परिवार के लिए पिता का फर्ज पूरा करता है। सबके दुःख-सुख, समस्या या अड़चन आने पर यथाशक्ति, यथायुक्ति उन्हें सुलझाने का काम करता है। यही काम परिवार के लिए उनकी पत्नी बुधिया करती है।

बुधिया घर की बड़ी बहू है। उसने प्रेम, विश्वास और युक्ति के साथ पूरे परिवार को एक सूत्र में बाँधा है। सास पहले पूरे गाँव का काम अकेली सँभालती थी। बुढ़ापा और कमजोरी के कारण अब वह घर में रहती है। उसका काम बुधिया ने सँभाल लिया है। परमार और राठौर के परिवार भी कन्हान में बस गए हैं। वे भी गाँव में सफाई का काम करते हैं। चौहान परिवार उनके साथ भी भाईचारा का सम्बन्ध रखते हैं और दुःख-सुख में एक-दूसरे का साथ देते हैं।

कालीचरण का छोटा भाई चन्दन है। सब उसे चन्दू पहलवान कहते हैं। उससे छोटे मदन, किसन, अर्जुन, भीम, सुदामा और गोपाल हैं। सबसे छोटी बहन दुलारी है। दुलारी छोटी थी, तभी उनके पिता गुजर गए थे। बड़े भाई और भाभी ने प्यार से उसे सँभाला है।

इस परिवार में स्कूल की शिक्षा किसी को नहीं मिली। जातिभेद और छुआछूत के कारण कोई भी स्कूल नहीं जा सका। कालीचरण और बुधिया के घर बेटा कैलाश हुआ, तब सबके अरमान जाग उठे। सबने सोच लिया – “हम कैलाश को स्कूल में पढ़ने भेजेंगे।”

दुलारी के लिए वर की तलाश शुरू कर दी गई। उस समय दुलारी सिर्फ़ दस वर्ष की थी। दुलारी की माँ उसके हाथ पीले कर देना चाहती थी।

*   *   *

सेवानगर का वाल्मीकि मुहल्ला वैसा ही है, जैसा हर गाँव या शहर में होता है। यहाँ भी गरीबी और अभाव है। उपजीविका के लिए ये लोग सुअर-पालन करते हैं। गाँव-बस्ती में सफाई का काम और मेहनत-मजूरी का काम आदमी-औरतें मिलकर करते हैं। अछूत, सेवक वर्ग की जातियों के घर, मुख्य गाँव से बाहर, विशेष रूप से अलग बसाये गए हैं। वे सेवानगर में रहकर सवर्ण समाज की सेवा करते हैं।

कन्हान में सेवानगर से दूर, सवर्ण हिन्दू महाजनों की घनी बस्ती है। वहाँ कुआँ, पनघट, रास्ते, चौबारे, मन्दिर, खेत-खलिहान, बैलगाड़ी, हल, बैल, सब कुछ हैं। सेवानगर में ये सब नहीं हैं। सेवानगर के लोग पीने का पानी सवर्ण बस्ती के कुएँ से, दूर खड़े रहकर माँग कर लाते हैं। वे जहाँ काम करते हैं, उन घरों से बचा हुआ, जूठा-बासा भोजन, रोटी-टुकड़ा, अनाज, फटे-पुराने कपड़े माँगकर लाते हैं। उनका जीवन माँग कर लायी वस्तुओं पर ही चलता है। वे कठिनाई के साथ अपने परिवार का पालन-पोषण करते हैं।

•••

महँगाई ऐसी समस्या है कि बढ़ती ही जाती है। कोई कितना भी कमाए, कम ही पड़ता है। चन्दरी गाँव के स्कूल के आसपास और बैंक के ऑफिस में झाड़ू-बुहारी लगाने का काम करती है। वह दाई का काम भी करती है। जचकी बाद सौर घर की सफाई और जच्चा-बच्चा की तेल मालिश का काम महिना या सवा महिने तक चलता है। ऐसे दिनों में पाव-आधा किलो अनाज और कुछ रुपये की कमाई होती है।

* * *

भीकूजी और चन्दरी पहले बहुत धार्मिक स्वभाव के थे। बचपन से उन्होंने यही सुना था – "भगवान् का नाम लेने से मोक्ष मिलता है। धर्म से ही स्वर्ग मिलता है। इसलिए अपने जीवन में, उठते-बैठते समय भगवान् का नाम लेते रहना चाहिए। भगवान् का नाम पुकारने का सबसे सरल और सहज तरीका है, अपने बच्चों का नाम भगवान् के नाम पर रखो। भगवान् को याद न करो और सिर्फ़ अपने बच्चों को पुकारो, तो सहज ही धर्म का लाभ मिल जाता है। भगवान् को लगता है कि हमने उसे याद किया और भगवान् हमारी मदद के लिए तैयार रहते हैं। हिन्दू पुराण कथाओं की ऐसी कथा चन्दरी ने सुनी है।

ऐसी पौराणिक कथाओं पर पहले चन्दरी और भीकूजी विश्वास करते थे। इसी विश्वास पर उन्होंने अपनी बेटियों और बेटा का नाम भगवान् के नाम पर रखा। लड़कियाँ पैदा हुई, उनके नाम लड़कियों जैसे रखना ज़रूरी था। तो यह थी, भगवान् के नाम की और उनसे फल पाने की कपोल कथा। इन्हीं के वशीभूत होकर चन्दरी और भीकूजी ने अपने बेटे का नाम रखा था रामकिसन। बेटा एक ही हुआ। तब बेटे के नाम में राम के साथ कृष्ण का नाम भी जोड़ दिया और रख दिया – रामकिसन भीकूजी मोरे।

भीकूजी और चन्दरी अनपढ़ अँगूठा छाप हैं। उनके काम और व्यवसाय भी ऐसे हैं, जिसमें अक्षर ज्ञान की कोई ज़रूरत नहीं। यदि उनके यही व्यवसाय पीढ़ी दर-पीढ़ी चलाए जाएँ, तो आगे भी कभी शिक्षा की ज़रूरत न

पड़े। शायद इसीलिए हिन्दू धर्मशास्त्रों में ऐसे विधान बनाए गए हैं कि – 'शूद्र-अछूत को अपने पैतृक रोजगार ही अपनाने चाहिए और इन शूद्र-अछूतों को शिक्षा से दूर रखा जाना चाहिए।'

भीकूजी के खानदान में कई पीढ़ियों से बाजा बजाने का और सूपा-डलिया बनाने का काम चला आ रहा है। शिक्षा न मिलने के कारण, वे अपने यही रोजगार अपनाने के लिए मजबूर हो जाते हैं। भीकूजी के मन में बचपन से ही पढ़ने की बहुत लगन थी, मगर छुआछूत के कारण स्कूल में नहीं पढ़ सके थे। अभी भी, कभी रात में, लालटेन के प्रकाश में भीकूजी प्रायमरी स्कूल की पहली, दूसरी कक्षा की किताब को कभी सीधा और कभी उलटा पकड़कर वर्णमाला के अक्षर और शब्द पहचानने की कोशिश करते हैं। यह देखकर चन्दरी उन पर हँसती है। कहती है – "भीकूजी, अब इस उम्र में पढ़ाई करके, क्या तुम्हें वकील बालस्टर बनना है ?" बेचारे लोग, नहीं जानते, पढ़ाई क्या होती, कैसी होती है ?

*   *   *

सूपा-डलिया बाजार में बेचते समय भीकूजी यह देखते हैं – "रोजगार के साथ जाति का सम्बन्ध जुड़ा है, मानो रोजगार ही हमारी पहचान है। लोग हमसे नफरत करते हैं, हमारी जाति को छोटा मानते हैं। जाति कभी जाती नहीं है। लोग किसी का परिचय पाने के लिए, पहले उसकी जाति पूछते हैं। गाँव में आए अनजान लोग और दूसरे गाँव में जाने पर, वहाँ मिले अनजान लोग किसी न किसी तरह पता लगा ही लेते हैं कि हमारी जाति क्या है ?" भीकूजी हताश भाव से, निराशा के साथ यह कहते हैं – "कितनी भी कलाकारी करो, कितनी भी प्रगति करो, आखिर जात तो वही रहती है। ये जात-पात, भेदभाव की बात, लोग भूलते क्यों नहीं ?"

भीकूजी ऐसे जातिवादी लोगों से बहुत चिढ़ते हैं। कभी उनके पीठ पीछे और कभी सामने भी, ऐसे लोगों को बेधड़क खरी-खोटी सुना देते हैं – "जाति के बिना क्या इन्सान दिखाई नहीं देते तुम्हें? अरे, इन्सान को इन्सान समझो, तभी तुम इन्सान कहलाओगे।" ऐसे समय चन्दरी ही उन्हें समझा देती है – "भीकूजी, इतना गुस्सा ठीक नहीं। धीरज रखो। धीरे-धीरे जात-पाँत की बात और छुआछूत के पुराने रीति-रिवाज भी बदल जाएँगे। एक-दो लोगों पर इतना गुस्सा करने का फायदा ज़्यादा नहीं। अपनी बात इस तरह कहो कि हजारों लोग सुनें और समझें। तभी यह समाज व्यवस्था बदलेगी।"

•••

भीकूजी के घर बेटा पैदा हुआ था, तब उनके सपनों के इन्द्रधनुष में सभी रंग भर गए थे। तभी उन्होंने मन ही मन ठान लिया था – "मेरा बेटा बाजा नहीं बजाएगा। मेरा बेटा खूब पढ़ेगा, अच्छी नौकरी करेगा।" यह उनका सपना बन गया था, बेटा उनके सपने पूरे करेगा। भीकूजी यह जान गए थे, अब जमाना बदल रहा है। देश के नेता और समझदार गुरुजन अपने भाषण और प्रवचनों में यह कहते थे – "हम सब भारतवासी आपस में बराबर हैं, भाई-भाई हैं। हमें अपने देश की उन्नति में, आपसी भेदभाव को भुलाकर अपना सहयोग देना चाहिए।" 1947 में मिली देश की स्वतन्त्रता को, बारह साल बाद भीकूजी भी महसूस करने लगे थे।

*   *   *

उन दिनों महाराष्ट्र में डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर की विचारधारा का बहुत प्रचार-प्रसार हो रहा था। स्वयं डॉ॰ अम्बेडकर महाराष्ट्र के कई शहरों और गाँवों में जाकर दलित समाज को जाग्रत् करने के लिए प्रबोधन कर रहे थे। महार जाति के लाखों लोग उनके साथ थे। नागपुर और कामठी में भी उनके कार्यक्रम हुए थे। 1956 में नागपुर की दीक्षाभूमि पर, डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर ने अपने लाखों दलित स्त्री-पुरुषों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। तब बहुत विशाल और भव्य कार्यक्रम हुआ था।

महाराष्ट्र में छपने वाली अनेक मराठी दलित पत्रिकाओं में दलितों के साथ होने वाले देशव्यापी अन्याय-अत्याचारों के समाचार, दलित जागरूक लोग छाप रहे थे। वे इन पत्रिकाओं के माध्यम से दलित वर्ग को जाग्रति का सन्देश भी दे रहे थे।

यह सब जानते हुए भी, सेवानगर के लोग, इन सबसे जुड़ नहीं पाए।

* * *

सेवानगर के वाल्मीकि जाति के लोगों को तो इन बातों की खबर ही नहीं थी। महाराष्ट्र में महार जाति द्वारा सफाई का काम छोड़ने पर, उनके इन काम को करने के लिए, राजस्थान और उत्तर भारत के हिन्दीभाषी लोगों को यहाँ लाया गया था। इस बात की शर्म और अफसोस भी इन लोगों को नहीं है। वे अपने आपस में भेदभाव मानने में ही व्यस्त हैं। डुमार, मखियार, धानुक, मांग, चमार के बीच जाति का भेदभाव है।

•••

चन्दरी और भीकूजी ने 1958 के साल में अपनी बेटियों को स्कूल भेजा था। सीता और राधा दोनों बहनों का नाम एक साथ पहली कक्षा में लिखाया। उनकी उम्र में सिर्फ़ डेढ़ साल का ही अन्तर है। दोनों की जन्मतिथि, बताने के बाद भी एडमिशन करने वाले मास्साब ने दोनों लड़कियों को, दायें हाथ से बायाँ कान पकड़ने के लिए कहा और स्कूल एडमिशन के लिए उचित उम्र का अनुमान लगाकर, उनका नाम रजिस्टर में लिख लिया था। उसके दूसरे दिन से दोनों बहनें छोटी थैली में अपनी-अपनी स्लेट-पट्टी और कलम लेकर स्कूल जाने लगी थीं।

वे मांग जाति की हैं, यह बात कक्षा में सबको पता थी। पालकों ने स्कूल के अपने बच्चों को अच्छी तरह समझा दिया था – "मांग अछूत जाति के बच्चों के पास नहीं बैठना। इनके हाथ का कुछ खाना नहीं, पीना नहीं।"

"पढ़-लिखकर तुम क्या करोगी ?" पण्डित मास्टर यह कहते और उन्हें कक्षा में सबसे पीछे बैठाते। दिनभर कक्षा में पढ़ाई-लिखाई के साथ, बच्चों की धूम-मस्ती चलती रहती। सीता और राधा चुपचाप अपनी स्लेट छाती से चिपकाए, कक्षा के बच्चों को देखती रहतीं।

* * *

कक्षा में झाडू लगाना, बैठने की पट्टी बिछाना सीता और राधा के काम थे। प्रतिदिन उनसे ये काम भी कराए जाते। मगर वे स्कूल के पानी के घड़े को छू नहीं सकती थीं। प्यास लगने पर चपरासी दूर से पानी पिलाता था। उनके साथ उपेक्षा और अपमान का व्यवहार किया जाता। वे तीसरी कक्षा से आगे नहीं बढ़ सकीं। सीता, राधा, लक्ष्मी, पार्वती जैसे इतने अच्छे नाम होने के बाद भी, उन्हें स्कूल में जातिभेद और छुआछूत का अपमान मिलता रहा।

लक्ष्मी और पार्वती स्कूल में प्यास लगने पर, पानी के घड़े के पास जातीं। आसपास किसी को न देखकर, वे अपने हाथ से पानी लेकर पी लेतीं। स्कूल का पानी का घड़ा छूने के दण्डस्वरूप, लक्ष्मी और पार्वती कई बार बुरी तरह पिटीं।

* * *

"कब आएगा हमारा दिन ? अजी, हमारी जिन्दगी तो ऐसे ही बीत रही है। हमारे बच्चों को भी, हमारी तरह लाचार बना रहे हैं। कब तक हम ऐसी जिन्दगी जीते रहेंगे ?" चन्दरी के मन में आक्रोश भर गया।

"बदल रहा है और बदलेगा।" चन्दरी का गुस्सा देखकर भीकूजी ने कहा। "पहले हमारी छाया से भी छूत लगती थी, हमें देखने से उन्हें पाप लगता था। अब पूरे देश में छुआछूत हटाने का आन्दोलन चल रहा है। हमारे राजनेता सरकार की नाक में दम कर रहे हैं। आजकल सरकार भी सबकी सुनकर चलती है। हमारी शिकायतें हम अपने नेताओं के मार्फत सरकार तक पहुँचाएँगे। जो मास्टर हमारे बच्चों को पढ़ने नहीं देते – ऐसे जातिवादी लोगों को हम सजा दिलवाएँगे।" भीकूजी के स्वर में विश्वास है।

* * *

भीकूजी का यह सुख-संतोष कुछ क्षणों तक ही रहता है। कड़कती धूप में जब भूखे-प्यासे रहकर पसीना बहाते हैं, तब जीवन के सारे अभाव दुःख, तकलीफ और शोषण, अन्याय याद आने लगते हैं। तब उनका मन यही प्रश्न करता है – "क्यों हम ऐसा जीवन जीते हैं। क्यों हम सवर्ण समाज से अलग, बहिष्कृत अपमानित, दलित, अछूत बेबस मजबूर जीवन जीते हैं ? हमारे लिए क्यों ऐसे बन्धन हैं ? हम क्यों ऐसे पराधीन हैं ? स्वतन्त्र देश में रहकर भी, रूढ़ि परम्पराओं से पराधीन !"

दरवाजे के पास, छत की बल्ली में टँगा मिट्ठू का पिंजरा देखकर भीकूजी दया से भर गए – "बेचारे पक्षी को कैद करके पिंजरे में बंदी करके रखा है। यह उसके साथ अन्याय है। कहीं वह उड़ न जाए, इसके लिए उसके पंख भी काट दिए हैं। मुक्त गगन में उड़ने वाले आत्मनिर्भर पक्षी को अपने आश्रित बना लिया है, क्या यह गलत नहीं है ?" वे सोचने लगे – "उच्चवर्णी लोगों ने हमें भी इसी तरह अपने आश्रित बनाकर रखा है। हमारी शक्ति को, आगे बढ़ने की हमारी क्षमता को उन्होंने हमसे छीन लिया है। हमें कमजोर, असहाय बना दिया है। ऐसा क्यों किया हमारे साथ ?"

भीकूजी स्वयं से प्रश्न कर रहे हैं। आज भीकूजी के मन में क्या है ? पता नहीं। वे न जाने क्या-क्या सोचे जा रहे हैं – "मानवता की, प्रकृति की और पर्यावरण की चिन्ता हम सभी ने करना चाहिए। मगर लोग अपने सुख के लिए बसीभूत हो जाते हैं। पिंजरे का पंछी, कितनी मीठी आवाज़ में मनुष्यों की तरह बात करता है, उस सुख को पाने के लिए ही, लोग आकाश में उड़ने वाले पंछी को पिंजरे में बन्दकरके रखते हैं। हमसे भी लोगों की इसी तरह सेवा करवायी जाती है। हमें पराश्रित-पराधीन रखकर वे सुख-सुविधा पाते हैं।"

भीकूजी सोचने लगे – "यदि हम पशु-पक्षियों को मुक्त स्वतन्त्र रखकर, उनके भोजन-पानी का इन्तजाम कर सकें, तो कितना अच्छा हो ! इसी तरह समता, स्वतन्त्रता, बन्धुता और सम्मान का जीवन हम भी जीयें ! समाज में – 'जीयो और जीने दो' का सिद्धान्त होना चाहिए।"

* * *

रामकिसन सातवीं कक्षा में पढ़ रहा है। स्कूल यूनीफार्म पहनकर वह पढ़ा-लिखा और अच्छे घर का लड़का दिखने लगता है। उसके इस रूप को देखकर चन्दरी और भीकूजी मानो नजरों से ही सौ-सौ बलैया ले लेते हैं। रामकिसन के बाल तेल कंघी से चमक रहे हैं। पाँव में काले जूते और सफेद मोजे के साथ, गले में लाल टाई बाँधना भी ज़रूरी है। मगर टाई भी समय पर मिलती ही नहीं है। रामकिसन ने चलते-चलते सफेद शर्ट के बटन लगा लिए और शर्ट को पेन्ट के अन्दर दबाकर शर्ट इन कर ली। भीकूजी एक हाथ से बेटे को अपने में समेटे हुए, गुनगुनाते आगे बढ़ते रहे – "मेरा बेटा खूब पढ़ेगा, मेरा बेटा साहब बनेगा।"

भीकूजी आशावादी हैं। चन्दरी समाज के कटु यथार्थ को देखकर नाराज है। बेटे के प्रति भीकूजी की अत्यधिक बढ़ती महत्त्वाकांक्षा को देखकर, एक दिन चन्दरी बोली – "भीकूजी, अपने दिल में बड़े सपने पाल रहे हो। मगर याद रखो, हमारे बच्चे पढ़-लिख भी जाएँ, तो भी उन्हें अच्छी नौकरी कौन करने देगा ? गाँधीजी यही कह गए हैं – 'अछूत चाहे जितना पढ़-लिख लें, मगर काम-रोजगार अपने बाप-दादाओं का ही करें।' हमारा काम यही बताया है, सूपा-डलिया बनाओ, झाडू-चटाई बनाओ, सिर पर रखकर बेचो और बजाओ बाजा।"

•••

दुलारी ग्यारहवें वर्ष में लग गई थी। इस बीच कन्हान के पास मौदा नामक एक छोटे गाँव के मेघवाल परिवार में दुलारी के विवाह की बात पक्की हो गई। वर 15-16 वर्ष का नन्दलाल मेघवाल बहुत ही सुन्दर और समझदार लड़का है। ग्यारहवें वर्ष की उम्र में दुलारी का विवाह हो गया। बारह वर्ष की होने पर, गौना होने के बाद, वह अपनी ससुराल आ गई।

नन्दलाल को नौकरी नहीं थी। वह काम की तलाश में यहाँ-वहाँ भटकता रहा। दो वर्ष के बाद नन्दलाल कन्हान आकर काम करने लगा। कालीचरण और बुधिया ने उनके लिए अपने पड़ोस में अलग घर बना दिया। नन्दलाल दुलारी के साथ यहाँ रहते हुए अपनी घर-गृहस्थी सँभालने लगा। गाँव की छुआछूत और अपनी

सीमाओं को समझते हुए, अपनी समझदारी और कुशल व्यवहार के साथ, वह सेवानगर का स्थायी निवासी बन गया।

उस समय कन्हान में मेहतर वाल्मीकि के साथ छुआछूत, उपेक्षा, डाँट-फटकार और अपमान का अधिक बुरा व्यवहार किया जाता था। अगर इन अछूतों के बच्चे कुछ दिनों तक स्कूल न आए, तब भी मास्टर उनकी कोई चिन्ता नहीं करते थे। दो-चार दिन के बाद जब ये बच्चे स्कूल आते, तब कक्षा में जाने के पहले दरवाजे पर ही मास्टर की मारपीट और अपशब्दों का सामना करना पड़ता। ब्राह्मण और बनिया मास्टर इतरा-इतरा कर साफ-साफ कहते – "क्यों आते हो स्कूल ? क्या करोगे पढ़कर ?"

उस दिन भीकूजी ने अपनी आँखों से देखा था, कालीचरण चौहान वाल्मीकि का बेटा कैलाश तीसरी कक्षा में पढ़ता था। वह हफ्ते भर स्कूल नहीं आया। स्कूल आया तब मास्टरजी कक्षा में नहीं थे। वह चुपचाप आकर अपनी जगह पर सबसे पीछे बैठ गया। उस पर नज़र पड़ते ही मास्टर ने बाल पकड़ कर घसीटते हुए क्लास के बाहर निकाला था। फिर क्या लात-घूसों से पिटाई की, कि पूछो मत। मास्टर ने कैलाश चौहान का बस्ता बच्चों से कहकर खिड़की से बाहर फिंकवा दिया था।

भीकूजी स्कूल के पास, नीम के पेड़ के नीचे ऐसे ही खड़े थे। स्कूल के बच्चों के प्रति उनके मन में बहुत अपनापन और आकर्षण है। वे सभी बच्चों को पढ़ते हुए, खेलते हुए बड़े चाव के साथ देखते हैं। उस दिन कैलाश चौहान की पिटाई उनसे देखी नहीं गई। वे तुरन्त मास्टर के पास पहुँचे और उनका हाथ पकड़ लिया। मास्टर क्षण भर के लिए आश्चर्यचकित हो गया। भीकूजी का गुस्से से तमतमाया चेहरा देखकर, मास्टर ने लड़के को पीटना बन्द कर दिया, मगर वह व्यंग्य और अपमान की बातें लगातार बोलता रहा – "साले कंजर, मेहतर, मांग, बसोर – क्यों चले आते हैं पढ़ने ? जाओ, अपने माँ-बाप के साथ सड़कें झाड़ो, कचरा उठाओ, मैला उठाओ, मरे ढोर उठाओ। होमवर्क नहीं करते, पढ़ाई नहीं करते, तब कक्षा में क्यों आते हो ?"

जाति के नाम से दी गई गाली सुनकर भीकूजी का गुस्सा बढ़ गया। उनका मन हो गया कि अभी इसी वक्त, इस मास्टर को दो-चार पटकनी देकर पीट दें। उनकी बाहें फड़कने लगीं, हाथ गुस्से से आगे बढ़े। मगर भीकूजी रुक गए।

* * *

सेठ ऋषभ कुमार जैन, डॉ० डिसूज़ा और मोहनलाल बजाज कन्हान के सम्मानित लोग, 'कन्हान नगर परिषद्' की कार्यकारी कमेटी के सदस्य हैं। नगर परिषद् के प्रायमरी स्कूल की इस घटना की बात उन तक पहुँची। वे सभी स्कूल में आए। उन्होंने पण्डित मास्टर और स्कूल के हेडमास्टर को बहुत डाँटा। साथ ही कालीचरण और चन्दू चौहान को समझाया – "अब आपके बच्चों को कभी कोई इस तरह नहीं मारेगा। आप लोग इस बार इन्हें माफ कर दें।"

गाँव के इतने सम्मानित सवर्णों को अपने शुभचिन्तक रूप में देखकर, सेवानगर के लोगों को अच्छा लगा। उन्होंने समझ लिया – "सभी सवर्ण लोग दुष्ट नहीं होते। कुछ दुष्ट लोग ही, समाज में जातिभेद का जहर फैलाकर, पूरे सवर्ण समाज को कलंकित करते हैं।" डॉ॰ डिसूज़ा बहुत दयालु हैं। वे गरीबों से कभी कोई फीस नहीं लेते। सेठ ऋषभ जैन भी मानवतावादी हैं। अपने भाषण में वे सबसे यही कहते हैं – "मानवमात्र सब एक बराबर हैं। किसी के साथ अन्याय नहीं करना चाहिए, किसी को दुखी नहीं करना चाहिए। मनुष्यों के प्रति सद्भावना ही ईश्वर की पूजा है।" मोहनलाल बजाज भी गरीबों और अछूतों की आर्थिक मदद करते रहते हैं। समाज के सभी लोग इन बातों को जानते, समझते हैं, मगर वे जातिभेद, छुआछूत मानना भी भूलते नहीं हैं। पूरा गाँव इन सभी के अच्छे व्यवहार और हितैषी स्वभाव की प्रशंसा करता है। उनके आने से सेवानगर के वाल्मीकियों का गुस्सा शान्त हुआ। स्कूल के सामने भीड़ इकट्ठी हो गई थी। दोनों भाई मुश्किल से शान्त हुए। सभी अपने-अपने घर लौट गए।

•••

चन्दरी बुरी नीयत वाले सवर्णों के छल-फरेब जानती है। 'सदियों से अछूतों की बहू-बेटियाँ उनकी हवस का शिकार बनती रही हैं। खेत-खलिहान में काम करने वाली मजदूर औरतों के साथ वे मनमानी करते हैं।' यह याद करके चन्दरी का क्रोध भड़क उठा। अपनी बेटियों के प्रति बदमाश मास्टरों की खराब नियत देखकर, वह उन्हें गालियाँ देती हुई, स्कूल पहुँच गई। डर के कारण मक्खन मास्टर उसके सामने नहीं आया। उस दिन चन्दरी को महसूस हुआ, उसने यह विजय पायी है। फिर तो वह स्कूल के पास से जब भी गुजरती, मक्खनलाल को गाली देती हुई निकलती– "अरे पापी, अपनी बहन-बेटियों को भी पाप की नज़र से देखते हो ? तुम्हारे धर्मग्रन्थों में, यही सब लिखा है क्या ? अपनी कथा-कहानियों में यही सब बताते हो ? पाखण्डियो, अब तो शर्म करो।"

•••

भीकूजी मजबूर हो गए। रामकिसन बहुत दुखी है, मगर क्या, कर सकता है ? वह भी मजबूर हो गया। भीकूजी राजा दशरथ नहीं थे, न कृष्ण के पिता वासुदेव, न ही गोकुल के नन्द बाबा। यदि नन्द बाबा ही होते, तो अपने किसन को गैया चराने भेज देते या दूध, दही, मक्खन, घी का कारोबार शुरू कर देते। मगर वे तो भीकूजी मातंग हैं, भीकूजी मोरे, लोगों के घर उत्सवों में बाजा बजाने वाले, गाँव के बाहर दलित मलिन बस्ती सेवानगर में रहने वाले, सूपा, डलिया, टोकना बनाकर बेचने वाले भीकूजी ! वे अपने बेटे का भविष्य बचाने के लिए कुछ नहीं कर सके ! दुःख और अफसोस करते रहे। चन्दरी उनके दुःख और पीड़ा को समझती है, वह चुप रहती है, मगर उसका हृदय भी हाहाकार करता है। बरसों से सजाए अपने सपनों को डूबते हुए देखकर उनकी आँखों से आँसू बहते हैं। हृदय में तड़प उठती है, सदियों का सुप्त ज्वालामुखी, जाग्रत् होकर विस्फोट करना चाहता है।

गाँव के उच्च जाति के बच्चे स्कूल जा रहे हैं, रामकिसन उन्हें स्कूल जाते देख रहा है। हृदय में छिपे दु:ख के कारण उसकी आँखों से आँसू बहने लगते हैं। रामकिसन अपनी बाहों से आँसू पोंछता है। मौसम बदल रहे हैं, ठंड, गरमी, बरसात के मौसम। हर मौसम में बच्चे स्कूल जा रहे हैं। रामकिसन उन्हें देखते-देखते बड़ा हो रहा है।

अब रामकिसन जवान दिखने लगा है। चन्दरी चटाई, डलिया, सूपा बुनती जा रही है। भीकूजी बरामदे में खटिया पर बैठे चिन्तन-मनन में डूबे हैं। दोनों पति-पत्नी अब बूढ़े दिखने लगे हैं।

रामकिसन मजबूरी के साथ माता-पिता के काम में हाथ बँटाने लगा। माँ के साथ बैठकर, अब वह भी सूपा, डाला, चटाई आदि बनाता है। उन्हें बेचने के लिए कभी साप्ताहिक बाजार जाता है, कभी कन्हान के गली-मुहल्लों में घूम-घूम कर आवाज़ लगाता है – "सूपा ले लो ... सूपा। टोकना ले लो, टोकना, टोकनी।" सफेद मटमैला कुर्ता-पायजामा पहने रामकिसन, साइकल के हैंडल पर दोनों ओर सूपा, टोकना, डलिया रस्सी से बाँधे घूमता है। साइकल चलाते हुए, वह प्रत्येक घर के दरवाजे के सामने थोड़ा रुककर, हाँक लगाता। फिर खिड़की दरवाजे की तरफ देखते हुए आगे बढ़ जाता।

दिन भर में पूरे गाँव की गलियों के कई चक्कर लगाता है, तब कहीं कुछ आमदनी हो पाती है। दो वक्त की रोटी के इन्तजाम के लिए वह मजबूरी में ये काम करता है। ऐसे समय उसे स्कूल के दिन याद आते हैं। वह सोचता है – "यदि उसने खूब पढ़ाई की होती, तो उसे ये दिन नहीं देखने पड़ते। मैट्रिक करने के बाद उसे कोई अच्छी नौकरी ज़रूर मिल जाती।" मगर सच यह है, उसकी गलती से अधिक, इस समाज-व्यवस्था की गलती है, यह इस समाज-व्यवस्था का कलंक है। उच्च कहलाने वाले लोग, अछूतों को आगे नहीं बढ़ने देते हैं।

रामकिसन शादी, ब्याह या किसी काम-कारज में, पिता के साथ बाजा बजाने का काम भी करने लगा। वह भी भीकूजी की तरह, एक बाँह से बगल में घेरा दबाकर, छोटी लकड़ियों से 'तिडिंग-तिडिंग' की आवाज़ के साथ पूरे माहौल को उत्साह और ख़ुशी से भर देता है। कभी वह झाँझ बजाता, कभी अपनी मनपसंद बाँसुरी बजाता है। लोग ख़ुश होकर उन्हें ईनाम भी देते हैं।

रामकिसन को इस तरह का ईनाम लेने में शर्म आती है। उसे अपनी निम्न, निरीह स्थिति का भान होता है। ऐसे समय वह सोचता है, इस बाजे को वहीं पटककर, वह कहीं दूर भाग जाए, जहाँ वह स्वाभिमान का जीवन जी सके। उसका हृदय वेदना से भर जाता है। भीकूजी अपने बेटे के मन की पीड़ा को जानते हैं। ऐसे समय वे भी दुखी हो जाते हैं। अब उनका भी मन बाजा बजाने में नहीं लगता है।

•••

कन्हान गाँव कन्हान नदी के किनारे बसा है। इसके आसपास कई छोटे-बड़े गाँव और शहर हैं। 'हनुमान दल' का कार्यक्षेत्र केवल तहसील और जिले तक सीमित नहीं, बल्कि वे राष्ट्रीय स्तर और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अपना काम कर रहे हैं।

एक बार कन्हान, कामठी, नागपुर और देश के कई शहरों में यह चर्चा थी कि – 'वानर रूपी मानव ने सड़कों पर आतंक मचा रखा है।' 'हनुमान दल' के लोग उसे हनुमान् रूप में सिद्ध करने लगे। ऐसे समय हिन्दू धर्म के अवतारवाद पर, समाज का विश्वास बढ़ाने का काम भी, 'हनुमान दल' के प्रमुख लोगों ने किया।

कैलाश की बहुत इच्छा थी कि रामकिसन भी 'हनुमान दल' से जुड़कर काम करे, मगर रामकिसन नहीं जुड़ा। भीकूजी ने कैलाश को भी समझाया – "बेटा, अपने अण्णाभाऊ साठे और डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर का साहित्य पढ़ो, अपने दलित पिछड़े समाज की स्थिति समझकर, उनके लिए काम करो।" मगर कैलाश ने भीकूजी की बात नहीं समझी।

कैलाश चौहान रामकिसन की उम्र का है। उसका विवाह हो गया है। सम्मिलित कुटुम्ब व्यवस्था होने के कारण, वह अलग से अपने बीबी-बच्चों की चिन्ता नहीं करता। कैलाश की पत्नी शारदा नागपुर के वाल्मीकि मुहल्ला की है। पति की बेरोजगारी और राजनीति का चक्कर देखकर, वह पहले ही दुखी रहती है, परिवार के खर्च और जिम्मेदारी से भी दुखी है। कैलाश की लापरवाही देखकर शारदा कन्हान गाँव में प्रायवेट रूप से सफाई का काम करने लगी। इससे कैलाश अधिक निश्चिन्त हो गया। 'हनुमान दल' से जुड़कर और उच्च वर्ण के लोगों के लिए काम करके, उसने अपने सम्मान और स्वाभिमान की बात नहीं समझी। वह अपने समाज और परिवार के प्रति गैरजिम्मेदार बनकर, अपना समय और जीवन व्यर्थ करता रहा।

•••

बहुत दिनों के बाद रामकिसन को नौकरी लगी। चन्दरी की ख़ुशी का पारावार नहीं है। वह सबको सुनाकर बार-बार कह रही है – "ये सब हमारे घर के बड़ों-बूढ़ों का आशीर्वाद है। हमारे बेटे को पक्की सरकारी नौकरी लगी है, बैंक में पक्की नौकरी है।"

चन्दरी की इन बातों को बार-बार सुनकर, भीकूजी ने उसे रोकते हुए कहा – "क्यों इतना जोर से सबको ये बातें बता रही हो ? तुम नहीं जानतीं ? मैं जानता हूँ, रामकिसन को नौकरी कैसे मिली ? अपनी पूरी जिन्दगी की जमा-पूँजी खर्च कर दी है मैंने। ऊपर से लेकर नीचे तक के सभी अफसरों और बाबू लोगों को रिश्वत दी है मैंने, तब कहीं मिल सकी है यह नौकरी।"

•••

गाँव की सीमा पर पीपल का बड़ा पेड़ है, जिसके नीचे देवी की छोटी-सी मढ़ैया बनी है। पत्थर की अनगढ़ मूर्ति को लाल वस्त्र बाँधा है। पूरा गाँव इसे ग्रामदेवी खेड़ापति माता का मन्दिर कहता है। गाँव के हिन्दू महाजन यहाँ पूजा करने नहीं आते। गाँव के दलित और पिछड़े वर्ग के लोग ही यहाँ पूजा करते हैं। वे ग्रामदेवी को मातृशक्ति का प्रतीक मानते हैं। मातृसत्ता युग में स्त्रियों के हाथों में सत्ता और शासन रहता था। दलित पिछड़े वर्ग के लोग स्वयं को यहाँ के मूलनिवासी कहते हुए, ग्रामदेवी को स्त्री-शक्ति के रूप में पूजते हैं। वे शादी-ब्याह शुरू होने के पहले या किसी मंगलकार्य के पहले गाँव की सीमा पर बने देवी के मन्दिर में पूजा ज़रूर करते हैं। पूजा में नारियल और शक्कर की चिरौंजी चढ़ायी जाती। बड़ी पूजा के लिए, कढ़ाई में हलवा-पूड़ी बनाकर, दो पूरी पर मीठा हलवा रखकर अठवाई चढ़ाते हैं।

चन्दरी ने कई दिनों से 'ग्रामदेवी' के सामने रामकिसन की नौकरी के लिए मनौती मानी थी। उसकी मन्नत पूरी हुई। चन्दरी पूरे परिवार के साथ पूजा करने आयी। वह अपने घर से एक लोटा पानी के साथ, पूजा की थाली में हल्दी, चावल, फूलों का हार, अगरबत्ती, नारियल, चिरौंजी और हलवा-पूड़ी का प्रसाद लेकर मन्दिर आयी। पूजा के पहले मूर्ति को पानी से नहलाया, इसके बाद हल्दी-कुमकुम का तिलक करके, धूप, अगरबत्ती, दिया-बाती जलायी, गेंदा और सेवन्ती के फूलों का हार चढ़ाया। यही पूजा है, इन गरीब अभावग्रस्त लोगों की।

सवर्ण समाज द्वारा बहिष्कृत और गाँव के बाहर रहने के लिए मजबूर बनाए गए इन लोगों का अपना इतिहास है। वे अपने गौरवमय इतिहास को याद करते हैं, कि हमारे पूर्वज भी पहले यहाँ के शासक थे। शासक पीढ़ी के वंशज इतने शोषित-पीड़ित कैसे और क्यों बना दिए गए ? इन प्रश्नों के उत्तर खोजे जा रहे हैं। मगर सेवानगर के लोग अभी भी इन बातों को, अपनी अज्ञानता के कारण जान नहीं पाए हैं। शिक्षा के अभाव ने ही उन्हें अँधेरे में रखा है। उन्हें ऐसे आलोक की प्रतीक्षा है, 'जो उनके मन के आकाश को आलोकमय कर देगा। फिर कोई भी उन्हें छल-कपट के साथ भ्रमित नहीं कर पाएगा। नीले आकाश का आलोक, सेवानगर के लोगों की तरह, पूरे देश में रहने वाले, पूरे विश्व में रहने वाले दलित, पिछड़े, शोषित, पीड़ित लोगों को मुक्ति का मार्ग बताकर, उन्हें स्वयं-प्रकाशित कर देगा।' सेवानगर के लोग यही कामना करते हैं।

सेवानगर के वाल्मीकि परिवार के लोग भी ग्रामदेवी की पूजा करने जाते हैं। वे भी देवी के सामने मनौतियाँ मानकर पूजा कबूल करते हैं। नारियल और प्रसाद चढ़ाकर वे यह मान लेते हैं कि हम पर देवी की कृपा बनी रहेगी। देवी हमारे सभी कार्यों में सहायक रहेगी। सभी लोग देर तक हाथ जोड़ते हैं, पैर पड़ते, प्रार्थना विनती करते हुए मनौतियाँ मानते हैं। पूजा के बाद सब प्रसाद खाते हैं।

मांग और वाल्मीकि, दोनों ही जाति के लोग अपने कुलदेवता के रूप में मसान बाबा और मरई माता की पूजा करते हैं। वे इन्हें अपने मूलनिवासी देवी और देवता मानते हैं।

•••

रविवार के दिन भीकूजी और चन्दरी के घर मरई माता और मसान बाबा की, पूजा की बड़ी चहल-पहल है। मई का महिना, गरमी का मौसम, सुबह से तेज धूप निकली है। धूप से बचने के लिए घर के सामने आँगन में शामियाना बँधा है। आँगन में बिछी बड़ी दरी पर मुहल्ला-पड़ोस के लोग और जात-बिरादरी के दूर-दूर से आए खास मेहमान बैठे हैं। आँगन में आदमी हैं, बरामदे में दरी पर औरतें बैठी लोकगीत, भजन और बधाई गीत गा रही हैं – "जय हो ... मंगल दिवस दिखाए ... बाबा की जय हो ... मंगल दिवस दिखाए ... मैया की जय हो, मंगल दिवस दिखाए ..."

गीत की एक ही पंक्ति को कई बार दोहराते हुए, वे उनमें अगली कड़ी जोड़ रही हैं – "बुँदिया के लड्डू का भोग लगाए ... जय हो ... मंगल दिवस दिखाए।" वे कई मिठाई और पकवानों का नाम जोड़कर गीत को लम्बा तानकर गा रही हैं। औरतों के बीच बैठी कली बड़े हुनर के साथ ढोलक बजा रही है।

बड़े कमरे में पूजा चल रही है। पहले मरई माता की पूजा की गई। फिर बाबा की पूजा हुई। आग पर घी डालकर होम लगाने से धुआँ पूरे घर में फैल रहा है। कमरे की दीवार पर सिन्दूर से 'जय मरई माता', 'जय मसान बाबा' लिखा है। उसके सामने ज़मीन पर आटे का चौक बनाकर पूजा की सामग्री रखी है – नारियल, अगरबत्ती, फूल-मालाओं के साथ, पानी से भरा लोटा रखा है। लड्डू, जलेबी, गुलाबजामुन, पेड़ा और बरफी – पाँच प्रकार की मिठाइयाँ रखी हैं। एक थाली में सात प्रकार के फल हैं – केला, आम, पपीता, अंगूर, अनार, खरबूज, तरबूज और चीकू। एक थाली मे पाँच प्रकार के मेवा हैं – काजू, बादाम, अखरोट, किसमिस और चारोली।

फल, मिठाई, मेवा सभी महँगे दाम में खरीदे गए हैं। पूजा में यह सब रखना ज़रूरी नहीं है, मगर खरीदना पड़ा। चन्दरी की सास कहती थी – "पूजा करना, तो अच्छे से करना। खर्च में कमी नहीं करना। भले ही हमें महिना-पन्द्रह दिन भूखा रहना पड़े, मगर पूजा के दिन कोई कमी नहीं होना चाहिए।" चन्दरी और भीकूजी इन बातों का अनुकरण नहीं करते हैं। मगर यथार्थ में चन्दरी का लक्ष्य, दूसरी ही बात है। ऐसे दिन, अपने घर आए सभी रिश्तेदारों और परिचितों को, वह बता देना चाहती है – "हम भी किसी से कम नहीं हैं।"

पूजा के सामने रस्सी से एक छोटा बकरा बँधा है। बलि के इस बकरे के गले में फूल-मालाएँ सजी हैं। भीकूजी उसे बार-बार अनाज के दाने खिला रहे हैं, मगर बकरा खाने से इन्कार करते हुए सिर झटक रहा है। पूजा देखकर ही वह भयभीत है। थोड़ी-थोड़ी देर में वह अपने गले में बँधी रस्सी छुड़ाने के प्रयास के साथ, करुण आवाज़ में पुकारता है – "म्याँ।"

भीकूजी भीमनगर के प्रबुद्ध लोगों से तथागत गौतम बुद्ध और डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर की चर्चा सुनते रहते हैं। बुद्ध धर्म के सिद्धान्त और गौतम बुद्ध की अहिंसा का सन्देश, भीकूजी ने समझा है। वे जीव-हत्या का विरोध करने लगे है। डॉ॰ अम्बेडकर ने अपने लोगों को बौद्ध धर्म को अपनाकर, अपनी जाति को समता और सम्मान की राह दिखाई है, यह भी वे जान गए हैं।

बकरे की करुण पुकार सुनकर, भीकूजी का मन द्रवित हो रहा है। पूजा में बलि देना उन्हें अन्यायपूर्ण लग रहा है। निरीह जानवरों को भी जीने का हक है। उन्होंने निश्चय किया – "अब हम इस तरह बलि देने की पूजा नहीं करेंगे, दूसरे लोगों को भी यह बात समझाएँगे। अन्धविश्वास से पूर्ण पूजा-अनुष्ठानों का हम विरोध करेंगे।" वे सोच रहे हैं – "आज की इस पूजा में बकरे की बलि को कैसे रोका जाए ?"

बकरा काटना कठिन काम है। इस काम के लिए दूर के रिश्तेदार भैयालाल को बुलाया गया है। भैयालाल बकरा काटकर मांस बेचने का काम करता है। पूजा में पूरी-हलवे की अठवाई रख दी गई। अब बस, बलि चढ़ाना है। घर के सामने बाजे बजने लगे। यह बाजा भीकू और रामकिसन नहीं, बल्कि पड़ोसी गंगाराम बनसोड़े और उनका बेटा सीताराम बजा रहे हैं।

चन्दरी ने बकरे को हल्दी का तिलक लगाकर कपूर जलाया। कपूर का धुआँ बकरे की तरफ किया। नारियल और पूड़ी-हलवा का थोड़ा प्रसाद बकरे को खिलाया। इसके बाद भैयालाल ने बकरे की नरम गर्दन को

पकड़ा। बस, इसी समय भीकूजी ने भैयालाल का हाथ पकड़ लिया। उसके हाथ से बकरे को लेकर बाजू कर लिया और सबके सामने हाथ जोड़कर कहा – "बाबा ने पूजा कबूल की। यह बाबा के नाम का बकरा है। इस पर अब किसी का अधिकार नहीं है। यह मुक्त, स्वतन्त्र है। हम इसे मारेंगे नहीं, इसे ज़िंदा रहने देंगे। आज से मैं अपने घर में बलिप्रथा को बन्द कर रहा हूँ।"

सभी लोग आश्चर्य के साथ भीकूजी को देख रहे हैं, फिर मानो वे सब कुछ समझ गए। सबने ख़ुशी के साथ कहा – "अब हम सभी किसी भी पूजा में पशु-पक्षी की बलि नहीं देंगे।" ख़ुशी के कारण भीकूजी की आँखों से आँसू बहने लगे। चन्दरी पहले तो इस परिवर्तन से अकबकायी। फिर तुरन्त ख़ुशी-ख़ुशी सब सँभाल लिया। तुरन्त हरी सब्जी-भाजी मँगवायी गई। साथ में मीठे पकवान भी बनाए गए। भीकूजी ने अपने घर से यह नई परम्परा शुरू कर दी।

आज उन्हें महसूस हुआ कि उन्होंने, अपने जीवन में यह प्रगति और परिवर्तन का पहला कदम रखा है। रामकिसन को अपने पिता पर गर्व है। वह इसी मार्ग को सर्वोत्तम मानता है – बुद्ध की अहिंसा का मार्ग, मानवतावाद का मार्ग, विश्वबन्धुत्व का मार्ग ही परम धर्म है।

•••

सीता की शादी की बात, रामटेक के भगतजी के बेटे बैंडमास्टर लक्ष्मण के साथ हुई। यह परिवार हिन्दू धर्म के अन्धविश्वास और कर्मकाण्ड की भावना से जकड़ा है। भगतजी ने भगवा चोला पहनकर, बड़े शिवमन्दिर के पास धूनी रमायी है। वहाँ वे अपनी जात-बिरादरी के तथाकथित साधू-सन्तों और गृहस्थ पुरुषों के साथ, गाँजे की चिलम पीते और भगवान् का भजन-कीर्तन करते हैं। लक्ष्मण 'भोला बैंड पार्टी' में बैंड-बाजा बजाता है। वे तीन भाई, तीन बहन हैं। माता-पिता के साथ दादी भी घर में रहती है। ऐसे भरे-पूरे परिवार में सीता का रिश्ता पक्का हो गया। भीकूजी और चन्दरी को विश्वास है, उनकी समझदार बेटी इस अन्धविश्वासी परिवार को सही राह दिखाने में ज़रूर सफल होगी।

राधा की शादी की बात, सिल्लेवाड़ा की कोलमाईन्स के मजदूर नारायण से तय हुई। नारायण एक बेटा है। उसके बाद पाँच बहनें हैं। पिता भी कोलमाइंस में मजदूरी करते हैं। कमाई आती है, मगर परिवार बड़ा है। साथ ही, पीने-पिलाने के चक्कर में फाँके के दिन देखने पड़ते हैं। नारायण दुबला-पतला, कमजोर दिखता है, फिर भी चन्दरी का आशावादी मन, हाथ की बात जाने नहीं देता। चन्दरी कहती है – "घर-झोंपड़ी गरीबी-अमीरी क्या देखना है ? खाना-कमाना तो जिन्दगी से लगा है। जीवन में दुःख है, तो सुख भी आता है। कुछ अपनी मेहनत और अकल भी काम आती है। हमारी बेटी राधा मेहनती है और थोड़ी दबंग भी। वह इस परिवार को ज़रूर सही रास्ता दिखाएगी।" चन्दरी को राधा पर विश्वास है।

दलित जातियों में 'दहेज पद्धति' नहीं है। यहाँ बेटी परिवार के लिए बोझ नहीं होतीं। मगर कुछ दलित लोग सवर्णों की नकल करते हुए, अपनी झूठी शान दिखाने के लिए, कर्ज लेकर, अपनी बेटी को दहेज के साथ

ससुराल भेजते हैं। यह देखकर दूसरे लालची लोग – 'दहेज नहीं, दुल्हन चाहिए' की बात छोड़कर 'पहले दहेज, बाद में दुल्हन' का व्यवहार करने लगते हैं। ऐसे लोग मूलनिवासी संस्कृति को भूलकर, स्त्री-शक्ति का अपमान करते हैं। ऐसे लोगों पर भीकूजी, चन्दरी और रामकिसन को बहुत गुस्सा आता है – "स्त्रियाँ ही समाज और संस्कृति का आधार होती हैं। प्यार, स्नेह और सम्मान के साथ, बचपन से उन्हें सबल बनाकर, अपने समाज और संस्कृति को सबल बनाना चाहिए।" भीकूजी और चन्दरी लोगों को यह बात समझाते हैं।

•••

रामकिसन के लिए कई दिनों से लड़की देख रहे हैं। कई देखीं, मगर कोई पसंद ही नहीं आई। चन्दरी कहती – "मेरा इकलौता बेटा है, मैं तो चाँद जैसी बहू लाऊँगी।" भीकूजी रिश्तेदारी देखते हैं कि अच्छे लोगों से रिश्ता जुड़ना चाहिए। लड़की के साथ उसके मायके वाले, परिवार वाले लोग समझदार होने चाहिए।

अन्त में लड़की पसंद आई, कामठी की उर्मिला। उर्मिला नाम उनके परिवार से जुड़ना ही था। गोरी, मझोले कद-काठी की उर्मिला सचमुच बहुत सुन्दर दिखती है। उसे देखते ही चन्दरी का दिल ख़ुशी से भर गया – "बस, इसी लड़की से मेरे रामकिसन की शादी होगी, कह दी मैंने।" जब चन्दरी ने हाँ कह दी, तब सबकी हाँ हो गई। बैसाख माह में लड़की देखी, असाढ़ में शादी की तारीख तय हो गई। हँसमुख, बातूनी, मिलनसार और घर के काम में निपुण, ऐसी अच्छी लड़की और कहाँ मिलती ? वह सिलाई-बुनाई भी जानती है। तीसरी कक्षा तक पढ़ी है। उस समय चन्दरी के लिए इतना ही काफी था।

शादी की तैयारी शुरू हो गई।

•••

16 सितम्बर 1978 के खग्रास चन्द्रग्रहण की खबर बहुत पहले से चल रही थी। सेवानगर के सभी लोग बहुत ख़ुश हैं। ऐसे दिन वे पूरे अधिकार के साथ पूरे गाँव में ग्रहण का दान माँगने जाते हैं। ऐसे समय में लोग भी ख़ुशी-ख़ुशी अन्नदान और फटे-पुराने कपड़ों का दान करते हैं। जिसके हिस्से में जो मिल जाए – कोई अनाज में चवन्नी या अठन्नी डालकर देते हैं, कोई सिर्फ़ ताँबे का पुराना सिक्का। अलग-अलग घरों से अलग-अलग प्रकार का अनाज दिया जाता है। कोई ज्वार देता, कोई बाजरा, कोई गेहूँ, कोई चना – एक ही टोकने में लेने से सब मिलकर एक हो जाता। मगर कोई चिन्ता नहीं। यही अनाज उनकी गरीबी में कई दिनों तक काम आता है। इस अनुभूति के साथ वे जोर से हाँक लगाते – "दे दान, छूटे ग्रहान ..."

16 सितम्बर को पूर्णिमा के दिन जल्दी ही आकाश में चन्द्रमा दिखाई देने लगा। शाम के छह बजे से रात के नौ बजे तक खग्रास चन्द्र ग्रहण बताया गया है। देखते-देखते ही चन्द्रमा को ग्रहण लग गया। चाँदी की प्याली-सा चमकता चन्द्रमा धीरे-धीरे काली छाया में छिपने लगा। लोग घर से बाहर निकलकर चन्द्रग्रहण देख रहे हैं।

सेवानगर के बड़े-बूढ़े, स्त्री-पुरुष ग्रहण का दान माँगने की तैयारी करने लगे। वे अपने घर के दस-बारह साल के बच्चों को भी ग्रहण का दान माँगने के लिए गाँव में ले जाने के लिए तैयार करने लगे।

देखते-देखते चन्द्रमा काली छाया में पूरी तरह छिप गया। सब तरफ अन्धकार फैल गया। भयानक काली रात का एहसास मन में होने लगा। सब तरफ स्तब्धता छा गई। कुत्ते जोर-जोर से भौंकने लगे, जैसे उन्हें कोई बुरी घटना होने का एहसास हो रहा है। कुछ कुत्ते बड़ी करुण आवाज़ में रो रहे हैं। सब तरफ भयानक कालरात्रि का आभास है। ऐसे समय में सभी अपने-अपने घरों के अन्दर चुपचाप बैठे रहे।

धीरे-धीरे चन्द्रमा पर छाई-परछाई हटने लगी। पहले चन्द्रमा की थोड़ी-सी कोर दिखी, फिर धीरे-धीरे चन्द्रमा परछाई से बाहर आने लगा। सब तरफ ख़ुशी छा गई। यही समय था, ग्रहण छूटने के समय में, दान करने का और दान माँगने का। सेवानगर के लोग तेजी से गाँव में ग्रहण का दान माँगने चल दिए।

भीकूजी कई बरसों से सबको मना कर रहे हैं – "यह ग्रहण का दान हमें नहीं चाहिए। हमें बस अपनी मेहनत की ही रोटी चाहिए।" अब तो रामकिसन भी सबको ग्रहण का दान माँगने से मना करने लगा है। चन्दरी भी यह बात समझती है – "दान लेने के नाम पर भीख माँगना, हमारे स्वाभिमान के विरुद्ध है।" मगर वह अपने लोगों के जीवन के अभाव के और गरीबी के कारण, भूख से मिली वेदना को भी जानती है। दान में मिले अन्न से कुछ दिनों की भूख का इन्तजाम होता है। यह बात उन्हें ग्रहण का दान लेने जाने का रास्ता सुझाती है। मगर अब उसका स्वाभिमान जाग्रत् होकर उसे धिक्कार रहा है। जैसे कोई कह रहा है – "चन्दरी, यह दान भीख समान है। अपने मान-सम्मान को, अपनी खुद्दारी को पहचानो। अपने दम पर जीना सीखो, अपने आत्मसम्मान को जगाओ।"

वह सोचने लगी – "दान माँगने की यह परम्परा ही खत्म होनी चाहिए।" इस बार चन्दरी ने दृढ़ निश्चय कर लिया – "अब मैं ग्रहण का दान माँगने कभी नहीं जाऊँगी।" चन्दरी के इस निर्णय से भीकूजी और रामकिसन को बहुत ख़ुशी हुई। रामकिसन बोला – "जब हम सुधरेंगे, तभी अपने समाज को भी, ज़रूर सुधार सकेंगे।"

•••

नन्दलाल और दुलारी तन-मन-धन के साथ, बेटे की अच्छी परवरिश करने में जुट गए। उन्होंने बड़े अरमान के साथ, बेटे का नाम रखा – आकाश।

आकाश सबका राजदुलारा है। चौड़ा माथा, बड़ी आँखें, पतले होठ और घुँघराले बाल उसके रूप-सौन्दर्य में चार चाँद लगाते हैं। बचपन से ही वह प्रतिभावान् नज़र आता है। उसके हँसने, बोलने में शालीनता का भाव रहता है। घुटनों के बल चलने वाला आकाश, जल्दी ही अपने पैरों पर खड़ा होकर चलने लगा।

•••

उर्मिला को पहली बेटी हुई, बहुत ही सुन्दर, सुकुमार बिल्कुल गुड़िया जैसी। भीकूजी और चन्दरी उसे गुड्डो कहकर पुकारने लगे। उर्मिला और रामकिसन ने अपनी सूझबूझ और नई जानकारी के साथ बेटी का नाम रखा – नीलिमा। दादा-दादी, बुआ, फूफा और रिश्तेदार उसे प्यार से नीलू कहने लगे। यदि कोई उसे निलिया कहता, तब बेटी का नाम बिगाड़कर पुकारना उर्मिला को अच्छा नहीं लगता। तब तो उर्मिला अपनी नाराजी बताने लगती। लोग उर्मिला को ख़ुश करते हुए कहते – "यह तो हमारी राजकुमारी नीलिमा है।"

•••

नीलिमा का बालक मन सोचने लगता – "मैं बड़ी होकर टीचर बनूँगी, तब सबसे पहले इस चपरासी को डाँट लगाऊँगी – "बच्चों को ठीक से पानी पिलाया करो।" ऐसा कहकर उसे रोज डाँटूगी। मेरे जैसे पीछे बैठने वाले अछूत बच्चों को, मैं सबसे आगे बैठाऊँगी। रोज उन्हीं से ब्लेक बोर्ड पर लिखवाऊँगी, उन्हीं से सब प्रश्न पूछूँगी और उन्हें सबसे ज़्यादा नम्बर देकर पास करूँगी।"

होशियार रहने पर भी नीलिमा को ब्लेकबोर्ड पर लिखने का अवसर नहीं मिलता। इससे उसके मन में यह आकांक्षा बन गई कि बड़ी होकर शिक्षिका ही बनूँगी, तब मुझे ब्लेकबोर्ड पर लिखने से कोई नहीं रोकेगा।"

उन दिनों रामकिसन और उर्मिला ने यह सपना देखा था, वे अपनी बेटी नीलिमा को डॉक्टर अथवा वकील बनाएँगे, मगर नीलिमा ने शिक्षिका बनने का सपना देख लिया था। बचपन से ही उसे यह बड़ी जिज्ञासा थी, शिक्षक कैसे बन जाते हैं ? उसकी दृष्टि में शिक्षक होना बहुत बड़ी बात है। वह अपने शिक्षकों को ज्ञानवान् और महान् समझती है।

•••

नीलिमा और आकाश पिछले दस साल से एक ही स्कूल में पढ़ रहे हैं। वे एक-दूसरे को देखते ज़रूर हैं, मगर उन्होंने कभी एक-दूसरे के प्रति विशेष भाव नहीं बताया। इसका एक कारण यह भी था कि वे अलग-अलग जाति के हैं, इसलिए उनके बीच पारिवारिक रूप से कोई आपसी व्यवहार नहीं था। दूसरा कारण यह था कि नीलिमा एक लड़की है। उस समय उनकी जाति में लड़कियों पर अनेक बन्धन रहते थे। कक्षा पाँचवीं के बाद से ही नीलिमा की पढ़ाई बन्द करने की बात जाति के कई लोगों ने कही थी। मगर भीकूजी और रामकिसन ने उनकी कोई बात नहीं सुनी।

यद्यपि यह सत्य था कि नीलिमा बचपन से ही आकाश को अच्छी लगती थी। कक्षा पाँचवीं तक भीकूजी अथवा रामकिसन अपनी साइकिल से उसे स्कूल छोड़ देते और छुट्टी के समय स्कूल आकर उसे साथ ले जाते थे। मगर कक्षा छठवीं से नीलिमा अपनी साइकिल से अकेली स्कूल आने लगी थी। आकाश भी अपनी साइकिल से स्कूल आता था। वह इस बात का विशेष ध्यान रखता था कि स्कूल के अथवा गाँव के कोई लड़के

नीलिमा को अकेली देखकर परेशान न करें। वह रास्ते में रुककर, नीलिमा के घर से या स्कूल से निकलने के बाद, उसके पीछे निकलता, ताकि ज़रूरत पड़ने पर नीलिमा की मदद कर सके।

वह सेवानगर की लड़की है, इसलिए उसके प्रति आकाश के मन में अपनापन था। साथ ही नीलिमा के सौन्दर्य और गम्भीर, अध्ययनशील स्वभाव के प्रति वह आकर्षित था। मगर उसने अपने ये भाव कभी प्रकट नहीं किए। नीलिमा को न तो इन बातों की कोई जानकारी थी, और न ही किसी से कोई मतलब था। वह अपने ही सोच-विचार की दुनिया में रहती। पढ़ने के लिए स्कूल जाना उसका मकसद था। नीलिमा का मन अपनी पढ़ाई में रहता। आकाश भी अपनी पढ़ाई में डूबा रहा। आकाश मैट्रिक के बाद, नागपुर के पटवर्धन ज्यूनियर कॉलेज में पढ़ने लगा।

नीलिमा अलग स्वभाव और अलग व्यक्तित्व की धनी है। वह सबसे अधिक अपने जिद्दी स्वभाव के कारण हजारों में एक है। एक बार जिस बात को मन में ठान लेती है, तो वह उसे पूरा करके ही रहती है। दिन-रात या भूख-प्यास कुछ नहीं देखती। रामकिसन उर्मिला, भीकूजी और चन्दरी उसकी जिद्द और लगन को देखते रह जाते हैं।

•••

नीलिमा सोचती है – "यदि वह नहीं पढ़ती तो क्या करती ? उसकी जाति के अशिक्षित और मजबूर लोग जो काम, पैतृक रोजगार के रूप में कर रहे हैं, वह भी वही काम करती। कहीं बैठकर सूपा, डलिया, टोकना बना रही होती। नहीं तो, अपनी बुआ लक्ष्मी और पार्वती की तरह कहीं झाड़ू-पोछा लगाने का काम कर रही होती, कहीं बर्तन-कपड़े धोने का काम कर रही होती। सीता और राधा की तरह अस्पताल में सफाई का काम कर रही होती। ऐसा अपमान का जीवन, क्या वह जी पाती ?"

नीलिमा ने बचपन से यह सब सुना और देखा है। इसलिए उसने शुरू से पक्का निश्चय किया – "मुझे खूब पढ़ना है। पढ़-लिखकर ऊँची डिग्री लेना है और अच्छी नौकरी करना है।" इसी धुन में, लगन और मेहनत के साथ, पढ़ते हुए, नीलिमा ने मैट्रिक पास कर लिया। मैट्रिक का रिजल्ट आने पर चन्दरी दादी ने, अपनी नीलू के पास होने की ख़ुशी में, पूरे सेवानगर में पेढ़े बाँटे। वही एक नीलिमा दादा-दादी की आँखों का नूर है, माता-पिता के सपनों का आधार है। नीलिमा को भी अपने दादा-दादी और माता-पिता पर बहुत गर्व है।

* * *

जहाँ अभाव ही अभाव होते हैं, वहाँ अधिकतर लोग भावनाओं में जीते हैं। जीने का थोड़ा-सा सहारा पाकर वे उल्लास और ख़ुशी से भर जाते हैं। वहीं, अगर, थोड़ी-सी भी निराशा मिले, तो उनके बरसों पुराने घाव फिर से हरे होकर, ताजे होकर रिसने लगते हैं। अपनी असमर्थता पर दुखी होकर, वे कभी किस्मत को दोष देते हैं और कभी उस भगवान् को कोसते हैं, जिसने उन्हें ऐसा कष्टपूर्ण, अभावपूर्ण और प्रताड़ना का जीवन जीने के लिए

विवश बना दिया है। यह अन्याय करने वाला भगवान् है या इन्सान ? जो भी है, उससे सही-सही हिसाब करने के लिए, उनका दिल कसमसाने लगता है, ईंट का जवाब पत्थर से देने के लिए छटपटाने लगता है। नीलिमा भी अब इस तरह सोचने लगी – "हमारे साथ यह अन्याय कबसे हो रहा है ? और कब तक होता रहेगा ? अब इसका अन्त होना चाहिए।"

कौन कहाँ पैदा हो – यह किसके बस में है ? फिर भी, जो जहाँ पैदा हो गया, तो पैदा होते ही, उसकी किस्मत की पाटी लिख दी जाती है। ब्राह्मण का बच्चा ब्राह्मण, शूद्र का बच्चा शूद्र, अछूत का बच्चा अछूत। उस समय के वातावरण में इससे ज़्यादा और क्या सोचा जा सकता था ? भले ही कितना ही पढ़-लिख जाओ, काम अपने बाप-दादाओं का ही करना है। ऐसी विचारधारा के बीच, अछूत वर्ग के लोगों को षड्यन्त्रपूर्वक शिक्षा से वंचित रखा जाता। जो पढ़ना चाहता, उसे इतना हतोत्साहित किया जाता कि वह स्वयं पढ़ना छोड़कर, अपने पूर्वजों के रोजगार से लग जाता। नीलिमा लगातार यह सब देख रही है और सवर्ण समाज की मानसिकता को समझ रही है। वह दलित समाज के लोगों को ये बातें समझाने का काम करने लगी।

•••

बी॰कॉम॰ प्रथम वर्ष में पढ़ते समय जाति-भेद से पीड़ित आकाश का मन भी अब अपनी जाति की स्थिति को देखकर छटपटाने लगा। आकाश ने बचपन से सवर्णों द्वारा अपने लोगों का अपमान होते देखा है। घर में शेर की तरह दहाड़ने वाले उसके मामा, गाँव के सवर्णों के सामने डरे-सहमे रहते हैं। वे उनके आतंक से आतंकित रहते हैं। कन्हान में बसे यू॰पी॰, एम॰पी॰ और बिहार के ब्राह्मण अपनी दादागिरी बताते हुए उन्हें डरा-धमका कर रखते हैं। उन्होंने कई बार आकाश को भी डराने की कोशिश की, मगर आकाश उनके सामने तटस्थ और निर्भीक बना रहा। सवर्ण नहीं चाहते कि अछूतों के बच्चे उच्च शिक्षा पाएँ। वे आकाश को हताश और भयभीत करना चाहते थे, मगर नहीं कर सके। आकाश निडर, साहसी और ताकतवर है। वह अपने कमजोर लोगों को, अपनी तरह बनाना चाहता है।

कालीचरण का बेटा कैलाश 'हनुमान दल' का काम करता था, मगर जाति के कारण सब उसे अपने से दूर रखते थे। उनके भोजन की खाद्य सामग्री वह छू नहीं सकता था। एक दिन अनजाने में उससे यह गलती हो गई। तब संस्था के सभी वरिष्ठ सवर्ण पदाधिकारियों ने डाँट-फटकार के साथ उसे अपमानित किया। यह मालूम होने पर, आकाश ने कैलाश को समाज-व्यवस्था की असलियत समझायी। समाज की वर्णभेद, जातिभेद, छुआछूत की भावना से आकाश दुखी है। वह इन सब परिस्थितियों को बदल देना चाहता है। वह ऐसा समाज चाहता है, जहाँ सब बराबर हों, जहाँ ऊँच-नीच की भावना न हो, जहाँ समानता और एकता हो, भाईचारा हो।

कैलाश ने आकाश की सभी बातों को ध्यान से सुना और गहराई के साथ समझा। इतने समर्पित भाव के साथ काम करने के बाद भी उसे अपमान और तिरस्कार मिला, इससे वह दुखी था। उसने निर्णय ले लिया – "अब वह 'हनुमान दल' के लिए नहीं, अपने दलित-पिछड़े समाज के लिए काम करेगा।"

आकाश अब दलित वर्ग के सभी बच्चों की पढ़ाई में मदद करने का काम करने लगा। उसने अपने छोटे दोनों भाई और बहन की पढ़ाई की जिम्मेदारी स्वयं उठायी। इसके लिए वह मैट्रिक के छात्रों की ट्यूशन लेने लगा, जिससे माता-पिता को आर्थिक सहयोग मिलने लगा। साथ ही पढ़ाई का खर्च भी चलने लगा। कन्हान से नागपुर कॉलेज जाने-आने में उसका काफी समय चला जाता था फिर भी वह सेवानगर के छोटे-बड़े सभी दलित बच्चों के लिए समय निकालकर उनसे मिलता और उन्हें अच्छी बातें समझाता।

नीलिमा आकाश को दलित बच्चों से मिलते और उनका मार्गदर्शन करते हुए देखती। ऐसे समय उसे आकाश अच्छा लगता। वह चाहती है, कोई तो आगे आए, जो दलित-पिछड़े वर्ग के बच्चों को आगे बढ़ने की राह दिखाए। उसने देखा, आकाश यह काम अपनी जिम्मेदारी मानकर करने लगा है।

•••

आकाश के भाई और बहन, आकाश के हर काम में उसकी मदद करते हैं। दुलारी भी अपने बेटे आकाश की ख़ुशी के लिए, सौ जान से कुर्बान रहती है। बेटे की समाज-सुधार की भावना को समझते हुए, वह भी उसके कार्यों में सहयोग देने लगी। आकाश अपने सभी मामा और अन्य सभी वाल्मीकियों को सामाजिक एकता की बात समझाने लगा। वह कामठी और नागपुर के वाल्मीकि जाति के लोगों के घर-घर जाकर, उनके परिवार का परिचय प्राप्त करता है। उनके परिवार के पढ़ने वाले बच्चों के नाम की लिस्ट बनाता है, फिर उन बच्चों से अलग से मिलकर, उनके लिए कार्यक्रम बनाता है।

उसने सभी, विद्यार्थियों को जोड़कर 'छात्र संगठन' नाम की संस्था बनायी। वह प्रत्येक रविवार को 'छात्र संगठन' के सभी सदस्यों की मीटिंग लेने लगा। वह उनकी समस्याओं को सुनता है और चर्चा-विमर्श के द्वारा उन्हें हल करने के उपाय सुझाता है। सभी छात्र और छात्राएँ उत्साह के साथ मीटिंग में आकर, आकाश के सामने अपनी बात कहते हुए पूरे सप्ताह की बातें बताते हैं, जिससे आकाश को आगे के कार्यक्रम तय करने में सुविधा रहती है।

एक बार नागपुर के राजेश डागोर ने आकाश को यह बताया – "नागपुर में अपनी वाल्मीकि जाति में होने वाली शादियों में, लोग बहुत खर्च करते हैं।" तब आकाश ने यह कार्यक्रम बनाया और कहा – "अपनी जाति समुदाय में जहाँ भी शादी होगी, हम वहाँ जाकर लोगों को समझाएँगे और शादी के खर्च में कटौती करवाकर, उनका रुपया उन्हीं के बच्चों की पढ़ाई में खर्च करने के लिए, फिक्स डिपॉज़िट करवाएँगे।"

•••

नीलिमा ने कामठी के 'सेठ केसरीमल पोरवाल कॉलेज' में, बी०ए० प्रथम वर्ष में प्रवेश लिया, तो उसे ऐसा लगा, जैसे उसने आसमान छू लिया है। कन्हान में सिर्फ़ मैट्रिक तक ही स्कूल है। कन्हान से 3 कि०मी० दूर कामठी में कॉलेज है। नीलिमा को यह शंका थी, उसके माता-पिता उसे कॉलेज भेजने के लिए तैयार हो पाएँगे या

नहीं ? यह उसका बहुत बड़ा सपना था कि वह कॉलेज में पढ़े, कॉलेज जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करे। उसकी जाति के लिए यहाँ तक पहुँच पाना बहुत बड़ी बात है। और फिर लड़की की शिक्षा ? यह तो बिल्कुल असम्भव बात थी, इसे नीलिमा ने सम्भव कर दिखाया।

जब पहली बार वह कॉलेज गई, उसे कितना अच्छा लगा था ! रेल्वे लाइन के फाटक को पार कर, वह महाविद्यालय की बड़ी इमारत के पास आई, तब उसने वहाँ आसपास का विशाल हरा-भरा मैदान देखा, और देखा था उसने दूर तक फैला खुला नीला आकाश। मानो यह 'नीला आकाश' उसे अपने जीवन में प्रगति की प्रेरणा दे रहा हो। घने पेड़ों से घिरे मैदान के ऊपर, आसमान में पंछी उड़ रहे थे। तब उसने सोचा था – "एक दिन मैं भी इसी तरह नीले आकाश में अपनी प्रगति की ऊँचाई पर पहुँचूँगी।"

नीलिमा ने महसूस किया, स्कूल और कॉलेज के वातावरण में बहुत अन्तर होता है। यहाँ का वातावरण मुक्त स्वतन्त्र है। खेलकूद और ज्ञान-प्राप्ति के साधन सुलभ हैं। यहाँ व्यक्तित्व विकास के लिए वातावरण उपलब्ध रहता है। बस, उसका सही रूप में लाभ लेना आना चाहिए।

यहाँ होने वाले अनेक कार्यक्रमों को नीलिमा ने पहली बार देखा और सुना। तब उसने यह सोचा, वह भी इन विषयों का अध्ययन करके इस तरह बात कर सकती है। पोरवार कॉलेज में 7 अक्टूबर को आयोजित होने वाली – 'डिबेट कॉम्पिटिशन' में भाग लेकर, सैकड़ों छात्र-छात्राओं के सामने उसने पहली बार अपनी बात सफल रूप में कही थी। तब से उसमें आत्मविश्वास जाग गया। विषय था – 'स्त्री-पुरुष समानता समाज विकास के लिए उचित है।' इस विषय के पक्ष में बोलने के साथ, उसने स्त्री-सबलता की आवश्यकता को कण्ठस्थ कर लिया था। इसके बाद उसे जहाँ भी अवसर मिलता, वह अपनी बात कहकर, समाज में स्त्री के अधिकारों की बात करती। लोग उसकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनने लगे।

•••

भीकूजी अनपढ़ ज़रूर हैं, मगर उनमें समझ-बूझ है। रामकिसन भी समय के साथ चलने में, भलाई समझता है। अम्बेडकरवादी आन्दोलन के अनेक कार्यक्रम उन्होंने देखे हैं। अम्बेडकरवादी अनेक नेताओं और कार्यकर्त्ताओं के भाषण भी उन्होंने सुने हैं। महाराष्ट्र में रहने वाली महार जाति के जागरूक लोग बाबासाहब डॉ॰ अम्बेडकर के भाषणों और उनके कार्यों की चर्चा करते हैं। रामकिसन और भीकूजी उनके साथ रहकर बाबासाहब अम्बेडकर की बातों और उनकी विचारधारा को समझने लगे। सम्पूर्ण दलित जातियों को, एकता और भाईचारे में बाँधना उन्हें ज़रूरी लगता है।

मगर वे जानते हैं, पहले सभी दलित जातियों में जाग्रति लाना ज़रूरी है, तभी वे अपने अस्तित्व और अपनी अस्मिता को पहचानकर, एक संगठन के रूप में जुड़ सकेंगे। दलित जातियों में शिक्षा का प्रसार और आर्थिक स्वावलम्बन हो – इसके लिए अब वे चिन्तन करने लगे हैं। लोकनाथ, छोटेलाल और आकाश से भी वे इस विषय में चर्चा करने लगे।

उन दिनों महाराष्ट्र में, दलित पैंथर के लोग जोर-शोर के साथ क्रान्तिकारी रूप में, समाज जाग्रति का काम कर रहे थे। मगर अति पिछड़ी मांग और वाल्मीकि जाति के लोग उनकी प्रगतिवादी और परिवर्तनवादी बातों को समझ नहीं पा रहे थे। रामकिसन और आकाश जानते हैं, अपने लोगों को जाग्रत् करने के लिए, अलग से प्रयत्न करना होगा। वे इस अभियान में जुट गए।

बहुत सोच-विचार करने के बाद, रामकिसन और आकाश ने भीकूजी के साथ मिलकर सेवानगर में, 14 अप्रैल को डॉ० भीमराव अम्बेडकर जयन्ती का कार्यक्रम आयोजित करना निश्चित किया। इसके लिए उन्होंने बाकायदा सेवानगर के विशिष्ट लोगों की एक मीटिंग रखी और सबके सामने अपने द्वारा निश्चित कार्यक्रम की योजना बताई। भीकूजी केवल मार्गदर्शन कर रहे हैं, सारा कार्यभार रामकिसन, नीलिमा और आकाश ने सँभाल लिया है।

उस दिन मीटिंग में वाल्मीकि चुपचाप बैठे सुनते रहे। उन्होंने वहाँ कुछ भी बोलना ज़रूरी नहीं समझा। मगर गंगाराम बनसोडे चुप नहीं रहा। पहले तो यह बात वह समझ नहीं सका कि बाबासाहब अम्बेडकर की जयन्ती सेवानगर में क्यों मनाना चाहिए? क्योंकि उसके विचार, उसकी जानकारी और दृष्टिकोण अलग है। वह हनुमान्, शिव और काली देवी का भक्त है। साथ ही वह अपने पुरखों और कुल देवताओं की पूजा-अर्चना को ही महत्त्वपूर्ण मानता है। उसके सामने यह भी प्रश्न है – "जब हमने आज तक अपने सेवानगर में गाँधीजी की जयन्ती नहीं मनायी, तब डॉ० अम्बेडकर की जयन्ती क्यों मनाएँ? उसने यह भी कहा – "जब अण्णाभाऊ साठे हमारे नेता हैं, तब यह नया जयन्ती कार्यक्रम क्यों? हम अपने अण्णाभाऊ साठे की जयन्ती मनाएँगे।"

रामकिसन ने गंगाराम को समझाते हुए कहा – "अण्णाभाऊ साठे हमारे हैं, डॉ० भीमराव अम्बेडकर भी हमारे हैं। क्योंकि अण्णाभाऊ साठे ने कहा है – 'हमारा नेता डॉ० भीमराव अम्बेडकर है।' यह बात उन्होंने महाराष्ट्र के लातूर जिले के अहमदपुर की सभा में कही थी। हम सभी को डॉ० अम्बेडकर को अपना नेता मानकर, उनकी जयन्ती का कार्यक्रम करना चाहिए।"

यह बात विस्तार के साथ समझाने के बाद, गंगाराम ने यह समझ लिया कि रामकिसन जो कह रहे हैं, वह गलत नहीं है। आकाश और नीलिमा से डॉ० अम्बेडकर के कार्यों को समझकर और रामकिसन की बातों से सहमत होकर उन्होंने अपना पूरा सहयोग देने का निश्चय कर लिया।

* * *

14 अप्रैल के दिन 'मातंग समाज जाग्रति मित्र मण्डल' संस्था के सदस्यों के साथ, भीकूजी, चन्दरी, रामकिसन, कली और गंगाराम पूरे सेवानगर में सुबह से झण्डियाँ, तोरण और फूल-मालाएँ लगा रहे हैं। सेवानगर में मांग मुहल्ला और वाल्मीकि मुहल्ला के बीच थोड़ी खाली जगह है। वहाँ पर कार्यक्रम के लिए ऊँचा मंच बनाया गया है। वहीं शाम के समय 'बाबासाहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर जयन्ती' का कार्यक्रम किया जाएगा।

•••

कालीचरण चौहान का छोटा भाई चन्दन चौहान सबसे ज़्यादा उद्दण्ड है। उसकी अकल ऐसी है कि यदि कोई बात समझ ले, तो पूरी तरह समझ लेता है और यदि न समझे, तो कोई भी उसे वह बात समझा नहीं सकता। 14 अप्रैल के दिन, डॉ॰ अम्बेडकर जयन्ती के कार्यक्रम की तैयारी के समय, वह बिगड़ कर बोला – "सेवानगर में लोग अम्बेडकर जयन्ती क्यों मना रहे हैं ? और यह जयन्ती कार्यक्रम मना ही रहे हैं, तो सेवानगर में ही क्यों मना रहे हैं ?"

चन्दू चौहान की बातों का समर्थन नन्दलाल मेघवाल भी कर रहा है। वह कट्टर वाल्मीकि है। वह कहता है – "जब महर्षि वाल्मीकिजी जैसे इतने बड़े गुरु महाराज हैं, तब किसी दूसरे को अपना मार्गदर्शक मानने की क्या ज़रूरत है ?"

वाल्मीकिजी को छोड़कर डॉ॰ अम्बेडकर को मानना उसे मंजूर नहीं है। पहले अकेला चन्दू कार्यक्रम में रुकावट डालने के लिए अड़कर बैठा था। अब उसके साथ उसका बहनोई नन्दूलाल भी आकर बैठ गया। ये लोग नहीं चाहते कि उनके सेवानगर में 'अम्बेडकर जयन्ती' जैसा कोई नया कार्यक्रम लिया जाए। दोनों को 'अम्बेडकर जयन्ती' का महत्त्व समझ में नहीं आ रहा है और लोग उन्हें समझा नहीं पा रहे हैं।

* * *

नन्दलाल के जाने के बाद चन्दू पहलवान अकेला ही अपने मोर्चे पर डटा रहा। अन्त में परेशान होकर 'मातंग समाज जाग्रति मित्र मण्डल' संस्था के अध्यक्ष नितिन साठे ने तीखे लहजे में चन्दू चौहान से कहा – "अरे भाई, इतने बरसों से पूरे देश में, डॉ॰ अम्बेडकर के दलित आन्दोलन के कार्यक्रम चल रहे हैं, उनके कार्यों और संघर्षों को लोग समझ रहे हैं। केवल अपने देश ही नहीं, बल्कि विदेश के लोग भी उनको जानते हैं – और तुम्हें अभी तक बाबासाहब डॉ॰ अम्बेडकर के बारे में कुछ नहीं मालूम ?"

चन्दू चौहान को नितिन साठे जैसे बड़े सामाजिक नेता की यह बात भी समझ में नहीं आई। वह फिर बोला – "बाबासाहब ने क्या-क्या किया, कितना किया – यह सब ठीक है। मगर उन्होंने हमारी वाल्मीकि जाति के लिए क्या किया ? पहले मुझे यह समझाओ।"

'मित्र मण्डल' संस्था के लोग चन्दू चौहान से अधिक बोलने में भी डर रहे हैं। उनको पता है, यह गाँधी बाबा के तीन बन्दरों का एक बनकर पैदा हुआ है– 'थ्री इन वन।' गाँधीजी ने इसे यही सिखाया है– 'सच मत सुनो, सच मत देखो, सच मत कहो।'

वाल्मीकि जाति के लोग सेवानगर में, चौहान परिवार के सहयोग से साल में एक बार बड़ी धूमधाम के साथ वाल्मीकि जयन्ती मनाते हैं। प्रत्येक शहर और गाँव में उनके मुहल्ले हैं। पूरे देश में वाल्मीकि लोग अपने मुहल्ले में वाल्मीकि जयन्ती जोर-शोर के साथ मनाते हैं। अपने मुहल्लों में, वे चन्दा करके वाल्मीकि मन्दिर भी ज़रूर बनाते हैं। सेवानगर में अभी तक वाल्मीकि मन्दिर नहीं बना है। चौहान परिवार के प्रमुख कालीचरण के

मार्गदर्शन में, अन्य सभी वाल्मीकियों के सहयोग से वाल्मीकि मन्दिर बनवाने की तैयारी शुरू है। ऐसे समय में उनके मन में, राम भगवान्, गुरु वाल्मीकि और हिन्दू धर्म के प्रति निष्ठा बढ़ गई है। इसके विरुद्ध वे दूसरी बात सुनना ही नहीं चाहते।

'मातंग समाज जाग्रति मित्र मण्डल' के एक कार्यकर्त्ता सदस्य ने चन्दू चौहान से पूछा – "वाल्मीकिजी कौन हैं भाई ?" चन्दू चौहान को इस विषय में अधिक जानकारी नहीं है। जो वह जानता है, वह उसने बताया – "वाल्मीकिजी ने रामायण लिखी है। उन्होंने सीताजी को अपने आश्रम में आश्रय दिया था। उन्होंने लव और कुश को शिक्षा दी थी।"

* * *

'मित्र मण्डल' के लोग चन्दू चौहान का मुँह देख रहे हैं। चन्दू उत्साह के साथ आगे बोला – "सबको पता है, भील एकलव्य ने द्रोणाचार्य को अपना गुरु माना था, तब शिक्षा न देने पर भी उन्हें गुरु ही माना। गुरु ने शिक्षा नहीं दी, फिर भी गुरुदक्षिणा माँगने पर, एकलव्य ने अपने दाहिने हाथ का अँगूठा काटकर दे दिया था। इसी को कहते हैं गुरुभक्ति। हम भी वाल्मीकिजी को अपना ऐसा ही गुरु मानते हैं।"

यह सुनते ही रामकिसन कहने लगा –"द्रोणाचार्य तो महाधूर्त था, कपटी था। उसने एकलव्य के साथ छल किया था।" चन्दू चौहान को ऐसा महसूस हुआ कि रामकिसन उसका अपमान कर रहा है। द्रोणाचार्य के बहाने, उसके गुरु को ही बुरा कह रहा है। यह सोचते ही उसकी बाहें फड़कने लगीं, चेहरा तमतमाने लगा। उसे स्पष्ट रूप से आभास हो गया कि ये लोग द्रोणाचार्य के नाम से उनके गुरु वाल्मीकिजी के विषय में ही ऐसा कह रहे हैं। उसकी आँखों में गुस्सा उतर आया।

भीकूजी ने चन्दू के चेहरे पर आक्रोश का भाव देखा। वे तुरन्त उसे समझाते हुए बोले – "भाई, बात को समझो। हम लोग आपके गुरु वाल्मीकिजी के विषय में कुछ नहीं कह रहे हैं। मगर यह सच है, आपके गुरु वाल्मीकि ने आपकी जाति की प्रगति और विकास के लिए कुछ भी नहीं किया। आप इस सच्चाई को समझो।"

आकाश समझाते हुए बोला – "डॉ॰ अम्बेडकर ने सभी शूद्र, अछूत, शोषित, पीड़ित, दलित, पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिए बहुत संघर्ष किया है। उनके कार्यों और उनके जीवन के अनुभवों को आप सुनो और समझो।" अब चन्दू थोड़ा शान्त होकर उनकी बात ध्यान से सुनने लगा।

* * *

चन्दू को इन बातों की जानकारी पहली बार मिली है। वह आश्चर्यचकित होकर नीलिमा और आकाश को देख रहा है। यह देखकर आकाश ने कहा – "मामाजी, हमारी वाल्मीकि जाति के एडवोकेट भगवानदास ने अपनी आत्मकथा – 'मैं भंगी हूँ' लिखी है। उस पुस्तक में हमारी जाति के इतिहास को बताया है। मगर हमारे

लोग इन बातों को न पढ़ते हैं और न ही जानते हैं। भगवानदासजी अम्बेडकरवादी आन्दोलन के बहुत बड़े कार्यकर्त्ता हैं। क्योंकि वे जान गए थे, हमारी जाति की भलाई अम्बेडकर आन्दोलन से जुड़ने में ही है। अपनी जाति के भगवानदासजी के जीवन से प्रेरणा लेकर हम आगे बढ़ सकते हैं।"

•••

अम्बेडकरवादी दलित आन्दोलन की संस्थाओं से जुड़कर नीलिमा और आकाश दलित, पिछड़ी, अछूत जातियों की स्थिति को समझ सके। साथ ही, अपने अस्तित्व और अस्मिता की बात को भी समझने लगे। अब वे यह भी जान गए हैं – "दलित-अछूत जातियों की शोषण से मुक्ति और उनके प्रगति परिवर्तन के लिए, पूरे देश में कई सन्तों, समाज-सुधारकों और सामाजिक नेताओं ने काम किया है। तथागत गौतम बुद्ध और सन्त कबीर ने समाज को शोषण से मुक्ति का और सामाजिक समानता का सन्देश दिया है। उत्तर भारत के स्वामी अछूतानन्द, सन्त रैदास, दक्षिण के पेरियार रामासामी, श्री नारायण गुरु और अय्यनकाली के विषय में भी आकाश और नीलिमा जानते हैं।"

वे जान गए हैं – महाराष्ट्र के ज्योतिराव फुले, सावित्रीबाई फुले और डॉ० अम्बेडकर ने अपने प्रयत्नों से अछूत और बहुजनों को जाग्रत् करके, उन्हें उनके अधिकार दिलाए हैं। इन सबके प्रयत्नों, संघर्षों और कार्यों से, पूरे देश के अछूत, दलितों, पिछड़ों को शिक्षा और समानता का अधिकार मिला है। वे जान गए हैं – अब उन्हें कोई भी भ्रम में नहीं रख सकता। रामकिसन, भीकूजी, आकाश और नीलिमा को यह विश्वास हो गया कि चन्दू चौहान और सभी वाल्मीकि इन बातों को ज़रूर समझेंगे।"

•••

उस दिन देर से ही सही, मगर अम्बेडकर जयन्ती कार्यक्रम मनाया गया। 'मित्र मण्डल' के अध्यक्ष और कार्यकर्त्ताओं ने कार्यक्रम का आयोजन और संचालन सफल रूप में किया। भीकूजी, रामकिसन और गंगाराम ने सभी प्रकार की व्यवस्था सँभाली। मंच पर माइक लगाया गया। मंच के सामने प्रमुख अतिथियों के लिए दस-पन्द्रह कुर्सियाँ लगायी गईं। उसके पीछे दरी बिछायी गई, जहाँ सेवानगर के मांग जाति के लोगों के साथ, वाल्मीकि जाति के सभी लोग बैठे। वहाँ लोकनाथ मेश्राम और छोटेलाल भी बैठे।

चन्दू चौहान जिस बात को समझ गया था, वह बात उसने अपने कुटुम्ब परिवार और अन्य सभी वाल्मीकियों को समझा दी– "अब हमें भी अम्बेडकर जयन्ती में भाग लेना है।" और देखते-देखते बच्चे, बूढ़े, जवान, स्त्री, पुरुष कार्यक्रम में आकर दरी पर बैठ गए। नन्दलाल के साथ उसके बेटे भी आये। महिलाओं में बुधिया चौहान आयी। उसने साड़ी के पल्लू से थोड़ा घूँघट निकालकर, सिर और मुँह ढँका है। वह कार्यक्रम-स्थल पर चन्दरी और कली के पास बैठ गई। वहाँ नीलिमा और उसकी माँ उर्मिला भी बैठी हैं। कुसुम और दुलारी भी आकर बुधिया के पास बैठ गईं।

* * *

कार्यक्रम दो घण्टे तक चला। मंच पर बैठे सभी भाषणकर्त्ता, अतिथि और अध्यक्ष महोदय ने सेवानगर के इन नागरिकों को डॉ० अम्बेडकर के जीवन-संघर्ष और कार्यों की जानकारी दी। नीलिमा ने अपने विद्रोही तेवर के साथ, डॉ० अम्बेडकर के जीवन की अनेक घटनाएँ बतायीं और उनके कार्यों का उल्लेख किया। सेवानगर के नागरिकों को पहली बार मालूम हुआ – 'महाड़ के चवदार तालाब का पानी लेने के अधिकार के लिए डॉ० अम्बेडकर ने कितना संघर्ष किया। नासिक के कालाराम मन्दिर में प्रवेश के लिए भी डॉ० अम्बेडकर ने कितना संघर्ष किया, मगर उन्हें मन्दिर-प्रवेश नहीं करने दिया।' संविधान में मिले लिखित अधिकारों की बात सुनकर तो, लोग आश्चर्यचकित रह गए – "क्या यह सब हमें डॉ० अम्बेडकर के प्रयत्नों से ही मिला है ?"

आकाश ने अपने संक्षिप्त और सन्तुलित भाषण में सभी दलित जातियों को एकता, संगठन के साथ रहने और बाबासाहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर के बताए मार्ग पर चलने की बात कही। उस समय उसकी बातों के प्रति, सहमति जताते हुए, सभी ने तालियाँ बजायीं।

•••

नीलिमा यह जान गई थी, बी०ए० के बाद एम०ए० किया जाता है। उसने अपने घर में, सबके सामने स्पष्ट शब्दों में कह दिया – "मैं बी०ए० के बाद एम०ए० की डिग्री लूँगी। मुझे अभी शादी नहीं करनी है। यदि तुम नहीं मानोगे, तो मैं कभी शादी नहीं करूँगी।" दादा-दादी और पापा-मम्मी नीलिमा के बचपन के जिद्दी स्वभाव को जानते हैं। वे सोचने लगे – "यदि इस जिद्दी लड़की ने यह बात अपने मन में ठान ली, तो फिर इसके सामने हम क्या कर सकते हैं ?" नीलिमा उन सबके लाड़-प्यार और सपनों का एकमात्र केन्द्र-बिन्दु है। वह भी उन्हें अधिक से अधिक सुख देने का प्रयत्न करती है।

•••

भीकूजी और चन्दरी, रामकिसन और उर्मिला सभी परेशान हैं क्योंकि नीलिमा के लिए अपनी जाति में योग्य वर नहीं मिल रहा है। ऐसे तो लड़की की उम्र बढ़ती जाएगी। नीलिमा यदि इसी तरह आगे बढ़ती रही, तो उसके बराबर उच्च शिक्षित वर अपनी जाति में वे कहाँ ढूँढ़ेंगे ? वे जानते हैं, नीलिमा अयोग्य वर से कभी विवाह नहीं करेगी। तब वे क्या करें ? वे कुछ समझ नहीं पा रहे हैं।

गंगाराम ने भीकूजी से कई बार कहा – "कब तक नीलिमा को पढ़ाते रहोगे ? कब उसके हाथ पीले करोगे ? एक ही लड़की है, सबके अरमान हैं, नीलू की शादी खूब धूमधाम से होगी।" ऐसे समय भीकूजी कहते – "हाँ भाई, देख तो रहे हैं।" फिर वे गंगाराम को यह बात भी समझाते हैं – "पहले हम अपनी बच्चियों की शादी कम उम्र में, किसी भी अयोग्य वर से कर देते थे। अब ऐसा नहीं होना चाहिए। बच्चों की शादी सही उम्र में, सही जीवनसाथी से ही होना चाहिए।"

कली ने चन्दरी से कई बार कहा – "जीजी, पढ़ाई को क्या देखते हो ? अच्छी नौकरी वाला लड़का देखकर, नीलू की शादी कर दो। बैंक के चपरासी को भी अच्छी तनखा मिलती है।" मगर चन्दरी जानती है, नीलू के साथ ऐसा करना अन्याय होगा। उसने कलिया को समझा दिया – "बच्चों को उनकी प्रगति और विकास के लिए भी पूरा समय मिलना चाहिए। रोजी-रोटी के लिए तो सभी जीते हैं, हमारे बच्चे देश और समाज के लिए अच्छा काम करें, यह बड़े गर्व और गौरव की बात है। हमारी बेटी सही रास्ते पर चल रही है। उसके योग्य वर मिलने पर ही, उसकी शादी करेंगे।"

दिन और महीने बीतते रहे। नीलिमा की बी०ए० फाइनल की परीक्षा हुई। वह प्रथम श्रेणी के अंक लेकर कक्षा में प्रथम क्रमांक पर पास हुई। प्रकाश ने भी बी०ए० पास कर लिया। इसके बाद नीलिमा 'मातंग समाज जाग्रति मित्र मण्डल' की सदस्यता लेकर, समाज-जाग्रति के काम से जुड़ गई। पिछले दो बरसों से आकाश इस संस्था से जुड़कर समाज-उत्थान का काम कर रहा है। इस संस्था से जुड़कर आकाश ने विशेष काम यह किया, उसने इस संस्था का नाम ही बदल दिया। 'मातंग समाज जाग्रति मित्र मण्डल' नाम को बदलकर, उसने सर्वसम्मति से इस संस्था का नाम रख दिया – 'दलित समाज जाग्रति मित्र मण्डल'। अब यह संस्था केवल मातंग समाज तक सीमित नहीं है, बल्कि वाल्मीकि, चमार, नवबौद्ध महार, मांग, बसोर और ऐसी सभी दलित-पिछड़ी जातियों की जाग्रति के लिए काम कर रही है।

आकाश दलित समाज-जाग्रति के कार्यों के साथ कामठी के सेठ केसरीमल पोरवाल महाविद्यालय से एम०कॉम० भी कर रहा है। नीलिमा ने भी हिन्दी साहित्य में एम०ए० करने के लिए 'राष्ट्रसन्त तुकड़ोजी महाराज नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर' में एडमिशन ले लिया।

नीलिमा के मन में आकाश के व्यक्तित्व और कार्यों के प्रति आकर्षण है, जो अब प्रेम-भावना के रूप में विकसित होने लगा है। उच्च अध्ययन के साथ, सामाजिक कार्यों से जुड़कर वे एक-दूसरे को अच्छी तरह समझ रहे हैं। आकाश के मन में नीलिमा के प्रति प्रेम का भाव पहले से है, मगर अपने संकोची स्वभाव और गम्भीर व्यवहार के कारण, वह कभी यह व्यक्त नहीं कर पाया। अब पढ़ाई करते हुए, और समाज-जाग्रति की मीटिंग में घण्टों साथ रहकर, सामाजिक उत्थान की बातें करते हुए, वे एक-दूसरे की भावना को समझने लगे हैं।

यद्यपि आकाश को संशय है, भले ही वे दोनों दलित हैं, लेकिन अलग-अलग जाति होने के कारण, दोनों ही परिवार इस विवाह-सम्बन्ध को मंजूर करेंगे या नहीं ? मगर नीलिमा को पूरा विश्वास है, यदि वह आकाश से विवाह करना चाहेगी, तो कोई भी उसे रोक नहीं पाएगा।

•••

दो बरसों में आकाश के व्यक्तित्व में बहुत निखार आ गया है। उसने एम०कॉम० की डिग्री प्राप्त कर ली। एम०कॉम० के बाद आकाश ने चार्टर अकाउंटेंट की डिग्री के लिए परिश्रमपूर्वक पढ़ाई की। परिश्रम का फल प्राप्त

हुआ। उसे सी॰ए॰ पदवी मिल गई। अपने व्यवसाय के साथ अब आकाश पूर्णरूप से अपने दलित-पिछड़े समाज को जगाने और उन्हें अपना सहयोग देने के कार्य में जुट गया।

वाल्मीकि दलित जाति के किसी लड़के का एम॰कॉम॰ करना और इसके साथ सी॰ए॰ बन जाना बहुत बड़ी बात है। आकाश सिर्फ़ सी॰ए॰ नहीं है, वह दलित समाज का शुभचिन्तक कार्यकर्त्ता भी है। अपना यह व्यवसाय वह विशेष रूप से सम्पूर्ण दलित जातियों के हित में, लाभ पहुँचाने के लिए करने लगा। वह ऐसी संस्था से जुड़कर काम करता, जो समाज-कल्याण का काम भी करती। तब वह संस्था को दलित उत्थान के कार्यों के लिए प्रेरित करता और दलितों को संस्था से लाभ लेने के मार्ग बताता। जो संस्थाएँ इस तरह के काम करने में रुचि नहीं रखतीं, तब आकाश वहाँ का 'लेखा परीक्षक' का काम छोड़कर, दलित हितैषी संस्थाओं से जुड़कर, काम करना ज़्यादा श्रेयस्कर समझता।

अपना व्यक्तिगत लाभ न देखते हुए आकाश कई सरकारी और गैरसरकारी संस्थाओं से जुड़ता रहा। एस॰सी॰, एस॰टी॰, ओ॰बी॰सी॰ और भटकी विमुक्त जातियों के हित में घोषित और अघोषित योजनाओं की जानकारी प्राप्त करके, वह इन लोगों को लाभान्वित करने के लिए उनका मार्गदर्शन करता, उन्हें योजनाएँ समझाता। महाराष्ट्र की 'महात्मा ज्योतिराव फुले समाज कल्याण संस्था', और 'डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर समाज कल्याण संस्था' की सरकारी योजनाओं का, आकाश ने अति पिछड़ी दलित वाल्मीकि जाति और मातंग जाति के बेरोजगार बच्चों को लाभ दिलाया। अल्पशिक्षित युवक और युवतियों में से किसी को वर्कशॉप की ट्रेनिंग दिलवायी, किसी को ड्रायविंग सिखायी, किसी को कर्ज दिलाकर लघु व्यवसाय और उद्योग धंधों से जोड़ दिया, किसी को नौकरी से लगवा दिया।

•••

समाज-जाग्रति के कार्यक्रमों में नीलिमा बहुत अच्छा भाषण देती है। वह अपने भाषण के बीच, सुनने वालों से ही अनेक प्रश्न पूछती है, जिनका उत्तर सोचते हुए, सुनने वाले उसकी कही हुई बातों को अच्छी तरह समझ जाते हैं। वह पूछती है – श्रोतागण ! बताइए, यदि आपके साथ अन्याय होगा, तो आपको कैसा लगेगा ?"

* * *

चन्दरी कहती – "अरी बहन, बेटियो ! अपने घर से निकलो, समाज से जुड़ो और समाज को जोड़ो।" बुधिया कहती – "सिंगार-पटार में बहुत समय गँवा दिया तुमने, अपने मर्दों की लाड़-प्यार की बातें भी खूब सुन लीं, बाल-बच्चों को भी पाल-पोस के बड़ा कर दिया। अब आईना देखने के बदले समाज के काम से निकलो। खुद को आईने में देखने के बदले अपने आप को बदलो।"

परिवार नियोजन की जिम्मेदारी भी महिलाओं ने उठा रखी है। एक या दो बच्चों के बाद नसबंदी कराना ही है। "छोटा परिवार सुखी परिवार" – प्रत्येक घर की दीवार पर यह छपा हुआ है। फेमिली प्लानिंग के लिए

बुधिया समझाती है – "शेरनी को एक औलाद होती है, जो पूरे जंगल पर राज करती है। सुअरी को छह बच्चे हों, या बीस – वे क्या करते हैं ? अरी बहन, बेटियो, शेरनी बनो।"

दारूबंदी और नशाबंदी का मोर्चा भी महिलाओं ने सम्भाला। मजाल है, कोई पुरुष शराब पी सके या घर में घूम कर सके। वे तुरन्त उसे पुलिस थाने में गिरफ्तार करवाने की धमकी देतीं। कोई पति यदि अपनी पत्नी को मारने के लिए हाथ उठाए, तो सबल निडर पत्नी कड़ककर कहती – "खबरदार, जो मेरे ऊपर हाथ उठाया। अब मैं ऐसी कमजोर नहीं, जो तुम्हारी मार खाकर चुप रह जाऊँ। तुम एक मारोगे, तो मैं दो लगाऊँगी।"

पति शर्म और संकोच से पीछे हट जाता। ऐसे में महिलाओं का आत्मविश्वास और बढ़ जाता। सेवानगर की महिलाएँ हँस-हँसकर अपने घर की बात नीलिमा, बुधिया और चन्दरी को बतातीं। तब वे भी हँसती और उन महिलाओं का आत्मविश्वास बढ़ातीं।

नीलिमा ने महिला जाग्रति का काम, सबसे पहले अपने घर और पड़ोस से शुरू किया। उसने अपनी माँ उर्मिला को भी 'दलित समाज जाग्रति मित्र मण्डल' संस्था से जोड़ दिया। उसने गंगाराम की पुत्रवधू रामबाई को समझा-समझाकर इतना समझदार बना दिया कि वह निडर और साहसी बन गई। वह अपने पति के दुर्व्यवहार के प्रति स्वयं कड़े कदम उठाने लगी। सास-ससुर का रामबाई को पूरा सहयोग मिलता है। अब वह अपने पति से नहीं डरती। जिस दिन वह शराब पीकर आता है, उस दिन रामबाई उसकी खटिया खड़ी कर देती है। पति उससे डरने लगा है। रामबाई का गुस्सा देखते ही उसका नशा उतर जाता है। ऐसे समय उसकी सास कली हँसकर कहती है – "अरी बहू ! तुम तो मेरे से भी सवाया बन गई हो।"

•••

आकाश के समझाने पर अब कैलाश ने 'हनुमान दल' के लिए काम करना छोड़ दिया। वह दलित आन्दोलन के कार्यक्रमों से जुड़कर और 'दलित समाज जाग्रति मित्र मण्डल' संस्था से जुड़कर समाज-जाग्रति का काम करने लगा। कालीचरण की कॉर्पोरेशन की सफाई कामगार की नौकरी कैलाश चौहान को 'अनुकम्पा योजना' में दे दी गई थी। अभी तक कैलाश चौहान अपनी उसी नौकरी और अपने पाँच बच्चों के साथ ख़ुश था। मगर अब वह भी सोचने लगा कि उसके सब बच्चे पढ़ाई करने स्कूल जाएँ, वह स्वयं भी पढ़ाई करके मैट्रिक पास करे।

•••

नीलिमा ने हिन्दी में एम०ए० के बाद पी-एच०डी० में रजिस्ट्रेशन करा लिया। बढ़ते आत्मविश्वास के साथ उसका व्यक्तित्व भी निखर गया है। नीलिमा अब छब्बीसवाँ साल पार कर रही है। इस बीच सभी लोगों की नज़र में यह आने लगा कि अब उसकी भी शादी हो जाना चाहिए। सबकी नज़र में नीलिमा के लिए योग्य वर, आकाश के अलावा दूसरा कोई नहीं है। इस विषय पर लोग खुले आम चर्चा करने लगे – "दूसरों को शिक्षा देते हैं, दुनिया

की समाजसेवा करते हैं, मगर यही बात अपने घर से शुरू क्यों नहीं करते ?" चन्दरी और भीकूजी की समझ में भी यह बात आ गई – "पड़ोस में छोरा और दुनिया में ढिंढोरा।"

कालीचरण और चन्दू चौहान भी आकाश के विवाह के लिए परेशान हैं, मगर आकाश किसी लड़की से विवाह के लिए राजी ही नहीं होता है। चन्दू मामा ने तो यहाँ तक कह दिया – "भानजे बेटा, यदि तुझे कोई लड़की पसंद हो, तो बस हमें दूर से दिखा दे । वह लड़की कैसी भी हो, किसी भी जात की हो, तुम बस हमें दूर से दिखा दो। हम तुम्हारी शादी उसी के साथ धूमधाम से करेंगे।"

आकाश संकोचवश अपने मामा लोगों से अपने मन की बात नहीं कह सका। मगर एक नई बात शुरू हो गई, घर के सभी लोगों ने, उसकी निगरानी और जासूसी करना शुरू कर दिया। नौकरी के बाद वह किससे मिलता है ? 'मित्र मण्डल' का सामाजिक कार्य वह किसके साथ मिलकर करता है ? तब घर के लोगों को जल्दी ही पता चल गया, नीलिमा ही वह लड़की है, जिसे आकाश पसंद करता है और वह शादी करेगा तो सिर्फ़ नीलिमा से।

यह पता चलते ही कालीचरण चौहान और बुधिया, अपने भानजे आकाश का नीलिमा के साथ शादी का रिश्ता लेकर, भीकूजी और चन्दरी के घर आए। भीकूजी और चन्दरी न जाने कब से इस रिश्ते की बाट जोह रहे थे। चन्दरी ने तुरन्त दुलारी और नन्दलाल को भी अपने घर बुलवा लिया।

आज भीकूजी ने ख़ुशी में डूबकर अपना घेरा उठा लिया। वे अपने आँगन में, उन्हीं दो नन्हीं छड़ियों से, झूम-झूमकर बाजा बजाने लगे। आज वे इतने ख़ुश हैं कि ख़ुशी का पारावार नहीं है। बाजे की ऐसी ऊँची स्वर तरंग इसके पहले किसी ने नहीं सुनी थी। पूरा सेवानगर बाजे की धुन पर झूम उठा । पूरा मुहल्ला भीकूजी के आँगन में इकट्ठा हो गया। औरतें चन्दरी और बुधिया को बधाई दे रहीं हैं। आदमी भीकूजी और रामकिसन को बधाई दे रहे हैं, उन्हें हीरा जैसा दामाद जो मिला है।

जल्दी ही वह समय आया, आकाश सेहरे की लड़ियों से सजा दूल्हा राजा बना, घोड़े पर सवार होकर बरात के साथ भीकूजी के द्वार पर खड़ा है। भीकूजी की सभी बेटियाँ, दामाद, समधी-समधन दूल्हे के रंग-रूप और उसकी शालीनता को आश्चर्य से देख रहे हैं। द्वार पर बरात की अगवानी के लिए रामकिसन और उर्मिला खड़े हैं। महिलाओं ने हल्दी-चावल का टीका लगाकर बरातियों का स्वागत किया। हल्दी, चिक्सा और मेहंदी से दुल्हन बनी नीलिमा, चादर की ओट में खड़ी है। अपने सपनों के राजकुमार को दूल्हे के रूप में देखकर वह बहुत ख़ुश है।

भीकूजी ने द्वारचार की रीति निभाते हुए दूल्हे का तिलक किया। इसके बाद रिवाज के अनुसार दूल्हे ने अपने हाथ में पकड़ा बाँस की पट्टी का छोटा पंखा मण्डप के ऊपर फेंका। उसी समय दुलहन ने और उसके साथ खड़ी, सखी सहेलियों ने दूल्हे पर हल्दी-चावल फेंके। ऐसी रीति निभाकर ख़ुशी-ख़ुशी शादी कर दी जाती है।

द्वारचार होने के बाद मण्डप में तथागत गौतम बुद्ध और डॉ० भीमराव अम्बेडकर की तस्वीर रखी गई। नीलिमा और आकाश की यह पहली शर्त है – "विवाह होगा, तो बौद्ध पद्धति से ही होगा। जब हम डॉ०

अम्बेडकर की विचारधारा को मानकर, सामाजिक आन्दोलन से जुड़े हैं, तब डॉ० अम्बेडकर के धर्म अनुष्ठान से ही विवाह करेंगे।"

इस विवाह समारोह में वाल्मीकि जाति और मातंग जाति के सैकड़ों लोग उपस्थित हैं। मातंग लड़की के घर, वाल्मीकि जाति के लड़के की बरात आना और सामाजिक रीति से विवाह को मंजूरी देना – यह बात ही उनके लिए बहुत बड़ी है। अब तथागत गौतम बुद्ध और डॉ० भीमराव अम्बेडकर की तस्वीर के सामने, बौद्ध रीति से विवाह करने की बात, उन्हें असहनीय लग रही है।

दोनों ही पक्ष के बुजुर्ग लोग इसके विरोध में बोलने लगे। उन्होंने कहा – "मातंग और वाल्मीकि जाति बौद्ध नहीं, बौद्ध रीति से विवाह नहीं होगा। हम अग्नि के सामने फेरे लेने को ही विवाह मानते हैं।" वर पक्ष की तरफ से फूलचन्द राठौर और परमार परिवार के लोग विरोध में खड़े हो गए। यह देखकर दूल्हा बना आकाश परेशान हो गया। आखिर उसे बोलना ही पड़ा। विवाह में उपस्थित वर और वधू दोनों पक्ष के लोगों को सम्बोधित करके आकाश बोला – "सम्माननीय सभी लोग ! सबसे पहले मैं माफी चाहता हूँ कि आप बड़ों के बीच में बोल रहा हूँ। लेकिन मेरा बोलना ज़रूरी है। आज, इस समय, इस विवाह समारोह से हम एक नई सामाजिक परम्परा शुरू कर रहे हैं। यह परम्परा हम सबके लिए, हमारी एकता, प्रगति और सम्मान के लिए लाभकारी है। आपको ऐसा लगता है, डॉ० अम्बेडकर और उनके बुद्ध धर्म को केवल महार जाति के लोग मानते हैं। ऐसा नहीं है। डॉ० भीमराव अम्बेडकर हम सबके हैं। उन्होंने समतावादी बौद्ध धर्म को अपनाने का सन्देश सबको दिया है। अण्णाभाऊ साठेजी इतने बड़े लेखक और समाज-सुधारक हुए हैं। वे डॉ० अम्बेडकर को मानते थे। उन्होंने अपना उपन्यास 'फकीरा' डॉ० अम्बेडकरजी को समर्पित किया है। मातंग जाति के लोग अण्णाभाऊ साठे को मानते हैं, उन्हें डॉ० अम्बेडकर को भी मानना चाहिए। इसी तरह सभी वाल्मीकि लोगों को भी, डॉ० भीमराव अम्बेडकर को मानना चाहिए।"

वधू पक्ष के सीताराम और भोला गुस्से से कहने लगे – "हम अण्णाभाऊ साठे को अपना मानते हैं, हम लहूजी सालवे को अपना मानते हैं। डॉ० अम्बेडकर हमारी जाति के नहीं हैं। उनकी जयन्ती मनाना अलग बात है, मगर शादी-ब्याह, जैसे सामाजिक बन्धन के लिए हम अपनी पुरानी हिन्दूवादी रीति से ही विवाह करेंगे।"

अब दुल्हन बनी नीलिमा चुप नहीं रह सकी। इतने लोगों के सामने वह बोल उठी – हिन्दूवादी रीति ने हमें दिया है – छूआछूत, अपमान, अन्याय, शोषण, अत्याचार। क्या कभी किसी ने सोचा है, हम हिन्दू केवल इसलिए हैं कि हम सवर्ण हिन्दू समाज की सेवा करते रहें। क्योंकि वे जानते हैं – जिस दिन सफाईकर्मी समाज, ईसाई, मुसलमान या बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेगा, फिर वह उनके घर सफाई करने नहीं जाएगा। कम से कम, अब तो हमारे लोगों को इस बात को समझना चाहिए।"

सभी लोग नीलिमा के इस विद्रोही रूप को देखकर चकित रह गए। वाल्मीकि जाति के लोगों को यह महसूस होने लगा – "नीलिमा उच्च शिक्षित और समाज-सुधार की भावना रखने वाली समझदार लड़की है। वह

कोई बात गलत नहीं कह सकती ।" कालीचरण तो अपने भानजे आकाश की नववधू के इस रूप को देखकर मुस्काराते हुए कहने लगे – "यह लड़की हमारी जाति में फैले अज्ञान के अँधेरे को ज़रूर दूर कर देगी । आकाश को ऐसी ही जीवनसाथी की ज़रूरत है ।"

सबको चुप देखकर नीलिमा ने सम्मान के साथ समझाते हुए कहा– "आप लोग गुरु वाल्मीकिजी को मानते हैं, ज़रूर मानिए । मगर उनके साथ सभी दलितों को समता और सम्मान का अधिकार दिलाने वाले डॉ॰ भीमराव अम्बेडकरजी को भी मानिए । मातंग जाति के लोगों को भी, अण्णाभाऊ साठे के साथ, हम सबके उद्धारक बाबासाहब डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर को भी मानना चाहिए ।"

* * *

"अब जमाना बदल रहा है । पुराना सब कुछ बदलना होगा, तभी नई रीति परम्पराएँ शुरू होगीं । पुरानी परम्पराओं से चिपके रहकर, हम नई बातों की अच्छाई और लाभ को समझ नहीं पाते हैं । विवाह के बाद नये जीवन की शुरूआत होती है । यह शुरूआत गौतम बुद्ध के 'बहुजन हिताय – बहुजन सुखाय' के सन्देश से होना चाहिए, डॉ॰ अम्बेडकर के त्याग, संघर्ष और समाज-कल्याण के कार्यो से, प्रेरणा लेने के संकल्प से शुरू होना चाहिए । तभी हमारी पीढ़ियाँ प्रगति परिवर्तन के मार्ग पर आगे बढ़ सकेगीं ।"

विवाह समारोह में छोटेलाल और लोकनाथ भी उपस्थिति हैं । मगर वे इस विवाह समारोह में व्यवधान को देखकर भी कुछ नहीं बोले । अब रामकिसन नीलिमा के पास खड़ा होकर बोला – "मेरी बेटी नीलिमा लाखों में एक है । वह अकेली सबल और सक्षम है । नीलिमा और आकाश एक होने जा रहे है – यह हम सबके लिए ऐतिहासिक घटना है । नीलिमा और आकाश केवल एक वधू और वर के नाम नहीं हैं । बल्कि ये दोनों मिलकर एक नये नीले आसमान का निर्माण करेंगे – जो हम सबका होगा । हमारा अपना नीला आकाश ! इस नीले आकाश की नई दुनिया हमारी होगी । यहाँ कोई ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा नहीं होगा । सभी दलित जातियाँ मिल-जुलकर एकता के साथ संगठित होकर रहेगीं । वे अपना आपस का जातिभेद भूलकर, समता, सम्मान और बन्धु-भाव के साथ, प्रगति के पथ पर आगे बढ़ेंगे । तब हमें कोई भी मांग-मेहतर नहीं कहेगा । हम दलित भी ऊँचाइयों को छू सकेंगे । सामाजिक आन्दोलन का नीला झण्डा हम आकाश तक फहराएँगे ।"

सब लोग रामकिसन की इन बातों को ध्यानपूर्वक सुनते हुए चुप बैठे हैं । यह देखकर नीलिमा दुखी भाव से, व्याकुल होकर बोल पड़ी – "पूरा देश जानता है, पूरा विश्व जानता है – महिलाओं के उद्धारक कौन हैं ? डॉ॰ अम्बेडकर ने हमारे देश के संविधान में महिलाओं को पुरुषों के बराबर अधिकार दिए हैं, यह बहुत बड़ी बात है ? जिस देश में महिलाएँ सदियों से गुलामी का जीवन जीती रहीं, पति के मरने पर, सती के नाम पर जलायी जाती रहीं । उन्हें जीने का अधिकार, शिक्षा पाने, नौकरी करने और सम्पत्ति का अधिकारी बनने का अधिकार किसने दिया ? हमारे देश के संविधान में लिखित रूप में डॉ॰ अम्बेडकर ने दिया ।

हिन्दू कोडबिल के द्वारा उन्होंने सभी जाति-धर्म की, सवर्ण-दलित स्त्रियों को कई अधिकार देकर सबल बनाया। कई नियम, कायदे के रूप में पारित किए गए – सती करने के विरोध में अधिनियम, पिता की सम्पत्ति में बेटी के अधिकार का नियम, दहेज के विरुद्ध नियम, तलाक के बाद पति से खर्च पाने का नियम, दुष्ट पति के त्यागने पर पुनर्विवाह का नियम, विधवा विवाह का नियम। कानून मन्त्री के पद पर रहते हुए, ऐसे कई कानून बनाकर डॉ० अम्बेडकर ने सभी महिलाओं को समानता और सम्मान के साथ जीने के अधिकार दिए।

उन्होंने हिन्दू कोड बिल पास करवाने के कितने प्रयत्न किए। मगर उस समय की सत्तारूढ़ पार्टी ने वह बिल पास नहीं होने दिया। तब स्वाभिमानी डॉ० अम्बेडकर ने कानून मन्त्री पद से इस्तीफा दे दिया था। कितना संघर्ष किया था उन्होंने। मगर वे जानते थे, 'हिन्दू कोड बिल' ज़रूर पास होगा। स्वतन्त्रता मिलने के बाद वह पास हुआ। यह उनकी दूरदृष्टि थी, स्त्रियों को सबल बनाने का उनका यह सबसे बड़ा प्रयत्न था, यह उनका सबसे कठिन संघर्ष था। कितना छल किया गया था उनके साथ ? हम स्त्रियों को हमारे अधिकार दिलाने के लिए, बाबासाहब अम्बेडकर दुखी होकर रोए थे। वे हमारे सच्चे शुभचिन्तक है, दलित अछूतों के शुभचिन्तक !

स्त्रियों को शिक्षा से दूर रखा जाए, पति को स्वामी और पत्नी को दासी माना जाए – पति की मृत्यु के बाद पत्नी को ज़िंदा जला दिया जाए – यह कहा है मनु महाराज ने और उनके सनातन धर्म ने। क्या अभी भी इन बातों को मानना चाहिए ?" भावावेश के कारण नीलिमा का गला भर आया। सदियों से पीड़ित सम्पूर्ण नारी समाज का दर्द नीलिमा की आवाज़ में कराह उठा !

* * *

भन्तेजी ने पूजा-अर्चना के साथ, माइक पर तथागत बुद्ध की वन्दना शुरू कर दी। नीलिमा और आकाश एक सूत्र में बँधे। उन्होंने तीन बार बुद्ध वन्दना की, तीन बार डॉ० अम्बेडकर की वन्दना की। विवाह सम्पन्न हुआ। नीलिमा और आकाश पर सबने फूलों की वर्षा करके, विवाह के लिए उनका अभिनन्दन किया और शुभकामनाएँ दीं।

विवाह सम्पन्न होते ही दो दलित जातियों के समाज एकता के सूत्र में बँध गए। भीकूजी और रामकिसन का घेरा कालीचरण और चन्दू चौहान बजा रहे हैं – 'तिडिंग तिडिंग तिंग ... तिडिंग, तिडिंग ... ।' सीता, राधा, लक्ष्मी, पार्वती, प्रकाश, विकास, कुसुम, कैलाश और उसके सभी काका मिलकर नाच रहे हैं। भीकूजी, चन्दरी, रामकिसन, उर्मिला, कली, गंगाराम, फूलवती, बुधिया, शारदा, दुलारी, नन्दलाल सभी ख़ुशी में मगन हैं। बाजा बज रहा – 'तिडिंग तिडिंग तिंग ... तिडिंग, तिडिंग ...'

विवाह मण्डप नीले रंग के शामियाने से सजा है। ऊपर नज़र उठाने पर लगता है, नीला आकाश कितने करीब आ गया है। मण्डप में झिलमिलाती नीली-सफेद तोरण और फुलवारी चाँद-तारों का आभास दे रही हैं। मण्डप में मंच पर सुन्दर अक्षरों में लिखा है – 'नीलिमा संग आकाश'। उसके ऊपर है – 'नीला आकाश'।

विवाह होने के बाद, नीलिमा और आकाश ने उपस्थित जन-समूह के बीच आकर उनका अभिवादन किया। नीलिमा और आकाश ने सफेद वस्त्र पहने हैं। नीले शामियाने की छाया में उन पर नीला आलोक बरस रहा हैं। कालीचरण, बुधिया, चन्दू चौहान, दुलारी, नन्दलाल, कैलास, शारदा सब दूसरों से अभिवादन करते हुए कह रहे हैं – जय भीम ! सभी लोग ख़ुशी में नीले रंग का टीका लगाकर सब पर नीला रंग उड़ा रहे हैं। धरती नीली हो रही है, आकाश भी नीला हो गया। 'नीला आकाश' जैसे अपने भाव में सम्पूर्णता पा रहा है।

जैसे नीला आकाश स्वयं तक सीमित नहीं रह सकता, वैसे ही नीलिमा और आकाश को केवल अपने घर और गृहस्थल तक सीमित नहीं रहना है। उन्हें तो पूरे देश में अपना विस्तार पाना है। वे पति-पत्नी होने के साथ, दो प्रेमी हैं, दो मित्र भी हैं। समाज जाग्रति और प्रगति परिवर्तन के आन्दोलन के समर्पित दो कार्यकर्त्ता हैं, समाज के मार्गदर्शक हैं। वे सच्चे जीवनसाथी हैं, जीवनपथ पर साथ-साथ चलते हुए उन्हें अपने समाज के प्रति कर्त्तव्य निभाना है। नीलिमा और आकाश साथ-साथ चलते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ चले ... अपने लक्ष्य की ऊँचाई की ओर ... नीले आकाश की ओर ... । ऐसा लग रहा है, जैसे नीले आकाश स्वयं उड़ान भर रहा है – नीले आकाश की उड़ान ... !

❖❖❖

अन्नपूर्णा मंडल की आखिरीचिट्ठी

– सुधा अरोड़ा

प्यारी माँ और बाबा,

चरण-स्पर्श।

मुझे मालूम है बाबा, लिफाफे पर मेरी हस्तलिपि देखकर लिफाफे को खोलते हुए तुम्हारे हाथ काँप गए होंगे। तुम बहुत एहतियात के साथ लिफाफा खोलोगे कि भीतर रखा हुआ मेरा ख़त फट न जाए।

सोचते होंगे कि एक साल बाद आखिर मैं तुम लोगों को ख़त क्यों लिखने बैठी। कभी तुम अपने डाकघर से, कभी बाबला या बउदी अपने ऑफिस से फोन कर ही लेते हैं, फिर ख़त लिखने की क्या ज़रूरत ! नहीं, डरो मत, ऐसा कुछ भी नया घटित नहीं हुआ है। कुछ नया हो भी क्या सकता है।

बस, हुआ इतना कि पिछले एक सप्ताह से मैं अपने को बार-बार तुम लोगों को ख़त लिखने से रोकती रही। क्यों ? बताती हूँ। तुम्हें पता है न, बम्बई में बरसात का मौसम शुरू हो गया है। मैं तो मना रही थी कि बरसात जितनी टल सके, टल जाए, लेकिन वह समय से पहले ही आ धमकी। और मुझे जिसका डर था, वही हुआ। इस बार बरसात में पार्क की गीली मिट्टी सनी सड़क से उठकर उन्हीं लाल केंचुओं की फौज घर के भीतर तक चली आई है। रसोई में जाओ तो मोरी के कोनों से ये केंचुए मुँह उचका-उचका कर झाँकते हैं, नहाने जाओ तो बाल्टी के नीचे कोने पर वे बेखौफ़ चिपके रहते हैं। कभी-कभी पैरों के नीचे अचानक कुछ पिलपिला-सा महसूस होता है और मैं डर जाती हूँ कि कहीं मेरे पाँव के नीचे आकर कोई केंचुआ मर तो नहीं गया ?

इस बार मुझे बाँकुड़ा का वह अपना (देखो, अब भी वही घर अपना लगता है) घर बहुत याद आया। बस, ये यादें ही तुम्हारे साथ बाँटना चाहती थी। पता नहीं तुम्हें याद है या नहीं, पता नहीं बाबला को भी याद होगा या नहीं, हम कितनी बेसब्री से बरसात के आने का इंतज़ार करते थे। मौसम की पहली बरसात देखकर हम कैसे उछलते-कूदते माँ को बारिश के आने की खबर देते, जैसे पानी की बूँदें सिर्फ़ हमें ही दिखाई देती हैं, और किसी को नहीं। पत्तों पर टप-टप-टप बूँदों की आवाज़ और उसके साथ हवा में गमकती फैलती मिट्टी की महक हमें पागल कर देती थी, हम अख़बार को काट-काट कर कागज की नावें बनाते और उन्हें तालाब में छोड़ते। माँ झींकती रहतीं और हम सारा दिन पोखर के पास और आँगन के बाहर, हाथ में नमक की पोटली लिए, बरसाती केंचुओं को ढूँढ़ते रहते थे। वे इधर-उधर बिलबिलाते-से हमसे छिपते फिरते थे और हम उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़ कर मारते थे। नमक डालने पर उनका लाल रंग कैसे बदलता था, केंचुए हिलते थे और उनका शरीर सिकुड़कर रस्सी हो जाता था। बाबला और मुझमें होड़ लगती थी कि किसने कितने ज़्यादा केंचुओं को मारा। बाबला तो एक-एक केंचुए पर मुट्ठी भर-भर कर नमक डाल देता था।

माँ, तुम्हें याद है, तुम कितना चिल्लाती थीं बाबला पर ... इतना नमक डालने की क्या ज़रूरत है रे खोका। पर फिर हर बार जीतता भी तो बाबला ही था ... उसके मारे हुए केंचुओं की संख्या ज़्यादा होती थी। बाबा, तुम डाकघर से लौटते तो पूछते ... तुम दोनों हत्यारों ने आज कितनों की हत्या की? फिर मुझे अपने पास बिठाकर प्यार से समझाते ... बाबला की नकल क्यों करती है रे! तू तो माँ अन्नपूर्णा है, देवीस्वरूपा, तुझे क्या जीव-जन्तुओं की हत्या करना शोभा देता है? भगवान् पाप देगा रे।

आज मुझे लगता है बाबा, तुम ठीक कहते थे। हत्या चाहे मानुष की हो या जीव-जन्तु की, हत्या तो हत्या है।

तो क्या बाबा, उस पाप की सज़ा यह है कि बाँकुड़ा के बाँसपुकुर से चलकर इतनी दूर बम्बई के अँधेरी इलाके के महाकाली केव्स रोड के फ्लैट में आने के बाद भी वे सब केंचुए मुझे घेर-घेर कर डराते हैं, जिन्हें पुकुर के आस-पास नमक छिड़क-छिड़क कर मैंने मार डाला था।

यह मेरी शादी के बाद की पाँचवीं बरसात है। बरसात के ठीक पहले ही तुमने मेरी शादी की थी। जब बाँकुड़ा से बम्बई के लिए मैं रवाना हुई, तुम सबकी नम आँखों में कैसे दिये टिमटिमा रहे थे जैसे तुम्हारी बेटी न जाने कौन-से परीलोक जा रही है जहाँ दिव्य अप्सराएँ उसके स्वागत में फूलों के थाल हाथों में लिए खड़ी होंगी। यह परीलोक, जो तुम्हारा देखा हुआ नहीं था पर तुम्हारी बेटी के सुन्दर रूप के चलते उसकी झोली में आ गिरा था, वरना क्या अन्नपूर्णा और क्या उसके डाकिये बापू शिबू मंडल की औकात थी कि उन्हें रेलवे की स्थायी नौकरी वाला सुदर्शन वर मिलता? तुम दोनों तो अपने जमाई राजा को देख-देख कर ऐसे फूले नहीं समाते थे कि मुझे बी०ए० की सालाना परीक्षा में भी बैठने नहीं दिया और दूसरे दर्जे की आरक्षित डोली में बिठाकर विदा कर दिया।

जब मैं अपनी बिछुआ-झाँझर सँभाले इस परीलोक के द्वार दादर स्टेशन पर उतरी तो देखा जैसे तालाब में तैरना भूल गई हूँ। इतने आदमी तो मैंने अपने पूरे गाँव में नहीं देखे थे। यहाँ स्टेशन के पुल की भीड़ के हुजूम के साथ सीढ़ियाँ उतरते हुए लगा जैसे पेड़ के सूखे पत्तों की तरह हम सब हवा की एक दिशा में झर रहे हैं। देहाती-सी लाल साड़ी में तुम्हारे जीवन भर की जमा-पूँजी के गहनों और कपड़ों का बक्सा लिए जब अँधेरी की ट्रेन में इनके साथ बैठी तो साथ बैठे लोग मुझे ऐसे घूर रहे थे जैसे मैं और बाबला कभी-कभी कलकत्ता के चिड़ियाघर में वनमानुष को घूरते थे। और जब महाकाली केव्स रोड के घर का जंग खाया ताला खोला तो जानते हो, सबसे पहले दहलीज पर मेरा स्वागत किसने किया था – दहलीज़ की फाँकों में सिमटे-सरकते, गरदन उचकाते लाल-लाल केंचुओं ने। उस दिन मैं बहुत ख़ुश थी। मुझे लगा, मेरा बाँकुड़ा मेरे आँचल से बँधा-बँधा मेरे साथ-साथ चला आया है। मैं मुस्कुरायी थी। पर मेरे पति तो उन्हें देखते ही खूँखार हो उठे। उन्होंने चप्पल उठायी और चटाख्-चटाख् सबको रौंद डाला। एक-एक वार में उन्होंने सबका काम तमाम कर डाला था। तब मेरे मन में पहली बार इन केंचुओं के लिए माया-ममता उभर आई थी। उन्हें इस तरह कुचले जाते हुए देखना मेरे लिए बहुत यातनादायक था।

दस दिन हमें एकान्त दे कर आखिर इनकी माँ और बहन भी अपने घर लौट आई थीं। अब हम रसोई में परदा डाल कर सोने लगे थे। रसोई की मोरी को लाख बन्द करो, ये केंचुए आना बन्द नहीं करते थे। पति अक्सर अपनी रेलवे की ड्यूटी पर सफ़र में रहते और मैं रसोई में। और रसोई में बेशुमार केंचुए थे। मुझे लगता था, मैंने अपनी माँ की जगह ले ली है और अब मुझे सारा जीवन रसोई की इन दीवारों के बीच इन केंचुओं के साथ गुजारना है। एक दिन एक केंचुआ मेरी निगाह बचाकर रसोई से बाहर चला गया और सास ने उसे देख लिया। उनकी आँखें गुस्से से लाल हो गईं। उन्होंने चाय के खौलते हुए पानी की केतली उठायी और रसोई में बिलबिलाते सब केंचुओं पर गालियाँ बरसाते हुए उबलता पानी डाल दिया। सच मानो बाबा, मेरे पूरे शरीर पर जैसे फफोले पड़ गए थे, जैसे खौलता हुआ पानी उन पर नहीं, मुझ पर डाला गया हो। वे सब फौरन मर गए, एक भी नहीं बचा। लेकिन मैं ज़िंदा रही। मुझे तब समझ में आया कि मुझे अब बाँकुड़ा के बिना ज़िंदा रहना है। पर ऐसा क्यों हुआ बाबा, कि मुझे केंचुओं से डर लगने लगा। अब वे जब भी आते, मैं उन्हें वापस मोरी में धकेलती, पर मारती नहीं। उन दिनों मैंने यह सब तुम्हें ख़त में लिखा तो था, पर तुम्हें मेरे ख़त कभी मिले ही नहीं। हो सकता है, यह भी न मिले। या मिल भी जाए तो तुम कहो कि नहीं मिला। फोन पर मैंने पूछा भी था – चिट्ठी मिली ? तुमने अविश्वास से पूछा – पोस्ट तो की थी या ...। मैं हँस दी थी – अपने पास रखने के लिए थोड़े ही लिखी थी। तुमने आगे कुछ नहीं कहा। और बात ख़तम।

फोन पर इतनी बातें करना सम्भव कहाँ है। फोन की तारों पर मेरी आवाज़ जैसे ही तुम तक तैरती हुई पहुँचती है, तुम्हें लगता है, स...ब ठीक है। जैसे मेरा ज़िंदा होना ही मेरे ठीक रहने की निशानी है। और फोन पर तुम्हारी आवाज़ सुनकर मैं परेशान हो जाती हूँ क्योंकि फोन पर मैं तुम्हें बता नहीं सकती कि तुम जिस आवाज़ को मेरी आवाज़ समझ रहे हो, वह मेरी नहीं है। तुम फोन पर मेरा कुशल-क्षेम ही सुनना चाहते हो और मैं तुम्हें केंचुओं के बारे में कैसे बता सकती हूँ ? तुम्हारी आवाज़ से मैं चाहकर भी तो लिपट नहीं सकती। मुझे तब सत्रह सौ किलोमीटर की दूरी बुरी तरह खलने लगती है।

इतनी लम्बी दूरी को पार कर डेढ़ साल पहले जब मैं वहाँ बाँकुड़ा पहुँची थी, मुझे लगा था, मैं किसी अजनबी गाँव में आ गई हूँ जो मेरा नहीं है। मुझे वापस जाना ही है, यह सोचकर मैं अपने आने को भी भोग नहीं पायी। मैंने शिथिल होकर खबर दी थी कि मुझे तीसरा महीना चढ़ा है। मैं आगे कुछ कह पाती कि तुम सब में ख़ुशी की लहर दौड़ गई थी। माँ ने मुझे गले से लगा लिया था, बउदी ने माथा चूम लिया था। मैं रोयी थी, चीखी थी, मैंने मिन्नतें की थीं कि मुझे यह बच्चा नहीं चाहिए, कि उस घर में बच्चे की किलकारियाँ सिसकियों में बदल जाएँगी, पर तुम सब पर कोई असर नहीं हुआ। तुम चारों मुझे घेरकर खड़े हो गए ... भला पहला बच्चा भी कोई गिराता है, पहले बच्चे को गिराने से फिर गर्भ ठहरता ही नहीं, माँ बनने में ही नारी की पूर्णता है, माँ बनने के बाद सब ठीक हो जाता है, औरत को जीने का अर्थ मिल जाता है। माँ, तुम अपनी तरह मुझे भी पूर्ण होते हुए देखना चाहती थीं। मैंने तुम्हारी बात मान ली और तुम सब के सपनों को पेटमें सँजोकर वापस लौट गई।

वापस। उसी महाकाली की गुफाओं वाले फ्लैट में। उन्हीं केंचुओं के पास। बस, फर्क यह था कि अब वे बाहर फर्श से हट कर मेरे शरीर के भीतर रेंग रहे थे। नौ महीने मैं अपने पेट में एक दहशत को आकार लेते हुए

महसूस करती रही। पाँचवें महीने मेरे पेट में जब उस आकार ने हिलना-डुलना शुरू किया, मैं भय से काँपने लगी थी। मुझे लगा, मेरे पेट में वही बरसाती केंचुए रेंग रहे हैं, सरक रहे हैं। आखिर वह घड़ी भी आयी, जब उन्हें मेरे शरीर से बाहर आना था और सच माँ, जब लम्बी बेहोशी के बाद मैंने आँखें खोल कर अपने बगल में लेटी सलवटों वाली चमड़ी लिए अपनी जुड़वाँ बेटियों को देखा, मैं सकते में आ गई। उनकी शक्ल वैसी ही गिजगिजी लाल केंचुओं जैसी झुर्रीदार थी। मैंने तुमसे कहा भी था ... देखो तो माँ, ये दोनों कितनी बदशक्ल हैं, पतले-पतले ढीले-ढाले हाथ-पैर और साँवली-मरगिल्ली-सी। तुमने कहा था, बड़ी बोकी है रे तू, कैसी बातें करती है, ये तो साक्षात् लक्ष्मी-सरस्वती एक साथ आयी हैं तेरे घर। तुम सब ने कलकत्ता जाकर अपनी बेटी और जमाई बाबू के लिए कितनी खरीदारी की थी, बउदी ने खास सोने का सेट भिजवाया था। सब दान-दहेज समेट कर तुम यहाँ आयीं और चालीस दिन मेरी, इन दोनों की और मेरे ससुराल वालों की सेवा-टहल करके लौट गयीं। इन लक्ष्मी-सरस्वती के साथ मुझे बाँधकर तुम तो बाँकुड़ा के बाँसपुकुर लौट गयीं, मुझे बार-बार यही सुनना पड़ा – एक कपालकुण्डला को अस्पताल भेजा था, दो को और साथ ले आयी।

बाबा, कभी मन होता था – इन दोनों को बाँध कर तुम्हारे पास पार्सल से भिजवा दूँ कि मुझसे ये नहीं सँभलतीं, अपनी ये लक्ष्मी-सरस्वती-सी नातिनें तुम्हें ही मुबारक हों पर हर बार इनकी बिटर-बिटर-सी ताकती हुई आँखें मुझे रोक लेती थीं।

माँ, मुझे बार-बार ऐसा क्यों लगता है कि मैं तुम्हारी तरह एक अच्छी माँ कभी नहीं बन पाऊँगी जो जीवन भर रसोई की चारदीवारी में बाबला और मेरे लिए पकवान बनाती रही और फालिज की मारी ठाकुर माँ की चादरें धोती-समेटती रही। तुम्हारी नातिनों की आँखें मुझसे वह सब माँगती हैं जो मुझे लगता है मैं कभी उन्हें दे नहीं पाऊँगी।

इन पाँच-सात महीनों में कब दिन चढ़ता था, कब रात ढल जाती थी, मुझे तो पता ही नहीं चला। इस बार की बरसात ने आकर मेरी आँखों पर छाए सारे परदे गिरा दिए हैं। ये दोनों घिसटना सीख गई हैं। सारा दिन कीचड़-मिट्टी में सनी केंचुओं से खेलती रहती हैं। जब ये घुटनों घिसटती हैं, मुझे केंचुए रेंगते दिखाई देते हैं और जब बाहर सड़क पर मैदान के पास की गीली मिट्टी में केंचुओं को सरकते देखती हूँ तो उनमें इन दोनों की शक्ल दिखाई देती है। मुझे डर लगता है, कहीं मेरे पति घर में घुसते ही इन पर चप्पलों की चटाख्-चटाख् बौछार न कर दें या मेरी सास इन पर केतली का खौलता हुआ पानी न डाल दें। मैं जानती हूँ, यह मेरा वहम है पर यह लाइलाज है और मैं अब इस वहम का बोझ नहीं उठा सकती।

इन दोनों को अपने पास ले जा सको तो ले जाना। बाबला और बउदी शायद इन्हें अपना लें। बस, इतना चाहती हूँ कि बड़ी होने पर ये दोनों अगर आसमान को छूना चाहें तो यह जानते हुए भी कि वे आसमान को कभी छू नहीं पाएँगी, इन्हें रोकना मत।

इन दोनों के रूप में तुम्हारी बेटी तुम्हें सूद सहित वापस लौटा रहीहूँ। इनमें तुम मुझे देख पाओगे शायद।

बाबा, तुम कहते थे न – आत्माएँ कभी नहीं मरतीं। इस विराट व्योम में, शून्य में, वे तैरती रहती हैं – परम शान्त हो कर। मैं उस शान्ति को छू लेना चाहती हूँ। मैं थक गई हूँ, बाबा। हर शरीर के थकने की अपनी सीमा होती है। मैं जल्दी थक गई, इसमें दोष तो मेरा ही है। तुम दोनों मुझे माफ कर सको तो कर देना।

इति।

तुम्हारी आज्ञाकारिणी बेटी,

अन्नपूर्णा मंडल

❖❖❖

अम्मा

– ओमप्रकाश वाल्मीकि

यह कहानी अम्मा की है – आप कह सकते हैं, लेकिन किसी एक अम्मा की नहीं, न जाने कितनी अम्मा सुबह-सवेरे हाथ में झाड़ू-कनस्तर थामे हुए गली-मुहल्लों में मिल जाएँगी जिनका जर्जर शरीर वक्त के थपेड़े खाकर पुराने दरख़्त की तरह समय के साथ गलने लगा है। उनका हर एक पल, एक अनजाने, अदृश्य भविष्य की ओर जा रहा है, जिसके बारे में तमाम भविष्यवाणियाँ और संकल्पनाएँ बिखर जाती हैं या झूठी साबित होती हैं।

मैं जिस अम्मा की बात कर रहा हूँ – उसका नाम क्या है, मैं नहीं जानता। शायद वह स्वयं भी अभी तक अपना नाम भूल चुकी होगी। क्योंकि जब वह मायके से ससुराल आयी थी तो सास-ससुर ने उसे 'बहू' कहकर पुकारा, देवर और ननद ने भाभी या भावज, पास-पड़ोस की बड़ी-बूढ़ियों ने उसके खसम के नाम पर 'सुकड़ू की बहू' नामकरण अनजाने में ही कर दिया था। शुरू के दिनों में सुकड़ू उसका नाम नहीं लेता था। नाम तो वह अब भी नहीं लेता। उन दिनों नाम लेने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती थी। दिन-भर तो वह माँ-बहन के साए में घिरी रहती थी। देर रात सुकड़ू चुपके-चुपके उसकी चारपाई पर पहुँचता था, वह भी चोर की तरह दबे पाँव। कुछ ही देर के लिए। उसमें भी डर लगा रहता था, कहीं बहन या माँ जाग न जाए। एक छोटे से आँगन में टिन की छत और लड़की के फट्टों को जोड़कर रहने भर की जगह थी।

इस थोड़े से वक्त में बात करने की फुरसत ही कहाँ होती थी। उन दिनों आज की यह अम्मा तो वह थी नहीं। जो अब घिसट-घिसटकर धीमे कदमों से चलती है जिसकी गंदी साड़ी सामने से पेट के पास ठँसी रहती है। सण जैसे रूखे बाल, झुर्रियों से भरा चेहरा, मिचमिची आँखों वाली अम्मा, वक्त की मार ने जिसकी एक आँख को छोटा कर दिया है। और जिसके सामने के दाँत टूटे हुए हैं। जो एक-आध बचा है, वह भी भड़भूजे की कढ़ाई में उछलते मकई के दानों की तरह हिलता है।

उस समय की बात ही कुछ और थी। लम्बे घने बाल, चंचल गहरी काली आँखें, साँवला-सलोना रूप। भरा-पूरा शरीर जिसकी मोहक गन्ध ने सुकड़ू को सम्मोहित कर लिया था। उन थोड़े-से पलों को पाने के लिए वह दिन भर कुलाँचें मारता था। आज भी उसकी स्मृति में वे थोड़े से दिन ही सबसे अच्छे दिन हैं, भले ही थोड़ी देर का साथ होता था, फिर भी भरपूर जीये गए क्षण थे वे।

जब पहला बेटा हुआ तो उसका नाम बड़े जतन से शिवचरण रखा गया था। सुकड़ू को भी अब ज़रूरत महसूस होने लगी थी, दुल्हन को किसी नाम से पुकारने की, और उसने एक दिन उसे 'शिबु की अम्मा' कहकर पुकार लिया था। 'शिबु की अम्मा' जो अब सिर्फ़ अम्मा भर रह गई है। सुकड़ू तो अभी भी 'शिबु की अम्मा' ही कहकर बुलाता है।

नाती-पोतों से भरा-पूरा परिवार है अम्मा का। उम्र के सातवें दशक में पहुँचकर शरीर साथ छोड़ने लगा है। अक्सर बीमार रहने लगी है। जोड़ों के दर्द से परेशान है। फिर भी दस-पन्द्रह घरों का काम निबटाकर ही घर लौटती है।

सफेद कपड़े अम्मा की कमजोरी थे। आज भी जब झाड़ू और टूटा-फूटा बदरंग कनस्तर लेकर अम्मा काम पर निकलती है तो सफेद साड़ी ही उसके तन पर लिपटी रहती है। यह समय की मार है कि अब ये सफेद साड़ी, सफेद होने का अहसास भर है। सफेद रंग न जाने वक्त के साथ कब पीले-मटमैले रंगों में बदल गया। वह समझ भी नहीं पायी। समझ तो वह यह भी नहीं पायी थी कि समय इतनी तेजी से कैसे बदल गया। गाँव-देहात की लड़की शहर में आकर चौकन्नी हिरनी की तरह हर चीज को अचरज से देखती थी उन दिनों।

आज सास-ससुर दोनों का देहान्त हुए कई बरस हो चुके हैं। लेकिन उसे अच्छी तरह याद है, जब पहली बार सासु से 'ठिकानों' में 'सलाम' की रस्म पूरी करने ले गई थी तो उसने कभी सोचा भी नहीं था कि एक दिन वह भी सास की तरह झाड़ू और कनस्तर हाथ में लेकर दरवाजे-दरवाजे घूमेगी।

सास ने बाकायदा ट्रेनिंग दी थी उसे। कैसे दरवाजे पर पहुँचकर आवाज़ देना है। कैसे टट्टी में घुसना है, कैसे पानी डालना है। फिर झाड़ू के कितने हाथ दाएँ, कितने बाएँ चलाने हैं। किस घर में किससे, कैसे और कितनी बात करनी है। घर-आँगन में कितनी दूर तक जाना है। आँगन में पड़ी चीज को नहीं छूना है। कोई चाय-पानी दे तो कप या गिलास वापस कहाँ रखना है। हरेक ठिकाने में आँगन के किसी कोने, आले या छोटे-मोटे पेड़ की किसी टहनी पर एक-आधा कप या गिलास सास ने सँभालकर रखे थे, जो वक्त-ज़रूरत पर काम आते थे।

और भी न जाने कितनी बातें सास ने उसे समझायी थीं। वह अचरज से सास की कही बातें सुनती थी। गाँव के तौर-तरीके अलग थे। गाँव में तो हाजत-फरागत के लिए औरत-मर्द सब गाँव से बाहर ही जाते हैं। वैसे भी गाँव में ज़्यादातर काम खेत-खलिहान के ही होते थे। यह काम उसके लिए एकदम नया था। टट्टियों के दरवाजे खोलते ही उसका सिर भन्ना जाता था। दुर्गन्ध से। अंग्रेजों की देखा-देखी हिन्दुस्ता नियों ने भी घरों में पाखाने बना लिए थे। उसे यह सब अजीब लगता था।

शुरू-शुरू में सास उसे साथ लेकर ठिकानों में जाती थी। काम वह करती थी, सास पास खड़ी होकर हिदायतें देती थी। समय पंख लगाकर उड़ने लगा था। सास उसके काम से ख़ुश थी। हर तरह से उसका ख़याल रखती थी। हर समय साये की तरह उसके साथ रहती थी।

एक दिन अचानक सास की तबीयत बिगड़ गई। सास ने ऐसा बिस्तर पकड़ा कि फिर उठ नहीं पायी। घर-बाहर के काम की सारी जिम्मेदारी शिबु की अम्मा के ऊपर आन पड़ी थी।

शिवचरण के बाद बिसन और उसके बाद किरण। तीन बच्चों की माँ अब शिबु की अम्मा से 'अम्मा' बन गई थी। ननद ससुराल जा चुकी थी। घर में रह गए थे कुल दस प्राणी। सास-ससुर, देवर-देवरानी उनकी एक

लड़की। सुकड़ू और तीन बच्चे। ससुर दिन-भर घर में पड़ा खाँसता रहता था। देवर कहने को तो एक बैंड पार्टी में बाजा बजाता था लेकिन शादी-ब्याह के दिनों को छोड़कर बाकी समय खाली ही रहता था। इधर-उधर घूमकर सारा दिन गुजार देता था। सुकड़ू नगरपालिका में सफाई कर्मचारी था। मामूली तनख़्वाह थी। पूरे परिवार का भार सुकड़ू के कन्धों पर था। ऊपर से सरदार प्रीतम सिंह का कर्जा जिसका सूद हर महीने चुकाना पड़ताथा।

सास ने जो ट्रेनिंग उसे दी थी, उसके सहारे डूबते परिवार को भरोसा मिला था। दस की जगह पन्द्रह ठिकानों का काम पकड़ लिया था अम्मा ने। पाँच उसने बिरमदेई से खरीदे थे किश्तों पर, हर महीने थोड़े-थोड़े पैसे देने का वादा कर लिया था उसने।

अम्मा के पास सबसे ज़्यादा आमदनी का ठिकाना था चोपड़ा का। चोपड़ा की बड़े बाजार में कपड़े की दुकान थी। अच्छी-खासी आमदनी थी। चोपड़ा सुबह घर से निकलता तो रात दस बजे ही घर लौटता था। बच्चे भी सुबह स्कूल चले जाते थे। मिसेज चोपड़ा दिन-भर घर में अकेली रहती थी।

अम्मा अक्सर मिसेज चोपड़ा के घर में एक आदमी को देखती थी। शुरू-शुरू में वह यही समझती रही कि घर-परिवार का ही कोई होगा। लेकिन भेद जल्दी ही खुल गया। एक दिन दोनों को जिस स्थिति में देखा, अम्मा का दिल धक से रह गया। मिसेज चोपड़ा उसे भली और अच्छी लगती थी। उस दिन जो कुछ देखा, उसके बाद से उसके प्रति अम्मा के मन में एक अजीब-सी नफरत पनपने लगी।

मिसेज चोपड़ा ने उसकी तनख़्वाह में पाँच रुपये बढ़ा दिए उस रोज के बाद। बाकी ठिकानों से उसे सिर्फ़ पाँच-पाँच रुपये ही मिलते थे। मिसेज चोपड़ा दस रुपये देने लगी थीं। वैसे मिसेज चौपड़ा भी ख़ुशमिजाज, खूब बातें करती थीं। दुनिया जहान की बातें। अम्मा मुँह बाए सुनती थी। जिस रोज मिसेज चोपड़ा अकेली होती थी। अम्मा को चाय पीने के लिए रोक लेती थी। आँगन में खड़े अमरूद के पेड़ पर अम्मा का एक कप रखा रहता था। चाय पीते-पीते अम्मा सोचती थी कि चोपड़ा बहनजी इतनी अच्छी हैं फिर भी एक पराये मर्द के साथ ... छिः, ... छिः ... कहते हुए भी शर्म आती है।

एक रोज जब अम्मा उसके घर पहुँची तो मिसेज चोपड़ा बाथरूम में थी। वह आदमी बेडरूम में बैठा हुआ था। अम्मा ने आवाज़ देकर कहा, "भैणजी, पाणी डाल दो ... सफाई हो गई है।"

मिसेज चोपड़ा ने बाथरूम से ही आवाज़ देकर कहा, "विनोद प्लीज़ एक बाल्टी पानी जमादारनी को दे दो ... मैं सिर धो रही हूँ ... देर लगेगी बाथरूम से निकलने में। बाल्टी नल के नीचे लगी है।"

वह उठा और पानी की बाल्टी अम्मा के सामने ले जाकर रख दी। मुस्कुराकर अम्मा को देखा। अम्मा ने पानी डालने के लिए हाथ का इशारा किया। विनोद ने टट्टी में पानी डालने की बजाय अम्मा की कमर में हाथ डालकर झटके से उसे अपनी ओर खींचा। अम्मा इस हरकत से हड़बड़ा गई। खींचकर बोली, "क्या करते हो यह ? ... छोड़ो ... छूटने के लिए कसमसाने लगी।

विनोद ने दबाव बढ़ा दिया। कसकर अपने सीने से भींच लिया। अम्मा को लगा जैसे किसी आदमखोर ने उसे दबोच लिया है। वह बन्धन ढीला करने के लिए जोर लगा रही थी। जैसे ही पकड़ कुछ कम हुई झटका देकर उसने खुद को मुक्त कर लिया। हाथ में थमी झाड़ू की मूठ पर हथेली कस गई। पूरी ताकत से झाड़ू का वार सीधा उसकी कनपटी पर किया। चोट लगते ही वह लड़खड़ा गया और बेडरूम की तरफ भागा। अम्मा लगातार उसे पीटते हुए बेडरूम में घुस गई। वह नीचे फर्श पर गिर पड़ा था। अम्मा की झाड़ू सड़ाक-सड़ाक उस पर पड़ रही थी। मुँह से गालियाँ फूट रही थीं।

चीख-पुकार सुनकर मिसेज चोपड़ा अर्द्धनग्न कपड़ों में बाथरूम से बाहर आ गई। बेडरूम का दृश्य देखकर भौंचक रह गई; विनोद को बचाने के लिए दौड़ी।

"रुको ... यह क्या कर रही हो ? ... रुको ... मत मारो उसे ..." मिसेज चोपड़ा ने उसके हाथ से झाड़ू छीनने की कोशिश की। अम्मा ने उसे भी धक्का देकर पीछे धकेल दिया। दो-तीन वार और किए। रुककर बोली, "भैणजी इस हरामी के पिल्ले से कह देणा ... हर एक औरत छिनाल ना होवे है।" अम्मा की आँखों में लाल सुर्ख डोरे अंगारों की तरह दहक रहे थे। गुस्से से शरीर काँप रहा था। अम्मा का साँवला रंग और गहरा हो गया था।

विनोद की वहशीयत ठंडी पड़ चुकी थी। झाड़ू की मूठ का एक तगड़ा हाथ उसकी आँख पर पड़ा था। आँख के आस-पास नीले रंग का बड़ा-सा गूमड़ उभर आया था जिसे हथेली से दबाए वह फर्श पर औंधा पड़ा था।

अम्मा ने कनस्तर उठाया और दनदनाते हुए बाहर निकल गई।

अगले दिन उसने चोपड़ा का ठिकाना सस्ते दामों में हरदेई को बेच दिया। साथ में पूरी घटना भी उसने हरदेई को विस्तार से सुना दी।

हरदेई बदजबान औरत थी। गालियाँ तो उसके मुँह से धाराप्रवाह फूटती थीं। गाली के बगैर उसका कोई वाक्य ही नहीं बनता था। पूरा किस्सा सुनकर अम्मा से बोली, 'तू तो मूरख है नासपिट्टी, अपनी माँ के यार कू टट्टी में घसीट लेती। पहले उतरवाती उसके कपड़े कि आ तुझे करवा दूँ मसूरी की सैर। फेर करवात्ती उससे थगनी का नाच। झाड़ू से पीट-पीटकर साले कुत्ते कू सड़क पे लियात्ती। जुलूस लिकड़ (निकल) जाता चोद्दे (गाली) का, जिब सड़क पे दौड़ता। भूल जाता सारा इशक ... और वह चौपड़ी ... ऐसी लुगाइयों का इलाज मैं जाणूँ हूँ ... ये ले थाम लोट (नोट) ... इब कल से चोपड़ी मेरी। ... साली ... दो-दो बच्चों की माँ होके इशक करे है ... !'

अम्मा ने बीस रुपये में चोपड़ा का ठिकाना बेचकर राहत की साँस ली।

चोपड़ी को बीस रुपये में बेच देने की खबर जब अम्मा की सास को मिली तो घर में कुहराम मच गया। सास ने चीख-चीख पूरा मुहल्ला सिर पर उठा लिया, "अरी नासपिट्टी, करमजली, मेरे मरने के बाद ही मनचाही कर लेत्ती। इस चोपड़ी के बोत (बहुत) एहसान हैं म्हारे ऊप्पर। बख़त-कुबख़त जिब बी ज़रूरत पड़े थी; मदत करी है

उन्ने । इबते नरीं बरसों से मैं वहाँ जात्ती थी ... वो खानदानी लोग हैं । म्हारे जैसे तो उनकी जेब में पड़े हैं । और तू ... लाटसाहबनी ... इतनी बड़ी हो गई कि उसे ही बेच के आ गई । वह बी उस हरामजादी हरदेई कू । मैं अच्छी तरियों पिछाणूँ ... उसे ... उन्ने ही कोई पट्टी पढ़ाई होगी तैन्ने । वह तो बोत दिनों से उस ठिकाने कू कबजाणे की फिराक में थी । अरी एक बार मन्ने तो पूछ लिया होता ..." सास ने रो-रोकर जी हलकान कर लिया था । अम्मा चुप्पी साधे सास का रोना-कलपना सुनती रही । लेकिन चोपड़ी के घर हुए हादसे की कोई चर्चा न की ।

मदद तो मिसेज चोपड़ा उसकी भी करती थीं जब तक मामला मिसेज चोपड़ा तक सीमित था, अम्मा ने कभी कुछ नहीं कहा था । न किसी के सामने उसकी चर्चा ही की थी । लेकिन जब उस कमीने ने अम्मा पर ही हाथ डाल दिया तो वह बर्दाश्त नहीं कर सकी ।

दो-चार दिन रो-धोकर सास तो चुप हो गई । लेकिन एक दिन सुकड़ू ने चर्चा छेड़ दी । उस रोज नगरपालिका में तनख़्वाह बढ़ी थी । सुकड़ू बहुत दिन बाद देसी दारू का पव्वा चढ़ाकर आया था । तनख़्वाह अम्मा के हाथ पर रखते हुए बोला, "ये ले रुपये ... पर एक बात कान खोल के सुण ले ... शिबु की अम्मा ... तूने यो अच्छा नी करा जो माँ का जी दुखाया ... ये ठिकाने माँ ने कितने जोड़-तोड़ करके घेरे थे । घर का सारा टीम टब्बर इन्हीं ते चला करे था । बापू तो कुछ करे ना था । माँ ने बहुत बुरा टेम निभाया इन ठिकानों के भरोसे । रोट्टी-पाणी, कपड़ा-लत्ता सब कुछ आवे था । बाहंण (बहन) का जिब ब्याह हुआ था तो इस चोपड़ी ने ही अपणी दुकान से कपड़ा दिलवाया था, वो भी उधार ... और उस चोपड़ी को तू बेच आ गई । तूने अच्छा नी किया शिबू की अम्मा ... जा माँ से माफ़ी माँग ले और बीस रुपये दे के हरदेई से चोपड़ी को वापिस ले । इब आख़िरी दिनों में माँ को क्यूँ दुःख देवे है । चोपड़ी जैसी बीरबानी (स्त्री) ढूँढ़े पे भी ना मिलेगी । जितनी सूरत से खूबसूरत हैगी उतनी ही सीरत से भली ।" शिबु की अम्मा को चुप देखकर सुकड़ू ने जोर से कहा, "तू चुपचाप घोघोमाई बणके बैट्ठी है ... मेरी बात सुण रही है ?"

अम्मा खामोशी से सुकड़ू का वार्तालाप सुन रही थी, उसके मन में अजीब-सा शोर उठ रहा था जिसे वह अनसुना नहीं कर पा रही थी । वह नहीं चाहती थी, उस हादसे के कारण घर में क्लेश हो ।

अनेक बार उसने अपने भीतर उठते शोर को सुना लेकिन हमेशा खामोश रही । अब तो भीतर न जाने कितने ज़ख्म भर गए थे । पुरानी यादों को जब अम्मा कुरेदने बैठती है तो उसका रोम-रोम काँप उठता है । अपनी यादों की तरह ही उसने मन की तमाम इच्छाओं को भी मायके से साथ आए मटमैले टिन के ट्रंक में बंद कर दिया था । बस बच्चों की परवरिश में लगी रही बिना किसी शिकवे-शिकायत के ।

शिवचरण को उसने मुहल्ले के स्कूल में ही डाल दिया था । उसके एक साल बाद बिसन को और फिर किरण को स्कूल भेजने लगी थी । बनिये-बाभनों की नकल पर उसने बेटी का नाम किरणलता रखा था । घर में सभी उसे किरण कहते थे, लेकिन अम्मा हमेशा किरणलता कहकर बुलाती थी ।

जैसे-जैसे बच्चे बड़े हो रहे थे उनके खर्चे भी बढ़ रहे थे। घर तो वैसे ही खींच-तान कर चलता था। ऊपर से उनकी किताबों, कॉपियों का और खर्च बढ़ गया था। शिवचरण हर दूसरे-तीसरे दिन कोई-न-कोई फरमाइश ले आता था। बिसन अपने चाचा पर गया था। वैसा ही नैन-नक्श, वैसी ही आदतें। दिन भर फिल्मी-गाने और शीशे के सामने खड़े होकर बनना-सँवरना, कभी ढोलक लेकर बैठ जाना, कभी हारमोनियम। अम्मा जब भी उसे गाने गाते या हारमोनियम बजाते देखती तो उसका खून खौल उठता।

"मैं कितनी दफ़े तैन्ने समझा-समझा के हार गई ... तैन्ने नचणिया नहीं बनाना है। अपने चाच्चा की तरियो सड़कों पे बैंड बाज्जे वालों की गैल पें-पे करता घूमेगा। उसकी हालत देक्खी है ... फेफड़ों में जान ना है उसके। साँस धोंकनी की तरियों चले है ... और तू उसकी लैन पे चल रहा है ... पढ़-लिख के आदमी बणजा ... किसी दफ्तर में किलारक (क्लर्क) नहीं तो चपरासी ही लग जाएगा। इस गंदगी से तो छूट जाएगा। जहाँ न दो टेम की रोट्टी ढंग से मिले है, न इज्जत। गले-गले तक कर्जे में डूबे हैं। तेरे बाप कू तनख़्वाह बाद में मिले, सरदार प्रीतम सिंह आके पहले खड़ा हो जावे। घर-बाहर कहीं भी दो घड़ी का चैन ना है। रोज-रोज की किटकिट ... बस यों ही जिंदगानी है कि कोई धीरे भी न बैठावे। जैसे छूत की बीमारी लग जावेगी।"

अम्मा का गला भर्रा आया था। शिवचरण किताबों का बस्ता खोल के बैठ गया था। किरणलता अम्मा के लिए चाय बनाने लगी थी। बिसन ने इधर-उधर देखा। कहीं कोई सहारा न था जो अम्मा के गुस्से से बचा सके। चुपचाप जाकर पढ़ने बैठ गया।

किरणलता को अम्मा ने कभी नहीं डाँटा। हमेशा कहती थी, "पराये घर जाएगी। पता नहीं कितने दिन का साथ है। इसे क्या डाँटना। दो अच्छर सीख लेगी तो कम-से-कम अपने सुख-दुःख की खबर तो दे दिया करेगी। चिट्ठी के दो हरुफ लिखवाणे के लिए भी दूसरों का मुँह ताकना पड़े है और बेट्टी तो वैसे भी लछमी होवे।"

अम्मा ने बच्चों को हमेशा झाड़ू के काम से दूर रखा। यहाँ तक कि हारी-बीमारी में भी बच्चों को ठिकानों में नहीं भेजा। यह अम्मा की जिद्द थी। सास-ससुर या जात-बिरादरी के लोग टोकते तो कह देती, "ना ... मैं ... अपने जातकों (बच्चों) को इस गंदगी में ना धकेलूँगी। मिहनत-मजूरी करा लूँगी, पर उनके हाथ में झाड़ू ना दूँगी।"

शिवचरण दसवीं पास करते ही नगरपालिका में क्लर्क की जगह एक एवजी में काम करने लगा था। यह काम उसे एक ठेकेदार के जरिए से मिला था। जो भी वेतन मिलता था उसमें से बीस प्रतिशत ठेकेदार को देने पड़ते थे। ठेकेदार को देने के बाद जो भी बचता था, वह अम्मा के हाथ में थमा देता था। अम्मा को विश्वास होने लगा था कि दिन पलटेंगे।

नगरपालिका में शिवचरण ने अपनी एक खास जगह बना ली थी। थोड़ी बहुत नेतागिरी भी वह करने लगा था। उन दिनों शहर में एक मजदूर नेता का बड़ा रौब-दाब था। शिवचरण उसी के पीछे लग गया था। जब भी उसकी मीटिंग होती या जुलूस होता, शिवचरण उसमें बढ़-चढ़कर सक्रिय हो जाता था। झण्डे लगाना, पर्चे बाँटना, नारे लगाना, ये सारे काम शिवचरण करता था। थोड़ा-बहुत भाषण देना भी उसने सीख लिया था। जिसका फायदा

शिवचरण को यह हुआ कि नगरपालिका के तन्त्र में उसकी घुसपैठ होने लगी थी। कई अफसरों, बाबुओं से सम्पर्क बनाने में उसे सफलता मिल गई थी जिसके फलस्वरूप जो काम ठेकेदार कराता था, वे अब शिवचरण कराने लगा था जिससे उसकी आमदनी बढ़ गई थी।

आदमी जब आदमखोर हो जाता है तो फिर अपना-पराया नहीं देखता बस उसे खून चाहिए। शिवचरण के साथ भी ऐसा ही हुआ था, सगे-सम्बन्धी हो या जात-बिरादरी के अन्य लोग सभी से काम कराने के बहाने कमीशन लेने लगा था, अपने-पराये का कोई भेद उसमें नहीं था। लोग कहते थे कि उसकी आँख में सुअर का बाल है।

उसकी बढ़ती आमदनी देखकर भी अम्मा समझ नहीं पाई थी। सुकड़ू नगरपालिका में ही काम करता था फिर भी उसने शिवचरण के बारे में कभी अम्मा से चर्चा नहीं की थी। एक दिन हरदेई की बहू चोपड़ा के ठिकाने का काम निबटाकर जैसे ही गली में आयी। सामने से अम्मा को आते देखकर ठिठक गई। बहुत आदर भाव दिखाते हुए बोली, "अम्माजी, तुम अभी भी काम करो हो। इब तम्हें क्या कमी है। जेठजी तो भतेरा (बहुत) कमावे हैं। रामकिशन को नौकरी दिलवाने के तीन हजार लिए थे। सभी जाणे हैं।"

"बहू, तू किसकी बात करे है ... शिवचरण की ? उन्ने तीन हजार लिए ... तैन्ने कहाँ से सुण लिया ?" अम्मा ने अचरज से कहा।

"अम्माजी, अनजान ना बणो। जिब घर में गड्डी की गड्डी लोट (नोट) आवे हैं तो पड़ोसियों को भी पता हो जावे ... फेर तम तो माँ हो ... घर की मालकिन। हमने तो सुणा है जेठजी सारे पैसे थारे ही हाथ में लाके धरे। इब तो वही कहावत हो गई दुनिया को लूट्टो भी और भले भी बणे रहो।" हरदेई की बहू चिनगारी लगाकर आगे बढ़ गई।

अम्मा का चेहरा फक्क पड़ गया था। उस वक्त वह कुछ बोल नहीं पाई थी।

शाम को शिवचरण के आते ही अम्मा ने साफ-साफ कह दिया, "शिबु, आजकल तू जो करे है ठीक ना है ... जो मैंने पता होता कि तू इस तरियो पैसा कमावे है तो मैं तेरे पैसे कू हाथ भी ना लगाती। तैन्ने पढ़ा-लिखा दिया ! तेरी साद्दी (शादी) कर दी ... मेरे काम खत्म ... अच्छा इनसान न बाण सकी यो मेरा कसूर। कल से तू अपना चौका-चूल्हा अलग कर ले ... मन्नै ना खाणी इस कमाई की रोटी। अलग रहके चाहे किसी ने लूट या मार ... मेरे से कोई मतलब नहीं।"

शिवचरण मुँह बाए अम्मा की बात सुन रहा था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि अम्मा कह क्या रही है। अचानक अम्मा को हुआ क्या है ? उसने पूछा ही लिया, "अम्मा बात क्या है ? मैं कोई चोरी करके पैसा लाता हूँ। वह ठेकेदार इतने सालों से यही काम कर रहा था। कितनी बड़ी कोठी उसने बना ली है। ... मैं करने

लगा तो इसमें बुराई क्या है ? मैं मेहनत करता हूँ तो लोग ख़ुशी से देते हैं। मैं किसी को नाजायज दबाकर तो कुछ नहीं लेता।"

"बुराई की बात करे है शिबु ... बुराई तो किसी का गला काटने में भी ना है। बुराई तो डाका डालने में भी ना है। सूद पे रुपया चलाने में भी ना है। पर बेट्टे ... करेक (जरा) उनकी भी तो सोच ... जो अपने जातकों के मुँह का कौर छीन के अपनी मिहनत की कमाई तेरे हाथ पे धर देवे हैं। ना बेट्टे ... ना ... कभी सोच्चा है उनकी दुरदशा पे ... कैसे जीव हैं वे लोग ?" अम्मा का गला भर आया था।

"अम्मा ! दुर्दशा तो ये लोग अपने आप करे हैं। दो पैसे घर ले जाने के बजाय दारू पीते हैं। सट्टा खेलते हैं।" शिवचरण ने तर्क दिया।

"ठीक कहता है बेट्टे ... जो तैन्ने स्कूल ना भेज्जा होत्ता तो तू भी उनकी तरियो होता। रही दारू की बात ... दारू तो तू बी पीवे। आज तैन्ने मुफत की मिले तो पीवे। कल जिब ना मिलेगी तो खरीद के पीवेगा। जिब लत पड़ जा ना फेर ना दिक्खे कि बच्चे भूक्खे बैठे हैं या बीमार पड़े हैं ... तेरी समझ में जो आवे ... तू कर, मैन्ने जो कहणा था कह दिया। कल से अपणा खा-कमा। अलग रह ... मैन्ने ना चाहिए तेरी यो कमाई।" कहते हुए अम्मा उठकर घर के काम में लग गई। उसे लगातार यह दर्द साल रहा था कि उसकी कोख से एक आदमखोर ने जन्म ले लिया है, जो अपनों को ही खा रहा है।

आज जहाँ अम्मा खड़ी है, वहाँ से जब मुड़कर देखती है तो पीछे सब धुँधला-धुँधला दिखाई पड़ता है। न जाने कितने उतार-चढ़ाव देख चुकी है अम्माँ।

बिसन के लड़के मुकेश ने उसके सीने में जो फफोला दिया है वह शायद सबसे गहरा है। जिसने अम्मा को सदमा पहुँचाया है।

मुकेश ने एम०ए० कर लिया था। लेकिन नौकरी का कहीं दूर-दूर तक अता-पता नहीं था। काफी भाग-दौड़ जोड़-तोड़ के बाद भी नौकरी नहीं मिली थी। मुकेश को लेकर घर में तनाव रहने लगा था। जिसके कारण वह कई-कई दिन घर ही नहीं आता था। बिसन को परेशानी बढ़ने लगी थी। खोजबीन करने पर पता चला, वह एक स्कूल टीचर के घर पड़ा रहता है।

स्कूल टीचर अपने दो छोटे-छोटे बच्चों के साथ पति से अलग रहती थी। देखने में आकर्षक और जवान थी। मुकेश से कहीं मुलाकात हुई थी। वही मुलाकात घनिष्ठता में बदल गई थी। एक ऐसा रिश्ता दोनों के बीच बन गया था जिसे वे कोई नाम नहीं दे पाए थे। रोज-रोज के तनाव से भागकर वह टीचर के पास पहुँच जाता था। सुकून ढूँढ़ने। शुरू-शुरू में मुकेश के आकर्षक व्यक्तित्व ने टीचर को खींचा था। अकेलेपन से ऊबकर वह मुकेश के बाहुपाश में सिमट गई थी। कुछ ही मुलाकातों के बाद यह आकर्षण ज़रूरत में बदल गया था। दो-दो बच्चों को

दिन-भर बच्चों को सँभालने के लिए कोई तो घर में होना ही चाहिए। टीचर सुबह आठ बजे स्कूल चली जाती थी और मुकेश दिन-भर बच्चों को सँभालता था।

रात में वह दस-साढ़े दस से पहले अपने घर नहीं लौटता था। एक दिन जब वह रात में देर से लौटा तो बिशन ने मुकेश को डाँटकर पूछा, "आजकल, इतनी देर कहाँ रहते हो ? सुबह मुँह-अँधेरे घर से निकलते हो, रात में लौटते हो ?"

मुकेश ने टालने का प्रयास किया। लेकिन जब बिसन ने सख़्ती दिखाई तो मुकेश के तमाम बहाने लड़खड़ाने लगे। बिसन को उसके और टीचर के बीच चल रहे रिश्तों की भनक पहले ही लग चुकी थी।

बिसन ने गुर्राकर तीखी आवाज़ में कहा, "ये स्कूल टीचर का क्या चक्कर है ?"

स्कूल टीचर का नाम सुनते ही मुकेश सकपका गया। बिसन की आवाज़ सुनकर अम्मा भी आ गई थी। मुकेश सिर नीचे किए चुपचाप खड़ा था। बिसन के किसी सवाल का उत्तर उसने नहीं दिया था। बिसन का पारा चढ़ गया। गुस्से में चीख़कर बोला, "कुछ लाज-शर्म हो तो इसी वक्त निकल जा यहाँ से।" तड़तड़ करके दो-तीन थप्पड़ मुकेश को जड़ दिए। अम्मा बीच-बचाव करके मुकेश को अलग ले गई। बिसन अभी भी चिल्ला रहा था। अम्मा ने मुकेश को अपने पास बैठाकर पूछताछ की। अम्मा के सामने उसने सब कुछ उगल दिया।

अम्मा को लगा, सामने उसका पोता नहीं मिसेज चोपड़ा के बेडरूम में विनोद बैठा है। उसकी आँखों में अजीब-सी वितृष्णा भर गई। वह कुछ नहीं बोली। गहरी साँस ली और लेट गई।

मुकेश कब उठकर गया, पता ही नहीं चला। सुबह शिवचरण की बहू ने आकर कहा, "अम्माजी, मुकेश का ब्याह कर दो। सुबह का भूला घर लौट आवेगा।"

अम्मा ने लम्बी साँस लेते हुए कहा, "ना बहू ... किसी निरदोस बच्ची कू इस साँड के गले में ना बाँधूँगी। जिब आदमी कू बासी गोश्त का चस्का लग जावे है तो ताजे गोश्त कू हाथ भी न लगावे ... मैं जीते जी किसी गरीब की बेट्टी को जानबूझ के गड्ढे में ना धकेलूँगी ..." अम्मा ने लम्बे-लम्बे साँस लिए। जैसे पीड़ा से उबरने का प्रयास कर रही हो।

सुबह की रोशनी छत पर उतर आई थी। अम्मा ने झाड़ू और कनस्तर उठाया, और ठिकानों की तरफ चल दी।

उस रोज वह शाम तक घर नहीं लौटी। दिन-भर बाहर ही रही। मुकेश के चले जाने से उसे गहरा सदमा लगा था।

शाम को जब लौटी तो शरीर थककर चूर हो चुका था। साँस उखड़ी हुई थी। उसकी हालत देखकर सभी घबरा गए। बिसन ने उसे चारपाई पर लिटाते हुए पूछा, "अम्मा, सुबह से कहाँ थी ? सब जगह ढूँढ़ लिया। यहाँ सब परेशान थे।"अम्मा ने कोई उत्तर नहीं दिया।

उसे चुप देखकर बिसन ने कहा, "अम्मा, ये ठिकानों का काम छोड़ो। अब आप के शरीर में ताकत कहाँ है ? और वैसे भी अब आपको इतनी तकलीफ उठाने की ज़रूरत क्या है ? घर तो चल ही रहा है। अच्छा नहीं लगता अम्मा ... आप गंदगी ढोने जाती हैं ... लोग देखते हैं तो शर्म आती है ... !"

"बेट्टे बिसन ... तैन्ने और तेरे जातकों (बच्चे) ने सरम आवे ... इसलिए तो पढ़ाया-लिखाया। थारे सबके हाथ से झाड़ू-टोकरा छुड़ाया ... मेरे बाद इस घर की कोई बहू-बेट्टी ठिकानों में नहीं गई ... सिरफ इसलिए कि तुम सब लोग इज्जत से जीना सिक्खो। ऐसा कोई काम ना करो जिससे सिर नीच्चा हो ... कहीं कमी रह गई है बेट्टे, जो तेरा मुकेश जूठन पर मुँह मारने गया, वह भी नौकर की तरह, उसके बच्चों को सँभालने, इज्जत से उसे ब्याह के घर ले आता ... भले ही दो जातकों की माँ है। मेरा दिल ख़ुश हो जाता। अपनी बहू बणा के रखती ... पर यो तो ठीक ना है, अच्छा नी करा उन्ने ... " अम्मा का गला भर्रा गया। वह रोने लगी।

जब आँसू रुके तो फिर बोली, "तेरे बापू रिटायर हुए तो जो पैसे मिले थे उनसे सरदार का कर्जा उतार दिया। इब तो जिंदगानी थारे ही भरोसे है ... जिब किरणलता अपने जातकों कू लेके आवे हैं तो उसके खाली हाथ पे कुछ रखने के लिए तो मेरे पास कुछ होणा चाहिए। कब तक तेरे से माँगूगी ... ना बेट्टे ... उस सुख की ख़ातिर मुझे काम करना पड़ा रहा है तो आखरी साँस तक करूँगी।"

अम्मा की आँखों में गहरे पानी की झील उग आई थी, जिसमें छोटी-छोटी लहरें उठ रही थीं। जैसे तमाम ज़ख्म फिर से हरे हो गए हों।

अम्मा का टूटा-फूटा कनस्तर और झाड़ू दीवार के सहारे टिका मुँह चिढ़ा रहा था।

❖❖❖

मैना

– रोज केरकेट्टा

कबुराडीह का ढोम्बे जब संख-पार बइलसेरा गाँव लाँघ रहा था, तब रूपु भी उनके साथ जाने को तैयार हो गया। उसने ढोम्बे से कहा – 'मैं भी बइलसेरा जाऊँगा। वहाँ भी तो तुम्हें चरवाहे की ज़रूरत पड़ेगी भतीजा। तो मैं ही क्यों न सँभाल लूँ?' रूपु की बात सुनकर ढोम्बे को हँसी आ गई। असल में रूपु ने तर्क ही ऐसा दिया था कि किसी को भी हँसी आ जाती। रूपु ने गाँव की नातेदारी के आधार पर अपने बइलसेरा जाने के दावे को मजबूत करने की कोशिश की थी। अन्यथा कहाँ बाल-बच्चेदार अधेड़ आदमी ढोम्बे का भतीजा होना और सत्रह-अठारह वर्ष के युवक रूपु का चाचा होना।गाँवों में ऐसी रिश्तेदारी खूब निभायी जाती है। यह 'बड़ा-बड़ी' की नातेदारी गाँव में मर्यादा बनाए रखती है।

ढोम्बे ने कहा – 'मैं तुम्हें ले जाता हो काका। लेकिन तुम्हारी माँ से बात नहीं हो सकी है। बिना बात किए कैसे तुम्हें ले जा सकता हूँ?'

रूपु – 'ठीक है। अभी तो माघ पूरने में दो महीना बाकी है। मुझे यहीं धंगराई नापोगे तो ढाने में सहज होगा। वैसे मुझे चरवाही का काम अच्छा लगता है। पर चलो ठीक है। यहीं का घर पहरा करूँगा।'

ढोम्बे – 'कबुराडीह में ही रहो। यहीं का धान समेटो। काटने-मीसने का काम तो है ही। मैं वहाँ जटंगी-कुरथी भी समेटूँगा और घर भी पूरा करूँगा।'

सुनकर रूपु का मन उदास हो गया। वह सोचने लगा, शायद अब वे उसे धांगर न रखें। सीधे-सीधे न बोलकर वे उसे हताश नहीं करना चाहते। ऐसे भी इस घर में उसे तीन वर्ष हो गए। गमछा और करेया से शुरू कर अब वह बरकी पर आ गया है। धंगराई भी दो काठ से छह काठ पर आ गया है। शायद इन्हें भारी लग रहा हो। मन-ही-मन दो-तीन काठ वाला धांगर भी ढूँढ़ लिया हो। तीन वर्षों के बाद तो लोग अक्सर धांगर बदल ही देते हैं। तेरह वर्ष की उम्र में आया था। अब सत्रहवें में पैर रखेगा।

ढोम्बे ने रूपु को कबुराडीह में छोड़ने का मन बना लिया था। सो रूपु वहीं रह गया। दिन में अन्य लोगों के साथ खेतों में धान काटता, ढोता। रात में खाना खाकर खलिहान में पहरा देता। खिलन्दड़ा तो था ही सबको हँसाता-हँसता रहता। उसने नियम बना लिया था कि खलिहान को ले जाने वाला अन्तिम खेप का भार उस समय ले जाएगा, जब सारे चरवाहे गाय-बैलों को लेकर छाहुर पार करते रहेंगे। उसे अपनी करिया गाय, चरकी गाय, गोला बाछा, टिकला और डेम्बू की बड़ी याद आती थी। और, वे चरवाहे तो उसके अभिन्न मित्र थे कल तक।

कुछ दिन पहले तक वह भी चरवाहा था। सबसे साथ जानवरों को ले जाता जंगल और चरने के लिए छोड़ देता। फिर सारे लोग खेलने में मशगूल हो जाते थे। धंगराई के लिए जब पहली बार आया था, तो सभी

दोस्तों के साथ-साथ उसने भी मैना पाला था। आषाढ़ के महीने में रूपु, फिलिप, फिलमोन, लेबुइ, रामचन्दर, कातिक सबने मैना पाला था। उन्होंने केन्दु पत्ती से अपनी-अपनी मैना के लिए पिंजड़ा बनाया था। उसमें धान का भूसा और कोड़हा मिलाकर भरा था। इससे पक्षी को आरामदायक गर्मी मिलती। सुबह-दोपहर सारे चारवाहे एक साथ निकलते थे। मैदान में छाता, अंगोछा रख देते। सोंटी लेकर फतिंगों का शिकार करते और अपनी-अपनी मैना को खिलाते थे। भरपेट भोजन मिलने के कारण मैनाएँ दो माह में युवा हो जाती थीं। चरवाहों के साथ रहने के कारण मैनाएँ 'घूर रे घूर, हियो-हियो-हियो, हिंर्रे रे हिंर्रे' आदि स्वत: सीख जाती हैं। हटहटा कर हँसना और सीटी बजाना मैनाओं का शौक होता है। जब मैनाएँ वे सारी बातें सीख जाती हैं तब चरवाहे उन्हें 'देखना रे, घुराना रे' कहकर आप खेलने का समय बना लेते हैं। रूपु लोग भी ऐसा ही करते थे। ख़तरा होने पर मैनाएँ अलग ध्वनि निकाल कर मवेशियों की सतर्क करतीं। चरवाहे ख़तरा भाँप कर स्वयं मवेशियों की देखभाल में लग जाते। रूपु और फिलमोन ने अपनी-अपनी मैनाओं को गीत सिखाया था। इस गीत को वे उल्लास के, उदासी के, ख़तरे के समय में अलग-अलग सुर में गाती थीं।

रूपु की मैना गाती –

'टपु टापु टपु टड़ब टड़ब टपु टापु टपु टड़ब टड़ब
गाड़ा गितिल मैना लोलो गिया।'[1]

फिलमोन की मैना गाती –

'ददा रे दा जोई दादा रे दादा जोई,
पोंयरी ओबबयकायेम',
'हंसली ओबबयकायेम',
'चंदोवा ओबबयकायेम',
ददा जोई इञअथोडग्गा।[2]

जब-जब रूपु की मैना गीत गाती, फिलमोन की मैना भी गा उठती थी। रूप की मैना का गीत छोटा था। इसलिए जल्दी समाप्त होने पर फिलमोन की मैना से कहती – 'चुप रह, चुप रह।' जब फिलमोन की मैना गा चुकती तब वह भी 'चुप रह, चुप रह' कहती। फिर दोनों ठठाकर हँस पड़तीं। रूपु और फिलमोन में जितनी गहरी दोस्ती थी, उतनी ही गहरी दोस्ती उनकी मैनाओं में भी थी।

रूपु और फिलमोन दोनों मइटखुपा के थे। दोनों ही कबुराडीह के धांगर। एक वर्ष दोनों ने कबुराडीह में बिताया। दूसरे वर्ष रूपु ढोम्बे के यहाँ कबुराडीह में ही रह गया। फिलमोन मइटखुपा में जगत बड़ाईक मास्टर के यहाँ रह गया। जगत मास्टर सालभर में उसे तीन हजार रुपया नकद देते। मइटखुपा और कबुराडीह के बीच में सलंगापूंछ पड़ता है। यहाँ लोगों ने पिछले तीन वर्षों से छोटा-सा हाट लगाना शुरू किया है। पहले यह हाट पाँच किलोमीटर दक्षिण कोरोंजो में लगता था। कोरोंजो मिशन स्टेशन था। मिशनरी थे तो इसकी चमक थी। मिशनरी

चले गए तो कारोंजो हाट, स्कूल सबकी चमक जाती रही। वहाँ तक पहुँचने में झरिया लाँघना पड़ता था, जिससे बड़ी तकलीफ होती थी। छोटे व्यापारियों और मनिहरी दूकानदारों ने सलंगा पूंछ में हाट लगाने की सलाह दी। अब यह हाट जमने लगा है। अगहन के बाद दूर जंगल के लोग मिट्टी के मोल अनाज बेच देते। गर्मी भर लाह, कुसुम, डोरी, चिरौंजी, महुआ, हर्रा, बेहरा का बाजार गरम रहता। हाट का दिन दूर-दराज के गाँवों के लिए पर्व से कम नहीं होता। रूपु और फिलमोन प्रति मंगलवार हाट के दिन सलंगापूंछ आकर मिला करते थे।

तीसरा वर्ष आया। इस वर्ष फसल बहुत अच्छी आई। पता चल गया कि कुवार से लेकर माघ तक हाटों में पैकारों और मनिहारों की गहमा-गहमी रहेगी। हाट के दिन आठ बजते-बजते पैकार दरी, बोरा आदि बिछाकर आसन जमा लेते हैं। सेर-बटखरा, ढारा से वे अनाज, लाह आदि खरीदते। मुर्गियाँ, बकरी आदि भी खरीदते। मनिहारी दुकान वाले रंग-बिरंगी, टिन, प्लास्टिक के सामान, खिलौने और रंग-बिरंगे फीते, क्लिप, डिजाइनदार खोंन्सो, कंघी फैला देते कि बच्चों और युवतियों का मन खिंच जाता। लाह, जटंगी और कुरथी भी खूब हुआ था। बच्चों के हाथों तक में लाह का पैसा था। सारे किसान फसल बेचकर धूस, कम्बल, चादर, पिंघना, बरकी, पेछौरी और पहनने का कपड़ा खरीद रहे थे। पूस में ईसाइयों का 'जनम परब' सामने था। परब के लिए नए कपड़े खरीद रहे थे। ईसाइयों में कपड़े की होड़ लगी थी। हर कोई कोशिश कर रहा था कि वह सबसे सुन्दर, आधुनिक और अलग कपड़े पहने। सो हाट में वस्त्र विक्रेताओं, रेडीमेड कपड़ों की दूकानों और दर्जियों की बन आई थी। जाड़े के मौसम में भी आमदनी की गरमी से उनके माथों पर पसीने चुहचुहा रहे थे। हाट में शंख नदी पार वाले आते थे। वे दोपहर तक लौट जाते थे। इसलिए सबसे लाभदायक खरीददारी दोपहर से पहले हो जाती थी। हाट के बाहर टट्टुओं की संख्या सौदागरों की संख्या बताती थी। पिछले वर्ष से वे ट्रक लेकर आने लगे थे। इस वर्ष की फसल ने ट्रकों की संख्या बढ़ा दी थी। कुछ लोग ट्रकों में सामान लादने के लिए 'मोटिया' बन गए थे। ये ट्रक वाले खरीदने-बेचने के बीच हाट में घूमते, चाय गुमटियों में अड्डा मारे रहते। हाट के किनारे लगे पेड़ों के नीचे बैठकर ताश खेलते हुए बीड़ी फूँकते रहते। न लोग इन पर ध्यान देते, न बातें करते। शाम को समेट कर ट्रक मालिक आवाज़ देता तभी ये जगह छोड़कर जाते।

आदिवासियों का त्योहार हाटों में अलग रंग बिखेरता है। कुँवारी लड़कियाँ एक-दो मिलकर हाट आतीं और अपने लिए मनपसंद कपड़े खरीदती हैं। इसलिए त्योहारों से पहले लगने वाले हाटों में इन लड़कियों की संख्या अत्यधिक होती है। कपड़ों की दूकानों, मनिहारी दूकानों, चूड़ी दूकानों में मोल-भाव करती दर्जनों लड़कियाँ मिल जाएँगी। इन लड़कियों को कभी क्रोध नहीं आता। हँसी-मजाक के बीच सौदा लेना-देना होता है। दो-चार या झुण्ड में आकर ये लड़कियाँ मनपसंद चीजें लेकर लौट जाती हैं। माता-पिता या बुजुर्ग कभी हस्तक्षेप नहीं करते।

उस दिन भी भवनाडीपा की चार लड़कियाँ पर्व के कपड़े खरीदने आई थीं। उनके पास लाह बेचने के कारण काफी पैसे थे। इसलिए कपड़े चुनने में उन्हें थोड़ा ज़्यादा समय लग गया। लेकिन तब भी सूरज ढलने से पहले वे हाट से बाहर निकल गईं। मनपसंद कपड़े खरीदे थे। इसलिए वे बड़े जोश में बातें करती, हँसती-खिलखिलाती गाँव को जानेवाली पगडंडी पर आ गईं। पगडंडी पर आते ही उनके कदम तेज हो गए। सूरज डूबने

तक उन्हें गाँव की सीमा में दाखिल हो जाना था । भवनाडीपा तीन ओर पहाड़ियों से घिरा है । जंगल घना है । गड़राभेड़ी, सियार, खरगोश तो हैं ही । चीता, रामसियार और भालू भी हैं । आजकल भालुओं का जोड़ा आया हुआ है । उनके साथ उनके दो बच्चे भी हैं । बच्चे वाली मादा भालू बड़ी खूँखार होती है । यह झुण्ड शाम होने से पहले ही जंगल से निकल आता है । इनके भय से लोग झुण्ड में रहने की कोशिश करते और शाम होते-होते अपने-अपने घर पहुँच जाते हैं । इन लड़कियों को भी इन्हीं भालुओं का डर था । सो वे जल्दी-जल्दी डग भरने लगी थीं ।

हाट से निकलकर पगडंडी में आईं । वे ताश खेलने वाले चार लोगों के बगल से गुजरीं । उनका चेहरा मनपसंद कपड़े पाने के कारण उल्लसित था । वे हँसती, अपने में मगन जा रही थीं । झरिया के निकट पहुँची और लाँघने की तैयारी करने लगीं । छोटे-छोटे चरवाहे पास ही थे । झरियाडीपा मइटखुपा के लड़के गेंद खेल रहे थे । खेल देखने के बहाने रूपु और फिलमोन पगडंडी की ओर पीठ फेर कर बैठे थे । तभी ताश खेलने वालों में से एक उठा । उसने अँगड़ाई ली और जोर से आवाज़ निकाली । लड़कियों ने पलटकर देखा । लेकिन उनके मन में किसी तरह की शंका नहीं उठी ।

लड़कियों ने झरिया लाँघ कर पीछे मुड़कर देखा । वह आदमी तेज़ कदमों से पगडंडी पर उन्हीं की ओर आ रहा है । उसके पीछे उसके दोनों दोस्त आ रहे हैं । लेकिन चौथा उसी जगह बैठा सामान समेट रहा है । तेज कदमों से आदमी को आते देख लड़कियाँ दौड़ने लगीं । उन्हें दौड़ते देख आदमी भी दौड़ने लगा । घबराहट में लड़कियों ने अपने सामान फेंक दिए । दो लड़कियाँ गेंद खेलनेवालों की तरफ दौड़ीं । एक पगडंडी में गाँव की तरफ दौड़ी । एक जंगल की तरफ दौड़ी । गेंद खेलने वाले युवक लड़कियों को भागते और इन पुरुषों को पीछा करते देख चिल्लाते चले – 'वो देखो, सियार मुर्गी को दौड़ा रहा है ।' फिर तो सारे लड़के खेल रोक कर चिल्लाने लगे – 'वह देखो, देखो, देखो सियार मुर्गी को दौड़ा रहा है ।' लेकिन वे वहीं तक सीमित रहे । मैदान से बाहर कोई नहीं आया ।

जो लड़की जंगल की ओर भागी थी, वह अकेली पड़ गई । तीनों दौड़ाने वाले लोग उसके पीछे भागे और दबोच लिया । उसे जंगल में घसीट कर ले गए । एक पेड़ के नीचे दो लोगों ने उस लड़की को गिरा दिया । एक ने सिर की तरफ दोनों बाँहों को दबाया । दूसरे ने दोनों पैरों को दबाया । लड़की रोती-चीखती, लड़ती रही । पर अन्त में लाचार हो गई । तीसरा आदमी जल्दी-जल्दी अपने पाजामे की रस्सी खोलने लगा । इधर रूपु और फिलमोन की मैना उड़कर जंगल में आ गईं । उन्होंने अपनी धुन में गाया –

टपु-टापु, टापु टड़ब-टड़ब
गड़ा गितिल मैना लोलो गिया ।

फिलमोन की मैना गा उठी –

ददा रे, ददा जोई
पोंयरी ओबबयकम, हंसली ओबबयकम
चंदोवा ओबबयकम, ददा रे ददा जोई ।

फिर दोनों मैना ठठाकर हँसी। बोलने लगी –

'घुर रे घुर, हिंर्रे रे गोला हिंर्रे।'

नाड़ा खोलने वाला आदमी ठिठक गया। अन्य दोनों व्यक्ति भी उठ खड़े हुए। उन्हें लगा आस-पास चरवाहों का झुण्ड है। वे घर की ओर लौट रहे हैं। अत: वहाँ से वे खिसकने लगे। इधर रूपु और फिलमोन ने अपनी-अपनी मैना के गीत सुने। सुर को पहचाना। वे दोनों पतरा की ओर जी-जान से दौड़ने लगे। वे झाड़ियों को, पत्थरों को रौंदते, ठोकर मारते दौड़ रहे थे। धम्म-धम्म की आवाज़ आ रही थी। तीनों आदमी आवाज़ सुनकर पगडंडी की ओर दौड़ने लगे। इधर से रूपु और फिलमोन दौड़ रह थे, उधर से वे तीनों। पतरा में ही चार लोगों की जोरदार टक्कर हुई। चारों आदमी छितिछान गिरे। उनके घुटने, कुहनियाँ, माथे और उँगलियाँ फूट गईं। वे उठकर हाय-हाय करने लगे। लेकिन पाँचवा आदमी जो असली साजिशकर्त्ता था, वह बच निकला।

गाँव में बात हवा की तरह फैल गई। इन चारों लड़कियों को लोग देखते। कुछ मुँह बिचकाते। कुछ गुस्सा झाड़ते। कुछ व्यंग्य करते। कुछ मजाक उड़ाते। युवक चिढ़ाते – 'मुर्गी को चील पकड़कर ले जा रहा था, बच गई।' कोई कहता – 'क्या ज़रूरत है सिंगार-पतार की। इसी से तो नज़र गड़ती है लोगों की।' बुजुर्ग कहते – 'बच गई। नहीं तो हमारी जात चली जाती। हम मुँह दिखाने के लायक नहीं रहते।' बात जितनी फैलती गई, जलते मिर्च की गन्ध साथ फैलाती गई। आखिर एक सप्ताह बाद पंचायत बैठायी गई। सरपंच ने फैसला सुनाया – 'पहले ऐसा नहीं होता था। लड़कियाँ माँ-बाप जो देते थे, वही पहनती थीं। लड़कियों को नरहोड़ तक साड़ी पहनना चाहिए। आजकल जैसा पइरलक लाल-पियर पहनने से क्या होता है, देख रही हैं न ? आज के बाद माँ-बाप को समझ जाना चाहिए कि बनाव-सिंगार और लहर-फहर से बेटियों को कितना ख़तरा है ? बनाव-सिंगार के कारण ही दूसरों की नज़र इन पर पड़ती है। अच्छा हुआ कि चार जन मिलकर गई थीं। आगे से अकेली-दुकेली लड़की हाट नहीं जाएगी। घर के लोगों के साथ ही हाट या कहीं जाएगी।' सभा से लौटकर सबने अपने-अपने घर में फरमान सुना दिया।

रूपु और फिलमोन हाय-हुस करते अपने-अपने घर गए। सरसों तेल और हल्दी का लेप लगाकर पट्टी बाँधी। पाँच दिन बाद फिर वे काम पर जुट गए। कटनी-मिसनी समाप्त हो गई। तब दोनों ने मइटखुपा, सलंगापूंछ और कबुराडीह के लड़कों को संगठित किया। जब युवक जमा हो गए तो इन दोनों ने उन्हें बताया कि 'हम हमारे ही घर-आँगन में अपनी मर्जी से घूम सकें, अपनी मर्जी से बोल सकें, जी सकें, खा-पहन सकें, गा सकें, नाच सकें यह हमारा अधिकार है। इसलिए हमको संगठित होकर रहना है। हमारी मैनाएँ गीत नहीं गातीं तो हम भवनाडीपा की लड़की को बचा नहीं पाते। तब लूसी का क्या होता ?'

फिलमोन बोला – 'डर से हम अपने घरों में क्यों बंद रहें ? हम भी भात खाते हैं। गुंडे-बदमाश भी भात खाते हैं। तब वे क्यों अकड़कर रहेंगे और हम उनसे डरते रहेंगे ? उस दिन हम गिर गए, नहीं तो गुंडों को बता देते।

इन सबसे बचने के लिए लड़का-लड़की सबको एक दूसरे का हाथ देना चाहिए। तभी हम अपनी आजादी की रक्षा कर सकेंगे'।

युवाओं ने इनकी बातें सुनीं। एक वर्ष बाद सबने मिलकर सांस्कृतिक संगठन बनाया। इस संगठन में अपने मृतप्राय नाच-गान को पुनर्जीवित किया। संगठन में अनेक दुनियादारी बातें होने लगीं। बुजुर्ग भी इस संगठन में शामिल होने लगे। सलंगापूंछ गतिविधियों का केन्द्र बना। रूपु के रूझान को ढोम्बे ने देखा, पहचाना। उसने उसे कबुराडीह के खेतों की देखभाल का जिम्मा दिया, ताकि उसका यह सामाजिक कार्य भी जारी रहे।

....

1. नदी की रेत मैना तप रही है।
2. दादा रे दादा, पायल बनवा देना, हंसली बनवा देना, चंदना बनवा देना मेरे लिए।

❖❖❖

मुर्दहिया

– तुलसीराम

'मुर्दहिया' हमारे गाँव धरमपुर (आजमगढ़) की बहुद्देशीय कर्मस्थली थी। चरवाही से लेकर हरवाही तक के सारे रास्ते वहीं से गुजरते थे। इतना ही नहीं, स्कूल हो या दुकान, बाजार हो या मन्दिर, यहाँ तक कि मजदूरी के लिए कलकत्ता वाली रेलगाड़ी पकड़ना हो, तो भी मुर्दहिया से ही गुजरना पड़ता था। हमारे गाँव की 'जिओ-पॉलिटिक्स' यानी 'भू-राजनीति' में दलितों के लिए मुर्दहिया एक सामरिक केन्द्र जैसी थी। जीवन से लेकर मरन तक की सारी गतिविधियाँ मुर्दहिया समेट लेती थी। सबसे रोचक तथ्य यह है कि मुर्दहिया मानव और पशु में कोई फर्क नहीं करती थी। वह दोनों की मुक्तिदाता थी। विशेष रूप से मरे हुए पशुओं के मांसपिण्ड पर जूझते सैकड़ों गिद्धों के साथ कुत्ते और सियार मुर्दहिया को एक कला-स्थली के रूप में बदल देते थे। रात के समय इन्हीं सियारों की 'हुआं-हुआं' वाली आवाज़ उसकी निर्जनता को भंग कर देती थी। हमारी दलित बस्ती के अनगिनत दलित हजारों दुःख-दर्द अपने अंदर लिए मुर्दहिया में दफन हो गए थे। यदि उनमें से किसी की भी आत्मकथा लिखी जाती तो उसका शीर्षक 'मुर्दहिया' ही होता। मुर्दहिया सही मायनों में हमारी दलित बस्ती की ज़िंदगी थी।

* * *

जमाना चाहे जो भी हो, मेरे जैसा कोई अदना जब भी पैदा होता है, वह अपने इर्द-गिर्द घूमते लोक-जीवन का हिस्सा बन ही जाता है। यही कारण था कि लोकजीवन हमेशा मेरा पीछा करता रहा। परिणामस्वरूप मेरे घर से भागने के बाद जब 'मुर्दहिया' का प्रथम खण्ड समाप्त हो जाता है, तो गाँव के हर किसी के मुख से निकले पहले शब्द से तुकबंदी बनाकर गानेवाले जोगीबाबा, लक्कड़ ध्वनि पर नृत्यकला बिखेरती नटिनिया, गिद्ध-प्रेमी पग्गल बाबा तथा सिंघा बजाता बंकिया डोम आदि जैसे ज़िंदा लोक पात्र हमेशा के लिए गायब होकर मुझे बड़ा दुःख पहुँचाते हैं। सबसे ज़्यादा दुखित करने वाली बात दिल्ली में रह रहे मेरे गाँव के कुछ प्रवासी मजदूरों से मालूम हुई। पचास-साठ साल पहले की जिस 'मुर्दहिया' का वर्णन मैंने किया है, वह पूर्णरूपेण उजड़ चुकी है। सारे जंगल कटकर खेत में बदल चुके हैं, जिसके चलते गिद्धों जैसे अनगिनत दुर्लभ पक्षियों तथा साही, सियारों और खरगोशों जैसे पशुओं का विलोप हो चुका है। बचपन में दुखित होने का मतलब होता था आँखों में आँसू आ जाना। ऐसे अवसरों पर मेरी दादी आँख धो लेने को कहती थी, किन्तु आज का अनुभव बताता है कि चंद पानी के छींटों से दुःख की निशानी नहीं मिट पाती। प्रवासी मजदूरों से ही पता चला कि 'मुर्दहिया' से होकर जानेवाली एक सरकारी सड़क ने हमारे गाँव को तीन जिलों – आजमगढ़, गाजीपुर तथा बनारस से जोड़ दिया है। उस पर टैम्पो भी चलने लगे हैं। जिस तरह हमारे गाँव से बड़ी संख्या में मजदूरों का पलायन बड़े शहरों में हो चुका है, सम्भवतः 'मुर्दहिया' से सड़क निकल जाने के कारण वहाँ के भूत-पिशाचों का भी पलायन अवश्य हो गया होगा। जाहिर है, अब पहले जैसी उनकी पूजा नहीं होती। बढ़ते हुए शहरीकरण ने हर एक के जीवन को प्रभावित किया है। भूत भी इससे अछूते नहीं हैं।

1

भुतही पारिवारिक पृष्ठभूमि

मूर्खता मेरी जन्मजात विरासत थी। मानव जाति का वह पहला व्यक्ति जो जैविक रूप से मेरा खानदानी पूर्वज था, उसके और मेरे बीच न जाने कितने पैदा हुए, किन्तु उनमें से कोई भी पढ़ा-लिखा नहीं था। लगभग तेईस सौ वर्ष पूर्व यूनान देश से भारत आए मिनांदर ने कहा कि आम भारतीयों को लिपि का ज्ञान नहीं है इसलिए वे पढ़-लिख नहीं सकते। उसके समकालीनों ने तो कोई प्रतिक्रिया नहीं दी, किन्तु आधुनिक भारतीय पण्डों ने मिनांदर का खूब खण्डन-मण्डन किया। हकीकत तो यह है कि आज भी करोड़ों भारतीय मिनांदर की कसौटी पर खरा उतरते हैं। सदियों पुरानी इस अशिक्षा का परिणाम यह हुआ कि मूर्खता और मूर्खता के चलते अन्धविश्वासों का बोझ मेरे पूर्वजों के सिर से कभी नहीं उतरा ...।

शुरुआत यदि दादा से ही करूँ तो पिताजी के अनुसार उन्हें एक भूत ने लाठियों से पीट-पीटकर मार डाला था। अपने पाँच भाइयों में पिताजी सबसे छोटे थे। घर में सभी का कहना था कि दादाजी, जिनका नाम जूठन था, गाँव से थोड़ा सा दूर झाड़ियों वाले टीले के पास छोटे से खेत में मटर की फसल को देर रात जानवरों से बचाने के उद्देश्य से गए थे। मटर के खेत में उन्हें फली खाता एक साही नामक जानवर दिखाई दिया, क्योंकि रात उजाली थी। दादाजी ने अपनी लाठी से साही पर हमला बोल दिया। लाठी लगते ही साही रौद्र रूप धारण करते हुए अपने लम्बे-लम्बे कँटीले रोंगटों को फैलाकर अन्तर्धान हो गया। घर वालों के अनुसार वह साही नहीं, बल्कि उस क्षेत्र का भूत था। इस प्रकरण के बाद दादाजी खेत से डरकर तुरन्त घर आ गए। इस भूत का किस्सा सारे गाँव में फैल गया। डरकर हर किसी ने उधर जाना बंद कर दिया। सभी कहने लगे कि भूत बदला अवश्य लेगा।

इसी बीच दादाजी एक दिन खलिहान में रात को सोए हुए थे कि साही संतरित भूत लाठी लेकर आया और उसने दादाजी को पीट-पीटकर मार डाला। दादाजी को मैंने कभी देखा नहीं था, क्योंकि उनकी यह भुतही हत्या मेरे जन्म से अनेक वर्ष पूर्व हो चुकी थी। इस हत्या की गुत्थी मेरे लिए आज भी एक उलझी हुई पहेली बनी हुई है। तर्कसंगत तथ्य तो शायद यही होगा कि दादाजी की गाँव के ही किसी अन्य व्यक्ति से अवश्य ही दुश्मनी रही होगी और उसने साही भूत का मनोवैज्ञानिक बहाना निर्मित कर उन्हें मार डाला हो। सच्चाई चाहे जो भी हो, इस भुतही प्रक्रिया ने मेरे खानदान के हर व्यक्ति को घनघोर अन्धविश्वास के गर्त में धकेल दिया। परिणामस्वरूप घर में भूत बाबा की पूजा शुरू हो गई। घर में ओझाओं को बोलबाला हो गया। किसी को सिरदर्द होते ही ओझैती-सोखैती शुरू हो जाती थी। ऐसे भुतहे वातावरण में किसी शिशु का जन्म आजमगढ़ जिले के धरमपुर नामक गाँव में 1 जुलाई, 1949 को हुआ हो तो उसकी विरासत कैसी होगी ?

जाहिर है, शैशवकाल में ही मैं मूर्खताजन्य अन्धविश्वासों के बोझ तले दब गया। मेरी दादी का नाम मुसड़िया था। वह सौ वर्ष से भी ज़्यादा ज़िंदा रही। उसके चेहरे तथा बाँहों से लटकते हुए चिचुके चमड़े उसकी लम्बी उम्र को प्रमाणित करते थे। गाँव वालों का कहना था कि मेरी दादी ने कौआ का मांस खाया है, इसलिए वह

मरती नहीं है। गाँव में यह किंवदन्ती फैली हुई थी कि कौवे का मांस खाने वाला बहुत दिन तक ज़िंदा रहता है। जो भी हो, दादी कहती थी कि महीने के किसी पक्ष के त्रयोदशी के दिन मेरे पिताजी का जन्म हुआ था, इसलिए उनका नाम तेरसी पड़ा। मेरी माता का नाम धीरजा था। मेरे पिताजी को मछली मारने में महारत हासिल थी। वे किसी भी जलस्रोत से बड़ी आसानी से मछलियाँ मार लाते थे। 'मछरमरवा' के रूप में उन्हें उस क्षेत्र में पौराणिक ख्याति मिली हुई थी। लोग कहीं भी मछली मारने जाते, वे पिताजी से प्रार्थना करते थे कि साथ चलकर वह पानी छू भर दें, बस मछली सबको मिल जाएगी। बाद में मेरी माँ ने मुझे बताया कि जिस चारपाई पर मैं पैदा हुआ, उसके नीचे तुरन्त पिताजी ने गाँव स्थित पोखरी से एक ज़िंदा मछली पकड़कर डाल दिया। यह एक प्रकार का टोटका था, जिसके अनुसार उनका विश्वास था कि मुझे भी बड़ा होने पर 'मछरमरवा' के रूप में पौराणिक ख्याति मिल सकेगी। सम्भवतः मेरे माँ-बाप की सर्वोच्च आकांक्षाओं की पहुँच मुझे एक सिद्धहस्त 'मछरमरवा' के रूप में देखने तक ही सिमटकर रह गई थी। जाहिर है, एक दलित खेत मजदूर और मजदूरनी की आकांक्षा इससे ज़्यादा और क्या हो सकती थी ? माँ ने यह भी बताया कि उसके कई बच्चे पहले पैदा हुए किन्तु थोड़ा बड़ा हो-होकर सबके सब मरते चले गए। इसलिए जब मैं पैदा हुआ, तो पिताजी मुझे अपनी गोद में लेकर गाँव से करीब डेढ़ किलोमीटर दूर एक शिवमन्दिर, जिसे शेरपुर कुटी कहते थे, पहुँचे और मन्दिर के महन्त बाबा हरिहरदास से आशीर्वाद देने के लिए विनती की। बाबा हरिहरदास बड़े उदार पुरुष थे। उन्होंने मुझे जीवित रहने का आशीर्वाद देते हुए मेरा नाम तुलसीराम रखा। बाबा का कहना था कि तुलसीदास रामभक्त थे। अतः यह लड़का भी बड़ा होकर तुलसीराम के रूप में रामभक्त होगा। मुझे जीवित रखने की प्रक्रिया में पिताजी स्वयं एक कट्टर शिवभक्त हो गए। उन्होंने घर के पास एक नया पीपल का पेड़ लगाया और उसकी पूजा शुरू कर दी। शनिवार के दिन वे पीपल पर जल चढ़ाते और शाम को घी का दीया जलाते। वे शिव की प्रार्थना में जो कुछ बोलते, उसे सुनकर ऐसा लगता था कि मानो वे किसी से लगातार रो-रोकर बातें कर रहे हों। पिताजी के अनुसार, जैसे-जैसे पीपल बढ़ता गया, वैसे-वैसे मैं भी। इस बीच उस जर्जर बुढ़िया दादी का लगाव भी मुझसे बढ़ता गया।

जब मैं तीन साल का हुआ, गाँव में चेचक की महामारी आयी। मेरे ऊपर उसका गहरा प्रकोप पड़ा। चेचक से मैं मरणासन्न हो गया। घर में स्थानीय ग्रामीण देवी-देवताओं की पूजा शुरू हो गई। उस समय गाँव में दलितों के अलग देवी-देवता होते थे, जिनकी पूजा सवर्ण नहीं करते थे। हमारे गाँव में भी 'चमरिया माई' और 'डीह बाबा' दो ऐसे ही देवी-देवता थे, जिनकी पूजा दलित करते थे। इन दोनों को सूअर तथा बकरे की बलि दी जाती थी। बलि के अलावा इन्हें 'हलवा-सोहारी' (पूड़ी), 'धार' तथा 'पुजौरा' भी चढ़ाया जाता था। एक लोटा पानी में कुछ जायफल, छुहारा, लौंग आदि मिला दिया जाता, जिसे 'धार' कहते थे। एक मुट्ठी जौ का आटा 'पुजौरा' कहलाता था। चमरिया माई का स्थान उसी मटर वाले भुतहे खेत के पास झाड़ियों वाले टीले पर था। वहाँ कुम्हार के आंवां में पके मिट्टी के कुछ हाथी और घोड़े रखे हुए थे। यही हाथी-घोड़े गाँव के ब्राह्मणों के घरों के पास डीह बाबा के स्थान पर भी रखे हुए थे। जैसा कि अवगत है, घर वाले भूत की भी पूजा करते थे, किन्तु गाँव में चमरिया माई या डीह बाबा की तरह उसका कोई स्थान निर्धारित नहीं था। गाँव के दक्षिण-पश्चिम कोण की दिशा में थोड़ी दूर पर दौलताबाद नामक एक दूसरा गाँव था, जिसके बाहर एक सुनसान जगह पर बहुत पुराना पीपल का विशाल पेड़ था। घर वालों के अनुसार वह भूत उसी पेड़ पर रहता था। अतः वहीं जाकर उसकी पूजा की जाती

थी। चेचक निकलने पर मनौती के अनुसार देवी 'शीतला माई' की भी पूजा की जाती थी। शीतला माई का मन्दिर गाँव से करीब बीस किलोमीटर पश्चिमोत्तर में निजामाबाद कस्बे के पास था। वहाँ साल में एक बार गाँव के सारे दलित मिलकर जाते और शीतला माई को सूअर के बच्चे की बलि के अलावा 'हलवा-सोहारी' भी चढ़ायी जाती थी। शीतला माई को अति प्रसन्न रखने के लिए मन्दिर में वेश्याओं का नृत्य भी कराया जाता था। ऐसी नृत्यांगनाएँ मन्दिर के पास बड़ी आसानी से मिल जाती थीं।

मेरे ऊपर चेचक का प्रकोप इतना जबर्दस्त था कि जीवित रहने की उम्मीद घर वाले लगभग छोड़ चुके थे। उपर्युक्त देवी-देवताओं की मनौती के अलावा कोई चिकित्सकीय इलाज किसी भी तरह सम्भव नहीं था; क्योंकि घर वाले घोर अन्धविश्वास के कारण दवा लेने से हठ के साथ इनकार कर देते थे। वैसे भी उन दिनों चेचक लाइलाज बीमारी थी। घर वाले इसे शीतला माई का प्रकोप समझते थे। पास के गाँव से एक ओझा आता और कभी भी स्पष्ट न होने वाले कथित मन्त्रों को बड़बड़ाते तथा लौंग तोड़ते हुए झाड़-फूँक करता था। वह नीम के पेड़ की छोटी डाल तोड़कर पत्ते समेत पूरी देह पर फेरता रहता था। उधर मेरी बुढ़िया दादी, जो चमरिया माई की अटूट भक्तिन थी, कंडे की आग में घी डाल-डालकर 'जय चमरिया माई', 'जय चमरिया माई' की बार-बार रट लगाते हुए अगियारी करती रहती थी। दादी मेरी माँ से ज़्यादा रोती रहती थी। अन्ततोगत्वा चेचक की आवश्यक बीमारी वाली अवधि समाप्त होने के साथ मैं ठीक होने लगा। घर वाले अटूट विश्वास के साथ कहते कि उनकी पूजा-पाठ से ज़िंदा बच गया। इस बीच विभिन्न मनौतियों में सूअरों, बकरों की बलि में भैंसा भी शामिल हो चुका था। मेरी जान तो बच गई, किन्तु चेचक का प्रकोप हटते ही मेरी पूरी देह पर गहरे-गहरे घाव के दाग पड़ गए। विशेष रूप से मेरा चेहरा इन दागों का भण्डारण क्षेत्र बन गया। गाँव में लोहार अनाज से मिट्टी या कंकड़ निकालने के लिए लोहे की पतली चद्दर काटकर उसे बड़ी चलनी का रूप देते थे और उसकी पेंदी में पतली छेनी से सैकड़ों छेदकर देते थे, जिसे 'आखा' कहते थे। आखा की पेंदी का बाहरी हिस्सा छेनी के छेद से खुरदरा हो जाता था। मेरा चेहरा इसी आखा के बाहरी हिस्से जैसा हो गया था। इस पूरे प्रकरण में मेरे शेष जीवन पर अत्यन्त दूरगामी प्रभाव डालने वाली घटना घटी – चेचक से मेरी दायीं आँख की रोशनी हमेशा के लिए विलुप्त हो गई। भारत के अन्धविश्वासी समाज में ऐसे व्यक्ति 'अशुभ' की श्रेणी में हमेशा के लिए सूचीबद्ध हो जाते हैं। ऐसी श्रेणी में मेरा भी प्रवेश मात्र तीन साल की अवस्था में हो गया। अतः घर से लेकर बाहर तक सबके लिए मैं 'अपशकुन' बन गया।

*   *   *

मेरे दादा-परदादा गाँव के ब्राह्मण ज़मींदारों के खेतों पर बंधुवा मजदूर थे। उन ज़मींदारों ने ही कुछ खेत उन्हें दे दिया था। गाँव के अन्य दलित भी उन्हीं ज़मींदारों के यहाँ हरवारी (हल चलाने का काम) करते थे। यह हरवाही पुश्त-दर-पुश्त चली आ रही थी। मेरे परिवार में पिताजी के अन्य चारों बड़े भाई हरवाही नहीं करते थे, क्योंकि उनके बड़े-बड़े कई बेटे थे, जिनमें से पाँच आसनसोल की कोयला खदानों, कलकत्ता की जूट मिलों एवं लोहे के कारखाने में काम करते थे। किन्तु मेरे पिताजी को खानदानी हरवाही से कभी मुक्ति नहीं मिली। वे अकसर कहा करते थे कि यदि हरवाही छोड़ दूँगा तो 'ब्रह्महत्या' का पाप लगेगा। अत्यन्त धर्मान्ध होने के कारण वे हरवाही को अपना जन्मसिद्ध अधिकार एवं पवित्र कार्य समझते थे। मेरी माँ भी उनके साथ मजदूरी करती थी।

हमारा संयुक्त परिवार एक अजायबघर की तरह था, जिसमें तरह-तरह के लोग अलग-अलग तौर-तरीकों के साथ रहते थे।

*   *   *

मेरी बुढ़िया दादी अकसर मुझे सोते समय अपनी युवा अवस्था के अनेक संस्मरण सुनाया करती थी, जो अत्यन्त रोचक एवं चमत्कारक हुआ करते थे। दादी के ये संस्मरण उसकी शतकीय उम्र को देखते हुए सम्भवतः सन् 1860 या 70 के दशक के मालूम पड़ते हैं। मैं इन संस्मरणों को बहुत ध्यान से सुनताथा। एक ऐसे ही संस्मरण में दादी ने बताया कि जब वह ब्याह कर हमारे गाँव आई तो देखा कि गाँव में किसी की गाय, भैंस या बैल मर जाता तो पास स्थित जंगल में ले जाकर उसका चमड़ा निकाला जाता फिर उसके बाद गंड़ासे और कुल्हाड़ियों से काट-काटकर उसका मांस सारे दलित बाँस से बनी हुई टोकरियों में भरकर घर लाते। मांस काटने का काम प्रायः महिलाएँ करती थीं। दादी यह भी बताती कि जिस समय कोई चमार पुरुष मरे हुए जानवर का चमड़ा निकालना शुरू करता, अचानक सैकड़ों की संख्या में वहाँ गिद्ध मँडराने लगते तथा दर्जनों कुत्ते आकर भौंकने लगते थे। कुछ सियार भी चक्कर मारते किन्तु कुत्तों और महिलाओं की उपस्थिति को देखते हुए वे पास नहीं आ पाते। मरे पशु के मांस के बंदरबाँट में महिलाओं के साथ कुत्तों और गिद्धों में उग्र होड़ मच जाती थी। दादी भी इस होड़ में शामिल हुआ करती थी। दादी मांस के कुछ हिस्से को आवश्यकतानुसारतुरन्त पकाती किन्तु अधिकांश बचे हुए कच्चे मांस को कई दिन तक तेज धूप में सुखाती। खूब सूख जाने पर मांस को कच्ची मिट्टी से बनी कोठिली में रखकर बंद कर देती। इस प्रक्रिया से सूखे मांस का भण्डारण बढ़ता जाता और साल के उन महीनों में जब खाने की वस्तुओं का टोटा पड़ जाता तो सूखे मांस को नए तरीके से पका-पकाकर परिवार के लोग अपना पेट भरते। मरे हुए इन पशुओं के मांस को 'डांगर' कहा जाता था।

आजादी के बाद चमारों ने डांगर खाना बंद करने का अभियान चलाया, जो अत्यन्त सफल रहा। स्मरण रहे कि यह अभियान मूल रूप से बाबा साहेब अम्बेडकर ने चलाया था किन्तु हमारे बारहगाँवा में उन्हें कोई नहीं जानता था, बल्कि जगजीवनराम काफी लोकप्रिय थे। डांगर विरोधी अभियान की सफलता के बावजूद किसी-किसी गाँव में कई एक चोरी-छिपे डांगर लाकर खाया करते थे।

*   *   *

यौन सम्बन्ध तथा डांगर खाने के मामले पंचायत द्वारा बड़े विचित्र ढंग से सुलझाए जातेथे। यौन सम्बन्ध से जुड़ी युवती के पूरे परिवार को 'कुजाति' घोषित कर दिया जाता था। कुजाति का मतलब होता था, उसका हुक्का-पानी बंद अर्थात् सम्पूर्ण रूप से बारहगाँवा द्वारा बहिष्कार। उस परिवार से कोई बात तक नहीं कर सकता था। 'कुजाति' की घोषणा बड़े ही विचित्र ढंग से की जाती थी। बारहगाँवा में अकसर किसी न किसी के घर शादी-विवाह आदि जैसे पर्व के अवसर पर सामूहिक भोज हुआ करता था। ऐसे किसी भोज में 'कुजाति' किए जाने वाले व्यक्ति को निमन्त्रित किया जाता और जब सभी के साथ वह खाने के लिए कतार में बैठता तो सबके

साथ पत्तल में उसे भी खाना परोसा जाता। लेकिन ज्यों ही वह व्यक्ति खाना हाथ में लेकर मुँह की ओर बढ़ाता, तुरन्त एक अन्य व्यक्ति उसका हाथ पकड़ लेता। फिर सभी एक साथ बोलते कि उसे 'कुजाति' घोषित कर दिया गया है, इसलिए वह नहीं खा सकता। कुजाति घोषित होने के बाद वह आदमी अपमानित होकर वहाँ से अपने घर वापस लौट जाता था। इस तरह उसका बहिष्कार शुरू हो जाता था। बाद में जब कभी कुजाति किया हुआ व्यक्ति बिरादरी में वापस आना चाहता तो वह बारहगाँवा से अपील करता। पंचायत फिर बुलायी जाती और दण्डस्वरूप उसे पूरे ग्राम समाज को सूअर-भात खिलाने का दिन तय किया जाता। इस बीच यदि अवैध यौन सम्बन्ध के चलते वह युवती गर्भवती रहती तो उसका गर्भपात स्वयं गाँव की महिलाएँ, जो बच्चा पैदा करवाने में अनुभवी होती थीं, पेट दबा-दबाकर अत्यन्त क्रूर ढंग से करवा देती थीं। फिर भोज के निर्धारित दिन सूअर-भात पंचों को परोसने के समय चौधरी की अनुमति से युवती के ऊपर गंगाजल छिड़ककर उसे पवित्र घोषित कर दिया जाताथा। इसके बाद कुजाति परिवार के पाप को माफ करने के लिए भोज में उपस्थित पंचों से अपील की जाती। सभी पंच एक साथ जोर का नारा लगाते : 'बोला बोला सीताराम' इसके बाद वे कहते कि पाप माफ कर दिया गया। इसके साथ ही वह परिवार-बिरादरी में वापस आ जाता था। डांगर खाने वालों के साथ भी यही दण्ड-विधान अपनाया जाता था।

* * *

पिताजी के चौथे बड़े भाई का नाम मुन्नर था। वे चौधरी चाचा या दोनों शिवनारायणपंथी गुरु चाचाओं से बिल्कुल भिन्न एक समन्वयवादी किस्म के व्यक्ति थे। इसी विशेषता के कारण उन्हें परिवार का मालिक बनाया गया था। घर में जो कुछ सम्पदा थी, उसका वे हिसाब-किताब रखते थे। मुन्नर चाचा भूत-पिशाच में बहुत विश्वास करते थे। वे दादी की तरह चमरिया माई के भक्त थे। साल में गर्मी के दिनों में गाँव भर के दलित मिलकर चमरिया माई तथा डीह बाबा की 'पुजैया' करते। यह पुजैया आम पूजा से भिन्न होती थी।

हर साल पुजैया के आयोजन में मुन्नर चाचा की नेतृत्वकारी भूमिका होती थी। वे गाँव भर के लोगों से पुजैया के लिए अंशदान इकट्ठा करते। रात के समय सोता पड़ने के बाद गाँव के बाहर मैदान में लोग इकट्ठा होकर बड़े-बड़े घड़ों में धार बनाते तथा इस अवसर पर किसी न किसी ओझा या तान्त्रिक को अवश्य बुलाया जाता। ओझा लौंग तोड़-तोड़कर विभिन्न देवियों का नाम लेकर हिचक-हिचककर विचित्र-विचित्र शब्द-ध्वनि निकालता। यह क्रम रात के सन्नाटे में घण्टों चलता रहता। धार से भरे हुए घड़ों के पास लाल कपड़े की अनेक झण्डियाँ भी रखी जाती थीं। साथ में गोल आकृति का एक बड़ा भतुआ (एक प्रकार का कद्दू) रखा जाता। भतुआ अंदर से बिल्कुल लाल रंग का होता था। काटने पर ऐसा लगता था कि मानो खून से लथपथ हो। ओझा द्वारा ओझैती समाप्त होने पर मुन्नर चाचा के नेतृत्व में धार से भरे घड़ों को उठाकर कन्धे पर रख लिया जाता। झण्डियाँ पकड़ ली जातीं। चाचा भतुआ लेकर सबके आगे चलते तथा 'चमरिया माई एवं डीह बाबा की जय' के सर्वाधिक जोर से लगाए जाने वाले नारों के साथ लोग दूसरे गाँव की सीमा में ऐसी जगह पहुँचते, जहाँ एक रास्ता दूसरे रास्ते को काटता था। वहाँ पर सबसे पहले भतुआ को पटककर चकनाचूर कर दिया जाता तथा वह धार भी गिरा दी जाती और झण्डियाँ गाड़ दी जातीं। इसके बाद लोग चुपके से घर वापस आ जाते। पुजैया में भतुआ का तोड़ा

जाना सम्भवतः नरबलि का प्रतीक होता था। इस सालाना पुजैया के पीछे गाँव वालों का अटूट विश्वास था कि अगले साल गाँव में कोई बीमारी या अन्य आपदा नहीं आएगी।

पुजैया के दूसरे दिन दलित बस्ती के सभी लोग मिलकर एक बहुत बड़ा सूअर खरीदकर लाते थे और उसकी बलि चढ़ायी जाती थी। सूअर खरीदने की प्रक्रिया बड़ी रोचक होती थी। सूअर पालने वाले दूर-दूर के गाँवों में रहते थे। साधारणतया दलितों में पासी जाति के लोग सूअर पालते थे। हमारे गाँव में कोई पासी नहीं रहता था। किसी-किसी गाँव में एक या दो घर पासियों के होते थे। सूअरों को रखने के लिए दस से पन्द्रह फीट का लम्बा-चौड़ा, दो फीट गहरा चौकोर गड्ढा खोदकर किनारे-किनारे चार या पाँच फीट की ऊँची दीवारी खड़ी की जाती तथा उसके ऊपर गन्ने की पत्ती से बनी मड़ई टाँग दी जाती। इस मड़ई का प्रवेशद्वार बहुत संकरा तथा कमरे के अंदर की ओर छिछला होता था। इस निवास को 'खोभार' कहते थे, जिसमें पन्द्रह-बीस सूअर रहते थे। ये सूअर रात के समय ही 'खोभार' में आते थे। अन्यथा वे गाँव के आस-पास इधर-उधर भोजन की तलाश में भटकते रहते थे। इसलिए सूअर खरीदने वाले भी दौड़ते हुए सूअरों का पीछा करते हुए उनमें से किसी एक को पसंद करते थे। पसंद करने के बाद कीमत तय हो जाने पर उसे पकड़ने के लिए लम्बी-लम्बी सामूहिक मैराथन दौड़ लगानी पड़ती थी। कभी-कभी सूअर घण्टों भागता रहता था। दौड़ भी उतनी देर जारी रहती थी। अन्ततः उसे घेरकर मुश्किल से काबू में किया जाता था।

पकड़ने के बाद सूअर के चारों पैरों को मोटी रस्सी से एक साथ बाँध दिया जाता था। फिर एक मोटे बाँस की काड़ी में लटकाकर दो-दो आदमी आगे-पीछे जिस तरह डोली कहार उठाते हैं, वैसे उठाकर अपने गाँव लाते थे। जिस तरह उस जमाने में सवर्ण घरों की कन्याएँ विवाह के बाद विदा होकर डोली में बैठकर ससुराल जाते समय रोती-चिल्लाती तथा रुदन गायकी करती रहती थीं, ये सूअर भी वैसे ही मानव कन्धों पर काड़ी में बँधे तथा उल्टे लटके हुए रास्ते भर चिल्लाते रहते थे। सूअर की बलि या उसे मारने का तरीका बहुत अमानवीय होता था। सूअर को ज़मीन पर लेटाकर उसकी गर्दन तथा कमर के ऊपर बाँस की काड़ी रखकर चार-चार आदमी जोर से दबाए रहते, फिर एक आदमी द्वारा लगभग दो फीट लम्बी अत्यन्त नुकीली लोहे की सरिया जिसे 'हिकना' कहते थे, उसके सीने में भोंक दिया जाता था। सरिया भोंकते समय सूअर बड़ी तेज आवाज़ में चिल्लाना शुरू कर देता था। उसकी यह आवाज़ मीलों दूर तक सुनायी देती थी। सूअर की चिल्लाहट के साथ ही चमरिया माई तथा डीह बाबा की जयकार भी होती रहती थी। सूअर के मरते ही 'हिकना' को सीने से निकाल लिया जाता और उसके गहरे घाव में उतना ही बड़ा अरहर का डंडा जिसको 'रहट्ठा' कहा जाता था, घुसेड़ दिया जाता, ताकि खून बाहर न निकले। मृत सूअर के बाल उखाड़ने के बाद उसे गन्ने की पत्ती जलाकर खूब भूना जाता था, ताकि उसके चमड़े में घुसे बालों की जड़ें समाप्त हो जाएँ। इसके बाद सूअर की पूँछ के पास का पूँछ समेत करीब एक किलो का मांस का बड़ा टुकड़ा सबसे पहले काटकर निकाल लिया जाता था। इस पूरे टुकड़े को पूँछ ही कहा जाता था, जिसे हमारे बारहगाँवा के चौधरी चाचा को समर्पित किया जाता था। गाँव में जब भी सूअर की बलि या बिना बलि वाला सूअर मारा जाता, यह एक किलो की पूँछ चौधरी के नाम पर हमारे परिवार को मुफ़्त में मिलती थी। बाकी मांस

आवश्यकतानुसार हर परिवार पैसे से खरीदता था। सूअर की पूँछ चौधरी चाचा की बारह गाँवों में विशिष्ट प्रतिष्ठा और उनकी न्यायायिक भूमिका की मान्यता का प्रतीक थी। यह परम्परा चौधरी चाचा के जीवनपर्यन्त जारी रही।

इस तरह हमारा परिवार संयुक्त रूप से बृहद् होने के साथ-साथ वास्तव में एक अजायबघर ही था, जिसमें भूत-प्रेत, देवी-देवता, सम्पन्नता-विपन्नता, शकुन-अपशकुन, मान-अपमान, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, ईर्ष्या-द्वेष, सुख-दुःख आदि-आदि सब कुछ था, किन्तु शिक्षा कभी नहीं थी।

उन्हीं दिनों हमारे सदियों पुराने खानदान में एक युगान्तरकारी घटना हुई। मैं लगभग पाँच साल का हो चुका था। यह सन् 1954 की बात है। हमारे परिवार के जो लोग आसनसोल और कलकत्ता में खानों और मिलों में काम करते थे, कभी-कभी पोस्टकार्ड पर चिट्ठियाँ भेजा करते थे। हमारी दलित बस्ती में कोई पढ़ा-लिखा नहीं था। गाँव में ब्राह्मण ही पढ़े-लिखे थे। वे अकसर दलितों की चिट्ठियाँ पढ़ने में आनाकानी करते तथा पढ़ने के पहले अपमानजनक बातें सुनाते। इस व्यवहार से ऊबकर घर वालों की कृपा दृष्टि सबसे छोटा बालक होने के कारण मेरे ऊपर पड़ी। परिणामस्वरूप पूर्वोक्त शिवमन्दिर के पास स्थित प्राइमरी स्कूल में मुझे चिट्ठी पढ़ने लायक बनाने के उद्देश्य से भेजा जाने लगा।

2
मुर्दहिया तथा स्कूली जीवन

स्कूल ले जाने से पहले पिताजी गाँव के अमिका पांड़े के पास 'साइत' यानी 'शुभ' दिन का मुहूर्त पूछने गए। अमिका पांड़े शादी-विवाह से लेकर फसल बोने तथा काटने तक की साइत बताने के लिए मशहूर थे। उनकी इस विद्या का रहस्य यह था कि उनके पास एक फीट लम्बी और उसकी आधी चौड़ाई वाली एक पुस्तिका होती थी, जिसे वे 'पतरा' कहते थे। इसे वे एक लाल कपड़े में बाँधकर बड़े जतन से रखते थे तथा किसी को छूने नहीं देते थे, यहाँ तक कि अपने घर वालों को भी नहीं। इसलिए वह अत्यन्त रहस्यमयी बना रहता था। गाँव के दलितों के बीच यह मान्यता थी कि अमिका पांड़े का पतरा सीधे आसमानी देवलोक से ब्रह्माजी ने गिराया है। चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण का दिन भी अमिका पांड़े ही बताते थे। जाहिर है ये ग्रहण उनके द्वारा बताए गए दिन को ही लगते थे, जिसे दलित पांड़े का एक अजूबा चमत्कार समझते थे। साइत बताने के लिए अमिका पांड़े उस पतरा का कोई भी पन्ना खोलकर आँखें मूँदकर अपनी तर्जनी उँगली उस पर इधर-उधर फेरते और किसी एक स्थल पर रोककर उँगली के नीचे अंकित दिन को साइत निर्धारित कर देते थे। यह सब देखकर दलितों के बीच यह भी अटूट विश्वास था कि अमिका पांड़े के उसी पतरे में सारे वेद-पुराण छिपे हुए थे। इन सारे चमत्कारों की हकीकत यह थी कि उनका वह रहस्यमयी पतरा एक छपा हुआ पंचांग था जो वाराणसी से हर साल प्रकाशित होता था। इसी हिन्दू पंचांग में चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण तथा सभी त्योहारों आदि का दिन छपा हुआ रहता था। अमिका पांड़े ने अपने इसी चमत्कार से मेरे स्कूल जाने का दिन मंगलवार तय किया। हिन्दू रीति से आसाढ़ का महीना था। स्कूल जाने का वह पहला दिन मुझे अच्छी तरह याद है, क्योंकि पिताजी मुझे अपने कन्धों पर बैठाकर स्कूल ले गए थे।

* * *

इस प्रक्रिया में जब मैं पहले दिन स्कूल पहुँचा तो नाम लिखते हुए अध्यापक मुंशी रामसूरत लाल ने पिताजी से पूछा यह कब पैदा हुआ था ? जवाब मिला चार-पाँच साल पहले बरसात में । मुंशीजी ने तुरन्त बरसात का मतलब 1 जुलाई, 1949 समझा और यही दिन हमेशा के लिए मेरे जन्म से जुड़ गया । चूँकि उस जमाने में दलितों के बीच निरक्षरता के चलते बच्चे के जन्मदिन का लेखा-जोखा या कुण्डली आदि का कोई प्रचलन नहीं था, इसलिए लगभग सभी माँ-बाप ऋतुओं से ही अपने बच्चों के जन्मदिन को जोड़ देते थे । यही कारण था कि उस समय के अध्यापक बरसात बताने पर हर एक का जन्मदिन एक जुलाई, जाड़ा बताने पर एक जनवरी तथा गर्मी बताने पर एक मार्च लिख देते थे । यही फॉर्मूला भारत के अनेक गाँवों में आज भी प्रचलित है ।

* * *

हमारी पहली कक्षा में कुल 43 बच्चे थे जिनमें तीन लड़कियाँ थीं । रोल नम्बर के हिसाब से कक्षा में टाट पर बैठाया जाता था । पहली पंक्ति रोल नम्बर एक से शुरू होकर तेरह पर समाप्त हो गई । शेष दो पंक्तियों में इसी क्रम में पन्द्रह-पन्द्रह बच्चे बैठते थे । मेरा नाम और स्थान पहली कतार में रोल नम्बर पाँच के साथ होता था । इन तेरह बच्चों में मेरे अलावा चिखुरी, रमझू, बाबूराम, यदुनाथ, मुल्कू, रामकेर, दलसिंगार, जग्गन, रामनाथ, बिरजू, बाबूलाल तथा मेवा थे । शीघ्र ही इस तेरह का रहस्य उजागर हो गया । हम सभी दलित थे । मुंशीजी की उपस्थिति में हमें कोई अन्य बच्चा नहीं छूता था । ऐसे ही वातावरण में शुरू हुई मेरी शिक्षा ।

* * *

मुंशीजी श्यामपट्ट पर अक्षर लिखते और सभी बच्चों को पटरी पर वैसा ही लिखने को कहते । शुरू-शुरू में डर के मारे नरकट पकड़ते ही हाथ काँपने लगता था और लिखने के लिए हर कोशिश असफल हो जाती थी और ऊपर से मुंशीजी की 'चमरकिट' वाली गाली इतना भय पैदा कर देती कि अन्ततोगत्वा मैं स्कूल जाने के नाम पर रोने-चिल्लाने लगता था । पिताजी मुझे ऐसे अवसरों पर पीटते हुए स्कूल ले जाते थे और साथ में यह भी कहते जाते : "ईस्कूले ना जइबा त चिठिया के पढ़ी" किन्तु मेरा मन पढ़ाई में बिल्कुल नहीं लगता । इसलिए कक्षा के अन्य बच्चों की अपेक्षा में काफी देर से क, ख, ग, घ, ... लिखना सीख पाया, वह भी साथ पढ़ने वाले एक छात्र संकठासिंह की सहायता से । संकठासिंह मेरे गाँव के पूरब में करीब तीन कि०मी० दूर स्थित बारी गाँव के एक बड़े क्षत्रिय ज़मींदार के बेटे थे । उनकी उम्र भी मेरे ही बराबर करीब पाँच-सात की थी, किन्तु वे बहुत ही समझदार और दयालु स्वभाव के थे । वे बहुत जल्दी लिखना सीख गए थे । उस समय स्कूलों में भी छुआछूत का प्रचलन बहुत ज़्यादा था और सवर्ण छात्र प्रायः दलित छात्रों से नहीं मिलते-जुलते थे । किन्तु संकठासिंह अपवाद थे । वे हमेशा मुझसे घुल-मिलकर रहते थे । उन्होंने ही मुझे एक तरह से मजबूर करके लिखना सिखाया था । मेरे लिए कक्षा एक में संकठासिंह मुंशीजी से कहीं ज़्यादा सफल शिक्षक सिद्ध हुए ।

* * *

कक्षा दो में जाने के लिए मुंशीजी ने हर बच्चे से दो रुपया 'पसकराई' यानी पास कराने का घूस लिया। यह दो रुपया मुझे बड़ी मुश्किल से घर से प्राप्त हुआ। यह पसकराई सभी अध्यापक लेते थे और जो बच्चा नहीं देता उसे फेल कर दिया जाता था।

* * *

हमारी दलित बस्ती में बहुत गरीबी थी, पैसा देकर कुछ खरीदना बड़ा मुश्किल पैदा कर देता था, इसलिए सब कुछ अनाज देकर ही लिया जाता था। घर में ढिबरी जलाने के लिए मिट्टी के तेल से लेकर मिर्च-मसाला तक अनाज देकर ही खरीदा जाता था। परिणामस्वरूप अधिकतर दलितों के घर खाद्यान्नों की चक्रीय कमी हमेशा प्रस्तुत होती रहती थी। खास करके बरसात के दिनों में भुखमरी की स्थिति पैदा हो जाती थी। शुरू-शुरू में जब तेज बारिश से कट चुकी फसलों वाले खेतों में पानी भर जाता, तो उनके अंदर बिल बनाकर रहने वाले हजारों चूहे डूबते हुए पानी की सतह पर ऊपर आ जाते थे। गाँव के बच्चे तरकुल या खजूर के पत्तों से बनी झाड़ू लेकर उन चूहों पर टूट पड़ते थे तथा उन्हें मार-मारकर ढेर सारा घर लाते। मैं भी अन्य बच्चों के साथ टिन की बाल्टी तथा झाड़ू लेकर जाता और झाड़ू से चूहों को मार-मारकर बाल्टी भर जाने पर उन्हें घर लाता। इन चूहों को पहले घर के लोग रहट्ठा यानी अरहर का डंठल जलाकर उस पर खूब सेंकते थे। इस तरह चूहों के बाल बिल्कुल जल जाते थे। इसके बाद उन्हें साफ करके बोटी-बोटी काट दिया जाता। फिर मसाला डालकर उसका मांस पकाकर खाया जाता था। इस तरह के मैदानी चूहों का मांस बहुत स्वादिष्ट होता था। उन बरसाती कड़की के दिनों में इस प्रकार के चूहे जब तक उपलब्ध रहते सभी दलित दाल-सब्जी के बदले उन्हीं से गुजारा करते थे। बरसाती मछलियाँ भी उस गरीबी में बड़ी राहत पहुँचाती थीं, किन्तु वे कुछ देर से नदी-नालों में उपलब्ध होती थीं। जहाँ तक चूहों का सवाल है, वे जौ और गेहूँ की बालियाँ अकसर काटकर खेतों में ही अपनी गहरी-गहरी बिलों में ढेर सारा जमाकर लेते। गाँव के मेरे जैसे बच्चे उन बिलों को खोदकर उससे बालियाँ निकाल लेते थे। एक-एक बिल से एक से लेकर दो किलो तक अनाज निकल जाते थे। चूहों के बिल से निकली हुई बालियों को 'मुस्कइल' कहा जाता था। इन्हें बेचकर हम लोग कौड़ियाँ खरीदकर चिभ्भी (एक तरह का जुआ) खेलते थे। इमली का चीयां (बीज) भी खरीदते थे, जो जुआ के ही काम आता था। बरसात में एक बड़ी समस्या यह उत्पन्न हो जाती कि लगातार पानी बरसते रहने से सबकी झोंपड़ियों या खपरैल के घरों की बड़ेरों या छज्जों से अनेक जगहों पर पानी चूने लगता था। रात भर लोग एक पतेली या पतेला इधर तो दूसरा उधर, कहीं लोटा किसी तरफ तो कोई थाली कहीं और रखकर टपकते हुए पानी को भर-भरकर घरों से बाहर फेंकते रहते थे। प्रकृति की यह करतूत उस गरीबी में भिगो-भिगोकर मारती थी। यह सब बड़ा बुरा तथा उबाऊ लगता था। लोग दिन के समय अपने घरों के ऊपर चढ़कर कोई थपुवा इधर सरकाते तो कोई उधर, फिर भी टपकने की समस्या पूर्ण रूप से दूर करना बड़ा मुश्किल हो जाता था। जाड़े के दिन खाने-पीने के मामले में धान की फसल तथा गन्ना तैयार होने से काफी हितकारी होते थे, किन्तु रातें बड़ी कष्टदायी होती थीं। हमारा संयुक्त परिवार बहुत बड़ा था, किन्तु घर में एक भी रजाई या कम्बल नहीं था। वैसे भी घर में कपड़ों की कमी हमेशा रहती थी। मेरे पिताजी पूरी धोती कभी नहीं पहनते। वे एक ही धोती के दो टुकड़े करके बारी-बारी से पहनते। ओढ़ने का कोई इंतजाम न होने से गाँव के लगभग सारे दलित रात भर ठिठुरते रहते। हमारे

घर में सोने के लिए जाड़े के दिनों में घर की फर्श पर धान का पोरा अर्थात् पुआल बिछा दिया जाता था। उस पर कोई लेवा या गुदड़ी बिछाकर हम धोती ओढ़कर सो जाते। इसके बाद मेरे पिताजी पुनः ढेर सारा पुआल हम लोगों के ऊपर फैला देते। फिर स्वयं सोकर अपने ऊपर भी वैसा ही कर लेते थे। जाड़े में ऐसी दुर्दशा पर सबेरा होते ही दलित बच्चे धूप में बैठकर गाते : 'अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेवा – ओढ़त लुगरी बिछावत लेवा' जाड़ा भगाने के लिए हम सभी बच्चे एक और गाना गाते : 'दऊ दऊ घाम करा, सुगवा सलाम करा, तोहरे बलकवन के जड़वत हौं'। इस तरह हमारी जाड़े की रातें कट जाती थीं। वे दिन आज भी जब याद आते हैं, तो मुझे लगता है कि मुर्दों-सा लेटे हुए हमारे नीचे पुआल, ऊपर भी पुआल और बीच में कफन ओढ़े हम सो नहीं रहे बल्कि रात भर अपनी-अपनी चिताओं के जलने का इंतज़ार कर रहे हों। चाहे जो भी हो, उन दारुण दिनों में भी ग्रामीण जीवन के हर अंग में व्याप्त संगीतीय ध्वनि, चाहे वह उस हिंगुहारे या पटहारे या चुड़िहारे की हो या फिर उन जोगी बाबाओं की सारंगी या तुकबंदियों की या कि उस तूरमची बंकिया डोम के युद्धोन्मादी सिंघे की, इन सबके सहारे हँसते हुए दरिद्रता की धज्जियाँ उड़ाने में हमें बड़ी राहत की अनुभूति होती थी। इसी दौरान हमारे घर वालों की उस युगान्तरकारी मनोकामना के साकार होने का अवसर तब प्रस्तुत हुआ जब खाकी टोपी और वर्दी पहने घुँघरू में लिपटे भाले वाली लाठी को ज़मीन पर पटकते हुए अंग्रेजों के जमाने वाला डाकिया चिरैयाकोट थाने से विभिन्न गाँवों की डाक लेकर हमारी दलित बस्ती में बड़े रुतबे के साथ दाखिल हुआ। उसे देखकर बच्चे अकसर पुलिस समझ डर के मारे घर में छिप जाते थे। उस दिन वह हमेशा की तरह जोर की हाँक लगाते हुए चिल्लाया : "सुभगिया कौन है ? चिट्ठी आयी है।" दलित बस्ती में चिट्ठी किसी की भी हो, वह हमेशा चौधरी का घर होने के नाते हमारे घर उन्हें रखकर चला जाता था। मेरे वही अति गुस्सैल नग्गर चाचा ने उस चिट्ठी को सुभगिया के घर ले जाने के लिए कहने से पहले मुझसे कहा, "तनि पढ़ि के देख त रे, पढ़ि सकत हउवे कि ना।" यह घटना सन् 1957 के जोड़ों की ही है, जब मैं तीसरी कक्षा में पढ़ रहा था। मैंने धीरे-धीरे पोस्टकॉर्ड लिखी आधी चिट्ठी पढ़ दी। यह पहला अवसर था, जब वे मुझसे बेहद प्रसन्न होकर मेरा हाथ पकड़े स्वयं सुभगिया के घर की तरफ चल पड़े। रास्ते में जो भी मिलता, उससे वे बोल पड़ते : "हई अब चिठिया पढ़ि लेत हव।"

* * *

एक हिन्दू अन्धविश्वास के अनुसार किसी गाँव में दक्षिण दिशा से ही कोई आपदा, बीमारी या महामारी आती है, इसलिए हमेशा गाँवों के दक्षिण में दलितों को बसाया जाता था। अतः मेरे जैसे सभी लोग हमारे गाँव में इन्हीं महामारियों-आपदाओं का प्रथम शिकार होने के लिए ही दक्षिण की दलित बस्ती में पैदा हुए थे। साथ ही गाँव का भौतिक भूगोल उन तमाम भुतही खूनी अफवाहों के लिए प्राकृतिक रूप से बेहद अनुकूल था। मुर्दहिया, भर्थैया तथा ताल के पास वाली सीवान परसा तो इन भूतों की भूमिगत बस्तियाँ थीं ही। इन अफवाहों के बीच मुर्दहिया सबसे डरावनी बन गई थी। गर्मी के दिनों में वहाँ हजारों बड़े-बड़े पलाश के पेड़ एकदम सुर्ख लाल टेसुओं (फूलों) से लद जाते थे। दूर से देखने पर लगता था कि जलती हुई लाल आग की रक्तीली लपटें हिलोरें ले रही हैं। उन्हें देखकर ऐसी भी अनुभूति होती थी कि मानो मुर्दहिया की बुझी हुई चिताएँ पलाश के पेड़ों पर चढ़कर फिर से प्रज्वलित हो गई हों। आम दिनों में भी गाँव के लोगों का कहना था कि दोपहर के समय तो मुर्दहिया पर कदापि

नहीं जाना चाहिए, क्योंकि भूत उस समय बहुत गुस्से में होते हैं और वे कटहवा कुत्तों के वेश में घूमते हैं। किसी के मिल जाने पर उसे नोच-नोचकर खा जाते हैं। लाल टेंसुओं से लदे ये पलाश के पेड़ जहाँ एक तरफ अत्यन्त मनमोहक लगते थे, वहीं उनके मुर्दहिया पर होने के कारण इन पेड़ों की लालिमा बेहद डरावनी छवि प्रस्तुत करती थी, विशेष रूप से चाँदनी रात में वे खून में लथपथ किसी घायल व्यक्ति जैसे प्रतीत होते थे। इसी दौरान हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में हैजे की महामारी आई जिसका सबसे जबर्दस्त असर पूरब में मुर्दहिया से थोड़ी दूरी पर पड़ोसी गाँव टड़वां में पड़ा। हमारी मुर्दहिया और टड़वां के बीच से होकर वह नाला बहता था जो प्राइमरी स्कूल से होकर आगे बढ़ते हुए लगभग पाँच मील दूर स्थित मंगही नदी में मिल जाता था। इन गाँवों में किसी दिन किसी एक के भी हैजे से मरने पर पचासों के मरने की अफवाह उड़ जाती थी, जिसे बड़ा चिन्ताजनक माहौल पैदा हो गया था। फिर भी बड़ी भारी संख्या में लोग मरे थे। हमारी मुर्दहिया के आसपास की जंगली ज़मीन मुर्दों से पट गई थी, विशेष रूप से नाले के तीरे-तीरे अनेक कब्रें उग आई थीं। एक प्रथा के अनुसार दलितों की कब्रों पर छोटी-छोटी डंडियों में लाल कपड़े की झण्डियाँ गाड़ दी जाती थीं। एक सिरे से देखने पर हवा के झोंकों से फडफड़ाती ये झण्डियाँ ऐसे लगती थीं कि मानो भूतों की लाल-लाल फसलें तैयार होकर लहलहा रही हों। हैजे से मरे हुए लोगों की लाशों से लोग इतना डरे हुए थे कि बहुत छिछली सी कब्रें जल्दी-जल्दी खोदकर उन्हें दफना देते थे। गन्ने तथा अन्य बड़ी फसलों में बड़ी संख्या में छिपे हुए सियारों ने वहाँ से निकलकर मुर्दहिया तथा उस नाले के आसपास अपना बसेरा बना लिया था। ये सियार छिछली कब्रों को खोदकर अक्सर लाशों को चिचोरते हुए नज़र आते थे। रोज स्कूल जाते हुए ऐसा नजारा देखना हमें अत्यन्त भयभीत कर देता था। उनके बारे में अफवाह फैली हुई थी कि मुर्दा खाने से ये सियार पागल हो जाते हैं इसलिए आदमी को दौड़ाकर वे काटकर खा जाते हैं। इस डर से कोई उन्हें भगाने नहीं जाता था और न कोई उन बची-खुची लाशों को फिर से दफनाने ही जाता। यह बड़ा ही हृदय विदारक दृश्य होता। जिनकी लाशों को सियारों के खूँखार जबड़ों से गुजरना पड़ता, पता चलने पर उनके सगे-सम्बन्धियों का, विशेष रूप से औरतों का वर्णनात्मक शैली में गा-गाकर रोना दिल को दहला देता था। उधर रातों में मुर्दाखोर सियारों का हुआं-हुआं वाला शोर बच्चों को बहुत डराता था, किन्तु मेरी दादी कहती कि मुर्दहिया के सारे पुराने भूत अपनी बढ़ती हुई आबादी से ख़ुश होकर नाचते हुए सियारों जैसा गाना गाते हैं। दादी द्वारा प्रस्तुत भूतों की इस नृत्य विद्या तथा गायन शैली से मैं बहुत घबरा जाता था। दादी यह भी कहती थी कि महामारी में मरने वाली औरतें नागिन बनकर घूमती हैं। उनके काटने से कोई भी ज़िंदा नहीं बचता। दादी मुझे अक्सर याद दिलाती कि किसी झाड़ी-झंखार से गुजरते हुए 'जै राम जमेदर' ज़रूर दोहराते जाना। ऐसा कहने से नाग-नागिन भाग जाते हैं। मैं दादी की सारी बातों को इस धरती का अकाट्य अन्तिम सत्य मानता था। इसलिए अक्षरशः उसका पालन करता था और जब भी किसी कंजास से गुजरता, मैं 'जै राम जमेदर, जै राम जमेदर' रटता जाता, किन्तु इस मन्त्र की गुत्थी न दादी जानती थी और न गाँव का कोई अन्य। दादी इस तरह की अनसुलझी गुत्थियों की 'इनसाइक्लोपीडिया' थी। अतः मेरे समझने का तो सवाल ही नहीं खड़ा होता था। जब मैंने काफी बड़ा होकर 'महाभारत' पढ़ा तब जाकर यह गुत्थी सुलझ पायी, वह भी यह जानने पर कि पौराणिक वीर अर्जुन के पौत्र राजा परीक्षित के बेटे का नाम जनमेजय था, जिन्होंने साँपों को मारने का एक 'सर्पयज्ञ' कराकर उन्हें हवनकुण्ड में जला दिया था। तभी से धरती के सारे साँप जनमेजय का नाम सुनते ही अपनी जान बचाने के लिए भाग जाते हैं। जनमेजय ने साँपों से क्रुद्ध होकर इस सर्पयज्ञ को इसलिए कराया था क्योंकि तक्षक नाग के काटने से उनके पिता परीक्षित की मृत्यु हो गई थी। दादी

इसी पौराणिक गाथा को सम्भवतः अपनी दादी से सुनकर जनमेजय का तद्भव अपनी भाषा में 'जमेदर' कहती थी। दादी के इस मन्त्र की सच्चाई चाहे जो भी हो, मैं जब तक गाँव में रहा, 'जै राम जमेदर' के दम पर ही भुतनी नागिनों को भगाता रहा।

*   *   *

उधर मुर्दहिया के पलाश के टेसू जब मुरझाकर ज़मीन पर गिरने लगते तो उनकी जगह सेम की चिपटी फलियों की जैसी पलाश की भी छह-सात इंच लम्बी-चिपटी फलियाँ जिन्हें दादी टेसुल कहती थी, निकलने लगतीं। कुछ दिन बाद ये टेसुल सूखकर गिर जाती थीं। मेरी दादी इन टेसुलों को मुझसे घर पर लाने के लिए कहती। वह टेसुलों को फाड़कर उसी ताँबे के बड़े सिक्कों डब्बल की तरह दिखाई देने वाले बीजों को निकालकर एक बड़ी सींग में रखती। जब किसी बच्चे के पेट में केंचुआ या अन्य कीड़े पैदा हो जाते तो दादी सींग से पलाश के कुछ बीज निकालकर देती और सिल लोढ़े से थोड़े पानी के साथ उसका रख यानी घोल बनाकर पिलाने को कहती जिससे सभी कीड़े मरकर बाहर निकल जाते थे। पलाश के बीज पेट के कीड़ों को मारने की एक अचूक दवा थे। दादी घर में बड़ी पुरानी-पुरानी बैलों की बड़ी-बड़ी सींगें रखे हुए थी। इन सींगों में वह हींग समेत अनेक प्रकार की खरबिरिया दवाएँ रखती थी। एक सींग में वह साही नामक जानवर की सूखी हुई अंतड़ियाँ-पोटियाँ भी रखती थी। हमारे गाँव की मुर्दहिया के जंगल में साही पायी जाती थी। कभी-कभी गाँव के युवक मिल-जुलकर साही को ढूँढ़कर दौड़ा-दौड़ाकर लाठियों से मार डालते थे। साही का मीट बहुत स्वादिष्ट होता था। मैंने भी कई बार साही का मीट खाया था। जब भी साही मारी जाती, दादी उसकी अंतड़ियों-पोटियों को खूब साफ करवाकर पानी में धुलवा लेती और सूखने के बाद ये अंतड़ियाँ सूखी लकड़ी की तरह चटाचट टूट जातीं। दादी इन्हें सींग में भरकर रख लेती। जब किसी का पेट दर्द करता, थोड़ी सी अंतड़ी-पोटी तोड़कर उसे सिल पर दो चम्मच पानी डालकर वही रख बनाकर सुतुही से पिला देती। पेट दर्द तुरन्त बंद हो जाता। दालचीनी तथा बाँस का सींका पीसकर ललाट पर लगाने से सिरदर्द बंद हो जाता था। दादी इस तरह एक वैद्य भी थी। वह पैसों की रेजगारी को भी सींग में रखती थी। दलित बस्ती की कुछ अन्य बुढ़िया औरतें भी इस तरह के काम के लिए सींग का इस्तेमाल करती थीं। जाहिर है मरे पशुओं का डांगर खाने वाले दिनों में दादी बड़ी-बड़ी सींगों को भी मुर्दहिया से काट लाती थी। वर्षों बाद जब मैंने बौद्ध त्रिपिटक पढ़ा तो उससे पता चला कि गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के ठीक सौ साल बाद करीब चौबीस सौ वर्ष पूर्व वैशाली में विद्वान भिक्षुओं की द्वितीय महासंगीति यानी बुद्ध के उपदेशों का संगायन हुआ तो उसमें दस संशोधन किए गए थे, जिनमें पहला ही संशोधन था 'सिडि.लोण काप्प' यानी भिक्षा के समय जानवर की एक खाली सींग में नमक भरकर ले जाना। विनय पिटक में किसी बौद्ध भिक्षु के लिए किसी भी प्रकार की खाद्य सामग्री या धनसंचय की मनाही है, किन्तु इस संशोधन से मौलिक बौद्ध नियमों का उल्लंघन हुआ। इसका मूल कारण यह था कि भिक्षा में अकसर नमक नहीं मिलता था, इसलिए भिक्षु लोग बिना नमक का ही खाना पकाकर खाते थे। इस व्यावहारिक कठिनाई से बचने के लिए यह संशोधन किया गया था, ताकि नमक माँग या खरीदकर सींग में रखा जा सके। तभी से सींग में संचय की यह बौद्ध प्रथा जारी हुई। दादी द्वारा दवाएँ तथा

पैसा, यहाँ तक कि सूई-डोरा भी रखना सिद्ध करता है कि हमारे खानदान वाले सदियों पूर्व कभी खाँटी बौद्ध अवश्य रहे होंगे। दादी की वे सींगें इसका प्रमाण हैं।

मुर्दहिया के सन्दर्भ में सन् 1957 का 'भादों' का महीना मेरे जीवन का एक विशेष यादगार वाला महीना है। उस समय हिन्दू धर्म के अनुसार 'खरवांस' यानी बहुत अपशकुन वाला महीना था। इस बीच मेरे पिताजी जिस सुदेस्सर नामक ब्राह्मण की हरवाही करते थे, उनकी बुढ़िया माँ मर गई। उनके ही पट्टीदार अमिका पांड़े ने 'पतरा' देखकर बताया कि अभी पन्द्रह दिन खरवांस है, इसलिए मृत माँ का दाह-संस्कार नहीं हो सकता। यदि ऐसा किया गया तो माताजी नरक भोगेंगी। उन्होंने सुझाव दिया कि माताजी की लाश को मुर्दहिया में एक जगह कब्र खोदकर गाड़ दिया जाए, तथा पन्द्रह दिन बाद निकालकर लाश को जलाकर दाह-संस्कार हिन्दू रीति से किया जाए। मेरे पिताजी मुझे लेकर मुर्दहिया पर कब्र खोदने गए। वे फावड़े से कब्र खोदते रहे और मैं मिट्टी हटाता रहा। जब कब्र तैयार हो गई तो सुदेस्सर पांड़े अपने पट्टीदारों के साथ लाश को लाकर उस कब्र में डाल दिए। तुरन्त उसको मिट्टी से पाट दिया गया। दफनाने से पहले टोटकावश सुदेस्सदर पांड़ेने कफन के एक कोने में सोने की मुनरी गठिया दी थी। एक अन्धविश्वास के अनुसार किसी लाश के कफन में सोना बाँधने से वह जल्दी नहीं सड़ेगी। ऐसा ही ब्राह्मणों के सुझाव पर किया गया था। पिताजी ने कुछ कंटीली अकोल्ह की झाड़ियाँ काटकर कब्र के ऊपर डाल दी थीं, ताकि लाश को सियारों से बचाया जा सके। ऐसा करके सभी अपने घर लौट आए। सुदेस्सर पांड़े रोज मेरे पिताजी को मुर्दहिया पर भेजते कि वे कब्र को देख आवें, क्योंकि सियारों द्वारा खोदकर लाश को खा जाने की आशंका हमेशा बनी रहती थी। पिताजी काम में व्यस्तता के कारण दो-चार दिन बाद स्वयं न जाकर मुझे कब्र देखने के लिए शाम के समय स्कूल से लौटते हुए मुर्दहिया पर जाने की हिदायत देते रहे। मैं वैसा ही करता था किन्तु कब्र के नजदीक नहीं जाता। थोड़ी दूर से ही देख लेता। वैसे स्कूल का रास्ता भी मुर्दहिया के पास से ही गुजरता था। इस तरह पन्द्रह दिन जैसे-तैसे बीत गए और पिताजी के साथ मेरी भी कब्र की रखवाली की अवधि समाप्त हो गई, साथ ही खरवांस भी गुजरगया। अब बारी थी पांड़े की माताजी को कब्र से बाहर निकालकर उनकी लाश को जलाने की। मेरे पिताजी उन पन्द्रह दिनों के दौरान प्रायः यह कहते थे कि कहीं कोई चोर-डाकू उस सोने की मुनरी के लालच में कब्र खोदकर लाश को बाहर न कर दे। यदि ऐसा हुआ तो बड़ा अनर्थ होगा। सुदेस्सर पांड़े की हरवाही से पिताजी का इतना लगाव था कि वे उनकी माताजी की लाश को लेकर पांड़े से कहीं ज़्यादा चिन्तित रहते थे। आखिर लाश निकालने का समय अमिका पांड़े के उस दैवी पतरा के अनुसार निर्धारित किया गया सुदेस्सर पांड़े दो-चार फावड़ा मिट्टी हटाकर दूर खड़े हो गए। सड़ांध आने के डर से उनके पट्टीदार भी दूर भाग गए। पिताजी कब्र की मिट्टी फावड़े से हटाते रहे। किनारे लायी गई भुरभुरी मिट्टी फिर से कब्र में न गिरने पावे, इसके लिए पिताजी मुझे मिट्टी पीछे ठेलने के लिए कहते रहे। मैं वैसा ही करता रहा। अन्ततोगत्वा कब्र में कफन वाला सफेद कपड़ा दिखाई देने लगा। यकायक उस सड़ी लाश की दुर्गन्ध से सारा वातावरण डगमगा गया। सुदेस्सर पांड़े भी मुँह पर गमछा बाँधे दूर भाग गए, और वहीं से पिताजी से कहते रहे कि वे सोने वाली मुनरी को पहले ढूँढ़कर कफन से निकाल लें। यह एक अजीब स्थिति थी। उस दिन मेरे मन में पहली बार यह बात समझ में आई थी कि किसी के लिए माँ की लाश की अपेक्षा सोना कितना प्रिय था। पिताजी ने मुझे भी गमछा मुँह पर बाँध लेने को कहा। मैंने वैसा ही कर लिया। उस समय सारे ब्राह्मण वहाँ से चम्पत हो गए। सुदेस्सर पांड़े भी दूर ही खड़े रहे। पिताजी ने

जैसे-तैसे सड़ी लाश को पैर की तरफ से उठाकर मेरे हाथों में पकड़ा दिया और स्वयं सिर की तरफ से पकड़ लिया। अपार दुर्गन्ध और घृणा से मजबूर हम दोनों ने उस लाश को बाहर निकालकर पहले से ही पास में सजायी चिता पर रख दिया। कफन से छुड़ाकर उस सोने की मुनरी को धूल से रगड़कर पिताजी ने सुदेस्सर पांड़े के हवाले कर दिया। वे बड़ी मुश्किल से मुँह-नाक बाँध लाश के पास आए और आग जलाकर चिता को जला दिए। पांड़े पुनः भागकर दूर चले गए। वहाँ सिर्फ़ मैं और पिताजी खड़े रहे और लाश को जलाते रहे। इस बीच आग कम होती देखकर पिताजी ने पलाश की डालियाँ तोड़कर चिता में डाल दीं। उधर सूरज डूबने वाला था। धीरे-धीरे अँधेरा फैला रहा था। बड़ा डर लगने लगा। जैसे-तैसे लाश जलायी गई और हम घर फावड़ा लेकर वापस आ गए। हमारे घर के पीछे एक छोटी-सी पोखरी थी। हम उसमें जाकर खूब नहाए। पिताजी ने नहाने के बाद उसी अपने द्वारा लगाए गए पीपल के पेड़ की जड़ के पास घी का दीया जलाकर पूजा की। पूजा की विधि उनकी वही चिर-परिचित रो-रोकर किसी से बातें करने वाली जैसी उस दिन भी रही। मुर्दहिया न जाने कितने वर्षों से अनगितन लोगों के दुःख-दर्द को जलाकर राख करती आ रही थी। और न जाने कितने लोगों के दुःख को अपनी धरती में दफना लिया था। और आगे भी इन दुखों को जलाती-दफनाती रहेगी। उस दिन मुझे भी बड़ी गहराई से अनुभूति हुई थी कि मेरे भी अंदर एक मुर्दहिया जन्म ले चुकी थी, जिसमें भविष्य के न जाने कितने ही दुःख-दर्द जलने और दफन होने वाले थे। जब मैं पन्द्रह वर्ष की अवस्था में हाईस्कूल पास करने के बाद पढ़ाई छूट जाने के कारण घर से 1964 में भागा तो उसी मुर्दहिया से होकर अन्तिम बार गुजरा था। वैसे तो मैं अकेला ही था, किन्तु हकीकत तो यही थी कि चल पड़ी थी मेरे साथ मुर्दहिया भी। जब मुझे यह मालूम हुआ कि दुनिया में दुःख है, दुःख का कारण है और उसका निवारण भी, तो ऐसा लगा कि इस सत्य को ढूँढ़ने से पहले तथागत गौतम बुद्ध कभी न कभी मेरी मुर्दहिया से अवश्य गुजरे होंगे।

3

अकाल में अन्धविश्वास

सन् 1958-59 लगभग 1957 का ही अग्रसारित रूप था। इस अवधि में हमारे पूरे क्षेत्र में भयंकर सूखा पड़ गया तथा दोनों वर्ष बहुत कम बारिश हुई थी। चारों तरफ हाहाकार मचा हुआ था। उचित सिंचाई के साधनों की निहायत कमी के कारण अधिकतर फसलें सूख गई थीं। अतः 1957 में नौ ग्रहों के मिलने से होने वाले अनिष्ट की अफवाहों का 'साकार रूप' सूखे से उत्पन्न स्थिति में लोगों को साफतौर पर दिखाई देने लगा था। इसलिए अन्धविश्वासों का हद से ज़्यादा बोलबाला हो गया था। खाद्यान्नों की कमी के कारण लोग भुखमरी के शिकार होने लगे थे। अनेक गाँवों में विशेष रूप से दलित परिवार के लोग रात में अक्सर फाका करने लगे थे। हमारे घर वालों की भी यही स्थिति थी। हमारी दादी हुक्की पीने की बड़ी शौकीन थी। इसलिए एक बोरसी में हमेशा कंडे की आगे सुरक्षित रहती थी। दलित बस्ती की अनेक औरतें चूल्हा जलाने के लिए प्रायः रोज दादी से आग माँगकर ले जाती थीं। उस समय अनेक घरों में फाका के कारण चूल्हे नहीं जलते थे, इसलिए दादी से कोई जब आगे माँगने नहीं आता तो वह बड़ी दुखित होकर कहती कि लगता है उसके घर खाना नहीं पकेगा। दादी की इस उक्ति में अत्यन्त करुणा का भाव छिपा रहता था, किन्तु जिस दिन स्वयं हमारे घर में चूल्हा नहीं जलता, उसके बारे

में वह कोई प्रतिक्रिया नहीं देती थी। दादी की इस चुप्पी के बारे में जब आज मैं सोचता हूँ, तो लगता है कि उसके अंदर कितनी भारी पीड़ा सुलगती रही होगी। उस अकाल के दौरान सबसे सस्ती वस्तु चीनी मिल से निकला हुआ चोटा होता था। अधिकतर दलित बाजार से चोटा लाकर सुबह और दोपहर को उसका रस घोलकर पीते थे तथा उसके साथ मटर की दाल पानी में भिगोकर एक-दो मुट्ठी खा लेते थे। रात के समय यदि उपलब्ध हुआ तो आटे की मोटी लिट्टी बनाकर नमक-प्याज से लोग गुजारा करते थे। चोटा लगातार पीते रहने से विशेष रूप से बच्चों को अक्सर पेचिश की बीमारी हो जाती थी। ऐसा होने पर दादी प्रायः गाँव की औरतों को कहती कि वे अमरूद या अमलताश की पत्ती पीसकर छानने के बाद उसका रस पेचिश पीड़ितों को पिलावें। इस रस से पेट हमेशा ठीक हो जाता था। गाँव के आसपास के छोटे-मोटे जलस्रोतों के सूख जाने के कारण दलित बच्चे अक्सर बहुत कम नहा पाते थे, इसलिए खुजली की बीमारी बड़ी तेजी से फैल जाती थी। दादी खुजली ठीक करने के लिए भंगरैया नामक पौधे की पत्तियाँ पीसकर उस पर छोपने के लिए कहती थी, जिससे खुजली ठीक हो जाती थी। फोड़े-फुंसी के ऊपर वह अकोल्ह के पत्ते पर मदार के दूध को पोतकर चिपकवा देती थी, जिससे उसका इलाज हो जाता था। इस प्रकार के अनेक नुस्खों से उस अकाल में दादी अनेक लोगों का मुफ़्त में इलाज कर देती थी। सबसे मजेदार बात तो यह थी कि दीवाली का त्योहार आने पर मेरी माँ परम्परा के अनुसार अनाज पछोरने वाले सूप को एक लकड़ी से भद-भद पीटते हुए रात की अन्तिम घड़ी में घर के एक-एक कोने में जाती और साथ में जोर-जोर से अर्द्ध गायन शैली में 'सूप पीटो दरिद्दर खेदो' का जाप भी करती रहती। गाँव की अन्य महिलाएँ भी ऐसा करती थीं, किन्तु कोई घर से दरिद्रता भगा पाने में कभी सफल नहीं हुई। उस अकाल में भी खूब सूप पीटे गए, किन्तु हर घर के कोने-कोने में वही समायी हुई थी। ऐसा लगता था कि मानो धरती की सतह से पानी कहीं उड़ गया था, किन्तु हर बड़े-छोटे भूखे की आँखों में तो एक-एक समंदर हिलोरें ले रहा था। गाँव के ज़मींदारों के पास अन्न के भण्डार हमेशा होते थे। वे कई मन अनाज अलग से रखते थे जिसे 'बेंगही' कहते थे। बेंगही का मतलब था खेत में बोने के लिए बीज। वे हर साल दलितों को हर फसल के बोने के लिए 'सवय्या' पर बेंगही देते थे। सवय्या का मतलब था कि यदि एक सेर बेंगही दिया गया तो फसल कटने के बाद सवा सेर अनाज लौटाना पड़ेगा। यह बेंगही सारे दलित हरवाही के बदले उन्हीं ज़मींदारों द्वारा दिए गए छोटे-छोटे खेत के टुकड़ों में बोने के लिए लाते थे। किन्तु उस अकाल में पेट भरने के उद्देश्य से जब उनसे बेंगही माँगी जाती, तो वे 'डेढ़िया' पर देने को तैयार होते। 'डेढ़िया' का मतलब था एक सेर के बदले डेढ़ सेर वापस करना। उस भुखमरी के दौर में यह अमानवीय डेढ़िया की मुनाफाखेरी बड़ी दुखदायी सिद्ध होती थी। अधिकतर दलित डेढ़िया न चुका पाने के भय से बहुत कम बेंगही उधार ले पाते थे। ऐसी बेंगही न चुका पाने पर दिन भर ज़मींदारों के खेत पर 'बनि' के बदले कई दिन तक मुफ़्त में काम करना पड़ता था। 'बनि' का मतलब होता था दिन भर काम के बदले एक सेर अनाज की मजदूरी। उन दिनों किलो या ग्राम का प्रचलन नहीं था। अतः सारी तौल सेर तथा छटांक में होती थी। एक सेर का बटखरा एक टूटा हुआ पत्थर का टुकड़ा होता था जो सरकारी सेर से बहुत छोटा होता था। हमारे गाँव के ब्राह्मण तो ईंट तोड़कर अपना सेर चलाते थे जो असली सेर से लगभग एक-चौथाई कम का होता था। वे बनि इसी ईंट से तौलकर, वह भी सबसे खराब अनाज, दलितों को देते थे, किन्तु बेंगही वापस असली सेर से तौलते थे। अतः बेंगही तथा कम तौली हुई बनि का मिलना भी दूभर हो जाता था।

डेढ़िया बेंगही का चक्रविधि भुगतान और ईंट वाली तौल से चुकायी जाने वाली बनि आदि को लेकर दलितों तथा ब्राह्मणों के बीच अक्सर बड़ी तनातनी हो जाती थी। प्रायः हर साल दलित कुछ दिनों के लिए हड़ताल कर देते थे। हड़ताल के दौरान कभी-कभी लाठी-डंडे तक चल जाते थे। जब भी लाठी-डंडे चलने की नौबत आती, गाँव के सारे दलित पंचायत के लिए हमारे घर चौधरी चाचा के यहाँ आते। उसी कुएँ के चबूतरे पर पंचायत होती और चौधरी चाचा सबकी राय से 'कूर' बाँध देते थे। 'कूर' बाँधने का मतलब था किसी निर्धारित समय तथा स्थान पर ज़मीन पर खपड़े से एक खूब लम्बी रेखा खींच देना। उस रेखा के दोनों तरफ काफी दूर पर दोनों परस्पर विरोधी पक्ष खड़े होते। रेखा के इस पार खड़े दलित उस पार खड़े ब्राह्मणों को चुनौती देते कि यदि हिम्मत हो तो रेखा पार करके दिखावें। यदि ब्राह्मण रेखा पार कर लेते, तो तुरन्त दलितों से लड़ाई शुरू हो जाती। ब्राह्मण हमेशा भाले और बल्लम से लैस रहते थे किन्तु दलित सिर्फ़ लाठियाँ रखते। ऐसी 'कूर' बँधी लड़ाइयों में दलित महिलाओं की वीरता देखते ही बनती थी। ये सारी महिलाएँ मरे हुए बैलों तथा गायों की बड़ी-बड़ी तलवारनुमा पसलियाँ अपने घरों में अवश्य हथियार के रूप में रखती थी। कुछ दलित औरतें गाँव के पास वाले गड्ढों में फेंकी हुई 'बियाना' कमाने वाली हांड़ियों को उठा लातीं। गाँव की ब्राह्मणियों को जब बच्चे पैदा होते तो ये दलित महिलाएँ उन्हें पैदा करवाकर उनकी नाल-खेरी काटकर एक हंड़िया में भरकर गड्ढे में फेंक आती थीं तथा बारह दिनों तक जच्चा-बच्चा दोनों की वे लगातार मालिश आदि करती थीं। यहाँ तक कि उनके मल-मूत्र भी वे हंड़िया में भरकर फेंकती थीं। इन्हीं सारी क्रियाओं को 'बियाना' कमाना कहते थे। हमारे घर में चौधरानी चाची बियाना कमाने में सिद्धहस्त थी तथा गाँव के अधिकतर बच्चों को वही पैदा करवाती थी। 'कूर' की लड़ाई के दौरान जब दलित महिलाएँ इन हांड़ियों तथा गाय-बैलों की पसलियों को लेकर ब्राह्मणों को मारने के लिए दौड़तीं तो वे जान बचाकर भाला-बल्लम फेंककर बड़ी तेजी से पीछे भागने लगते, क्योंकि बियाना की हांड़ियों और मरे बैलों तथा गायों की पसलियों से छू जाना वे महापाप समझते थे। ये औरतें कुछ हांड़ियों तथा पसलियों को जोर लगाकर दूर फेंकतीं, जिससे ब्राह्मण अत्यन्त भयभीत हो जाते थे। इस प्रक्रिया में हमेशा दलितों की जीत होती थी। 'कूर' बँधी लड़ाइयों की परम्परा दलितों के बीच सम्भवतः 'महाभारत' की 'कुरुक्षेत्र' में सम्पन्न कौरव-पाण्डव युद्ध से आई थी। इसके बाद कई ब्राह्मण गिड़गिड़ाते हुए पुनः काम शुरू करने के लिए राजी करते थे। तथा कुछ दिनों तक असली सेर से तौल कर बनि देते थे, किन्तु बाद में फिर वही ईंटों वाला सेर हावी हो जाता था। फसल कटाई के दौरान सेर भर अनाज बनि में देने का प्रचलन नहीं था, बल्कि बीस 'केड़ा' फसल पर एक केड़ा बनि के रूप में मिलता था। 'केड़ा' का मतलब था दोनों बाँहों के बीच जितनी फसल अंट जाती थी, उसे एक केड़ा कहते थे। अतः फसल काटते समय दलित केड़ा बना-बनाकर खेत में रखते जाते थे तथा पूरे खेत की कटाई के बाद सारे केड़ों को गिनकर बनि वाले केड़े बीस पर एक के हिसाब से निर्धारित होते थे। इन केड़ों में से एक या दो केड़े दलित अपनी मर्जी से चुनते थे तथा बाकी ब्राह्मण मालिकों की मर्जी से। जिस केड़े को दलित अपनी मर्जी से लेते उसमें रखी जाने वाली खूब दानेदार फसलों को दबा-दबाकर रखते थे। अधिकतर दलितों को ठीक से गिनती नहीं आती थी, इसलिए ब्राह्मण केड़ा गिनने में चालाकी कर जाते थे, किन्तु दूसरी कक्षा के बाद मेरे घर वालों के लिए केड़ा गिनने में मेरी गणित हमेशा काम आती रही। गाँव के कुछ अन्य दलित भी मुझे केड़ा गिनने के लिए ले जाते थे। किन्तु उस अकाल के दौरान बहुत कम फसलें उत्पन्न हुई इसलिए बनि के केड़े भी कम ही मिले।

इन अकाल के दिनों में दलितों को बहुत ज़्यादा श्रम करना पड़ता था, किन्तु कमाई बहुत कम हो पाती थी। विशेष रूप से ज़मींदारों के खेतों की सिंचाई के लिए बहुत मेहनत करनी पड़ती थी। दलितों को ज़मींदारों द्वारा काम पर बुलाने के लिए एक विचित्र परम्परा थी। हर रोज रात के पिछले पहर में जब भी विभिन्न गाँवों में पालतू मुर्गे जोर-जोर से 'कुकडू कू' की आवाज़ निकालते हुए बोलते थे, सारे ज़मींदार अपने-अपने घरों के बाहर खड़े होकर हरवाहों के नाम लेकर जोर-जोर से बुलाने लगते थे। हर दलित हरवाहा अपने मालिक की आवाज़ सुनकर जोर से चिल्लाकर उत्तर देता : 'आवत हई मालिक'। ज़मींदारों द्वारा बुलाए जाने वाले शब्द प्रायः बड़े ही निरादरपूर्ण होते थे। पहली आवाज़ पर कुछ उत्तर न मिलने पर वे गालियाँ देते हुए दोबारा आवाज़ लगाते थे। दलित इन गालियों का जवाब नहीं दे पाते थे। इस तरह प्रतिदिन सूर्योदय से एक दो-घण्टे पहले ही मुर्गों की बाँग पर दलित काम पर चले जाते थे और शाम तक श्रम करते रहते थे। अत्यधिक काम के बाद थककर अधपेट खाकर रात में सोये हुए दलित मुर्गे की आवाज़ के बाद बिना नींद पूरी हुए मजबूरी में जागने पर प्रतिदिन दुखित होकर उन मुर्गों को गालियाँ देते थे। अतः वे ज़मींदारों का सारा गुस्सा मुर्गों पर ही उतारकर संतुष्ट हो जातेथे। इस सन्दर्भ में राजस्थान के ग्रामीण दीवारों पर रँगी गई एक लोककला दृश्यपटल पर उभरकर सामने आती है जिसके अनुसार मुर्गे की बाँग पर प्रेमी-प्रेमिका को छोड़कर अपने घर चला जाता है और प्रेमिका गुस्से में लाल होकर मुर्गे पर तीर से निशाना साध लेती है। इतना ही नहीं, हल जोतते समय अनेक दलित बैलों को खूब गालियाँ सुनाते थे। ये गालियाँ बैलों के 'गोसयां' यानी मालिक की बहन-बेटी की ऐसी की तैसी कर देने वाली होती थीं। युवा हरवाहे ऐसी गालियाँ कुछ ज़्यादा ही देते थे। किन्तु पुराने लोगशान्त रहते थे। मेरे पिताजी बहुत शान्त प्रकृति के थे। अतः वे कभी भी ऐसा नहीं करते थे। उनके परोपकारी स्वभाव की प्रतीक उनकी एक आदत मुझे आज भी प्रेरणा देती रहती है। वे जब भी कहीं जाते, हमेशा रास्ते में पड़े कंकड़-पत्थर तथा काँटे आदि को उठाकर दूर फेंकते जाते, ताकि उनसे कोई घायल न होने पाए। उनकी इस करतूत का अनुसरण करते हुए मुझे आज भी बहुत संतुष्टि मिलती है।

* * *

इस दौरान सबसे बुरी हालत नाइयों, धोबियों, मुसहरों तथा नटों की होती थी। हमारे पूरे क्षेत्र में मात्र एक परिवार बगल के टड़वां गाँव में नाई का था। उसी गाँव में दो परिवार धोबियों का रहता था। उस क्षेत्र के करीब एक दर्जन गाँवों के बाल काटने का काम वही नाई परिवार करता था तथा धोबी इन सभी गाँवों के लोगों के कपड़े धोते थे। हैरत में डालने वाली परम्परा यह थी कि ये सभी सारा काम मुफ़्त में करते थे। मजदूरी के रूप में इन्हें साल भर में रबी तथा खरीफ की फसलों से सिर्फ़ एक-एक केड़ा हर घर से मिलता था। किन्तु उस अकाल में धान के केड़े इन्हें नहीं मिले, क्योंकि सारी फसलें सूख गई थीं। अतः इन परिवारों की बड़ी दुर्दशा होती थी। विशेष रूप से धोबियों को प्रतिदिन सैकड़ों कपड़े, वह भी साड़ी तथा धोती जैसे बड़े कपड़े, धोने पड़ते थे। कपड़ा धोने में जाति-भेद नहीं था। हर जाति के कपड़े इन्हें धोने पड़ते थे।

* * *

इसी तरह पास वाले पारूपुर नामक गाँव में सिर्फ़ एक परिवार मुसहरों का था। उस परिवार में एक दर्जन से ज़्यादा बेटे-बेटियाँ थे, जिन्हें एक छोटी-सी झोंपड़ी में रहना पड़ता था। उनकी जीविका का मात्र एक ही साधन था – पलाश के पत्तों से पत्तल बनाकर शादी-विवाह आदि के अवसर पर खेप पहुँचाना। वे इन अवसरों पर खाने के बाद फेंके गए जूठे पत्तलों से बचे हुए भोजन को झाड़-झाड़कर कपड़े बिछाकर इकट्ठा करके अपने परिवार को खिलाते थे। यह एक अत्यन्त अमानवीय परम्परा थी। कोई उन्हें कभी निमन्त्रित करके नहीं खिलाता था और न कोई समाज-सुधारक उनकी इस प्रथा को छुड़ाने के लिए प्रयास ही करता था। उन अकाल के दिनों में बहुत कम विवाह सम्पन्न हो पाते थे, क्योंकि खाद्यान्नों की कमी से इन्हें भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाता था। सिर्फ़ मृत्युभोज ही सम्पन्न हो पाते थे। अतः इन मुसहरों की बहुत दयनीय हालत हो गई थी। वे मेढ़क तथा चूहे खाने के लिए भी जाने जाते थे, किन्तु बरसात न होने के कारण उस वर्ष मेढकों का कहीं अता-पता नहीं था, इसलिए उनकी परेशानी बहुत ज़्यादा बढ़ गई थी। खेत मजदूरी की भी परम्परा उनके बीच नहीं थी, वे बड़ी कड़ाई के साथ अपने पेशे से कटिबद्ध थे। वे अक्सर फाका करते थे किन्तु कभी किसी से कुछ माँगते नहीं थे। ऐसे ही स्वयं हमारे गाँव में एक परिवार नट का था। सोफी नामक इस नट के तीन बड़े बेटे, एक बहू तथा दो जवान होती बेटियाँ थीं। उनकी पत्नी भी थी। सोफी शादी-विवाह में ढोल बजाते हुए आल्हा गाकर भीख माँगते थे। कभी-कभी वे बकरा काटकर गाँव में मांस भी बेचते थे। उस अकाल में विवाहों के बंद हो जाने से उनका आल्हा भी बंद हो चुकाथा। उनकी जीविका का कोई अन्य साधन नहीं था। यह नट परिवार हमारी दलित बस्ती के पूरब में मुर्दहिया के प्रवेश क्षेत्र में झोंपड़ी बनाकर रहता था। एक तरह वे मुर्दहिया के मुहाने पर रहते थे। ऐसा लगता था कि भूत-भूतनियों की चौकीदारी वे ही करते थे। सोफी की बहू तथा दोनों बेटियाँ सौन्दर्य के मामले में अपरम्पार सम्पन्न थीं, किन्तु भूख उन्हें भी लगती थी, पर उसे मिटाने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं होता था। धीरे-धीरे मजबूरी में उनका सौन्दर्य काम आने लगा। गाँव के कुछ अभद्र ब्राह्मण युवक संध्या के समय मुर्दहिया के उस मुहाने पर लगता था कि स्वयं भूतों की चौकीदारी करने लगे। उन नटनियों का सौन्दर्य मुर्दहिया की उन्हीं कंटीली झाड़ियों के पीछे प्रायः गुम होता रहा।

4

मुर्दहिया के गिद्ध तथा लोकजीवन

पाँचवीं पास करने के समय अकाल अपनी विभीषिका की चरम सीमा पर था। पाँचवीं के सभी बच्चों को फाइनल परीक्षा के लिए सात मील दूर 'बबुरा धनहुवां' नामक गाँव के स्कूल जाना था। वहाँ एक दिन का पड़ाव था। उन दिनों पाँचवीं की परीक्षा के लिए जिला केन्द्र आजमगढ़ से एक अधिकारी आया करते थे, जिन्हें डिप्टी साहब ही कहा जाता था। परीक्षा बड़ी कड़ाई के साथ होती थी। चैत वैशाख का महीना था। बड़ी कड़ाके की गर्मी थी, वह भी अकालिया दुखदायी। बाबू परशुराम सिंह ने सभी बच्चों से कहा कि परीक्षा स्थल पर एक दिन रुकना है, किन्तु वहाँ खाने की कोई व्यवस्था नहीं होगी। अतः अपने-अपने घर से खानपान लेकर चलना होगा, वह भी तड़के सूर्योदय से पहले ब्राह्ममुहूर्त में। दलित छात्रों के लिए यह इम्तहान बड़ी कठिनाई वाला था, किन्तु ज्ञान की कमी से नहीं, बल्कि खानपान की कमी से। समूह में रहते हुए बबुरा धनहुवां के उस परीक्षा केन्द्र पर कुछ

सम्मानजनक भोजन की आवश्यकता तो अवश्य थी, किन्तु दलितों के लिए पूर्ण रूप से असम्भव। अतः मेरे जैसे तमाम दलित छात्र वही महुवे का 'लाटा' तथा 'चोटे में सने सूखे सत्तू' की गठरी लिए चल पड़े। हेडमास्टर साहब के आदेश से हम लाइन बनाकर सैनिकों की तरह परेड करते हुए सात मील का रास्ता तय करके इम्तहान स्थल पर पहुँचे थे। हमारा वह अभियान माओत्से तुंग के उस ऐतिहासिक 'लांग मार्च' से कम नहीं था, क्योंकि उसमें भी तो वही 'लाटा सत्तू' वाले ही लोग शामिल थे। वहाँ कई अन्य स्कूलों के छात्र भी परीक्षा देने विभिन्न दिशाओं से आए थे।

हम दोपहर होने से काफी पहले पहुँच गए थे। लिखित परीक्षा दोपहर बाद शुरू होने वाली थी, इसलिए काफी समय बचा हुआ था 'लाटा सत्तू' खाने के लिए। घर से चलते समय बुढ़िया दादी ने कहा था कि 'बबुरा धनहुवां' पहुँचते ही किसी पोखरा या पोखरी ढूँढ़कर मैं नहाकर गाँव की देवी चमरिया माई की विनती करते हुए उन्हें 'धार-पुजौरा' चढ़ाने की मनौती मानूँ ताकि इम्तहान में पास हो जाऊँ। दादी द्वारा दिया गया कोई भी फतवा मेरे लिए हमेशा जादू का काम करता था, इसलिए उसे न मानने का कोई सवाल ही नहीं था। उस स्कूल के पास खेतों की मेड़ पर कुछ औरतें घास ढूँढ़कर छील रही थीं। मुझे लगा कि वे अवश्य ही मजदूरिनी होंगी। इसलिए बेझिझक मैंने उनसे पूछा कि यहाँ कहीं पोखरा है कि नहीं। उनसे पता चला कि एक बहुत गहराई वाला पोखरा पश्चिम दिशा में आधा मील दूर है, जो चारों तरफ के भीटों पर बड़े-बड़े पेड़ों से घिरा हुआ है। मैं उसी दिशा में पोखरे की तलाश में भीटों वाले बड़े-बड़े पेड़ों को ढूँढ़ने लगा। कुछ दूर चलने पर सामने देखा कि चतुर्भुज की आकृति में घसियारिनों द्वारा बतायी गई पेड़ों की झुरमुटें साफ झलकने लगीं। तभी सामने से एक छात्र आते दिखाई दिए। वे बबुरा धनहुवां के पास के ही रहने वाले थे किन्तु हमारे शेरपुर कुटी के हाईस्कूल में नवीं कक्षा में पढ़ते थे। उस स्कूल के अधिकतर छात्र किसी भी कक्षा के छात्रों को जानते-पहचानते थे। अतः पोखरे की तरफ से आते हुए रामचरन यादवजी मुझे देखकर बोल पड़े: 'आज त कौनो काम ना होई। ई कनवा सम्हने पड़ि गयल।' इसके बाद उन्होंने तेज आवाज़ में पूछा: 'कहंबा जात हउवे रे कनवा ?' मैंने पोखरे में नहाने जाने की बात बता दी। इतना सुनते ही उन्होंने उसी शेरपुर कुटी की रामलीला के ऋषि परशुराम की तरह रौद्र मुद्रा में चाँटा तानते हुए आदेश दिया: 'जल्दी से भाग चमार कहीं क। बड़कन लोगन के पोखरा में तू नहइबे ?' रामचरन की इस रौद्र मुद्रा से मैं भयानक रूप से डर गया। ऐसा लगा कि मानो वे अपनी आँखों से ही मुझे खा जाएँगे। इसलिए उस अनजान जगह पर मैं डरकर दौड़ते हुए इम्तहान स्थल की ओर भागा था। इम्तहान के कुछ घण्टे पहले हुई इस घटना से मेरा मनोबल एकदम टूट सा गया था। उधर दादी द्वारा बतायी गई चमरिया माई की मनौती की चिन्ता से घबरा गया था। सोचता था कि बिना नहाए मनौती कैसे मानूँ कुछ समझ में नहीं आ रहा था। अकाल की विभीषिका से कहीं पानी का स्रोत नज़र नहीं आ रहा था। संयोगवश बबुरा धनहुवां के स्कूल के प्रांगण में एक नल(हैंडपंप) गड़ा हुआ था। डर के मारे हम उसे नहीं छूते थे। मुझे बड़ी राहत मिली जब मेरे सहपाठी संकठासिंह ने नल चलाकर मेरे हाथ-पैर धुलवाया। मैंने किसी को कुछ नहीं बताया। चुपके से थोड़ी दूर पर स्थित एक ताड़ के पेड़ की आड़ में बैठकर चमरिया माई के थान की दिशा में देखते हुए मैंने 'धार-पुजौरा' की मनौती माना। किन्तु रामचरन यादव का वह रौद्र रूप मेरे दिमाग में बड़ी गहराई से अटक गया था। लगता था कि इम्तहान में फेल हो जाऊँगा। मन में दुर्भावना उफनती थी कि यदि क्षमता होती तो बदला ज़रूर लेता, हकीकत में सब कुछ असम्भव था। बचपन की असहाय

यादों में यह भी एक ऐसी याद थी, जो वर्षों तक मेरे दिमाग को हरदम कुरेदती रही। किन्तु इसके लगभग दो दशक बाद जब महाकवि शूद्रक का सदाबहार नाटक 'मृच्छकटिकम्' (मिट्टी की गाड़ी) के आठवें अंक को पढ़ने का मौका मिला, तो सारी दुर्भावना हमेशा के लिए मिट गई। नाटक का प्रमुख पात्र नायिका वसन्तसेना का प्रेमी चारुदत्त एक बौद्ध भिक्षु को रास्ते में आता देखकर बोल पड़ता है : 'कथम् अभिमुखम् न अभ्युदयिकम् श्रमणक दर्शनम् ?' अर्थात् बौद्ध भिक्षु का सामना हो गया, अब अवश्य ही अनिष्ट होगा। अनिष्ट समझकर चारुदत्त तो चला जाता है, किन्तु नाटक का दूसरा पात्र राजा का साला संस्थानक तथा शकार जब बौद्ध भिक्षु को देखते हैं, तो वे अनिष्ट होने की कल्पना से आगबबूला हो जाते हैं। वह भिक्षु पोखरे से नहाकर लौटते हुए लुटेरी इन्द्रियों से सबको सचेत रहने तथा सबके कल्याण की बात कहता आ रहा था। फिर भी शकार क्रोधित होकर कहता है कि जिस तरह शराबखाने में चिखना के लिए मूली तोड़ी जाती है, मैं वैसे ही तेरा (भिक्षु) सिर तोड़ता हूँ। जब बौद्ध भिक्षु यह कहता है : 'शाअदम् पशीददु उपाशके' अर्थात् गुस्सा मत करिए उपासक, मैं आपका स्वागत करता हूँ, तो शकार उसे गाली समझता है और वह बौद्ध भिक्षु को मारने लगता है। साथ ही यह भी कहता है कि जिस तालाब को राजा ने कुत्तों तथा सियारों के पानी पीने के लिए खुदवाया था, उसमें तुम अपनी दुर्गन्धित काया तथा गंदे चीवर को धोकर आ रहे हो ? अन्ततोगत्वा बौद्ध भिक्षु सबके कल्याण की बात कहते हुए चला जाता है किन्तु उसकी हर बात को वे गाली ही समझते हैं। जाहिर है प्राचीनकाल में वैदिक हिंसावादियों द्वारा चलाए जा रहे बौद्धविरोधी अभियान के दौर में लिखे गए इस नाटक में जाति व्यवस्था विरोधी बौद्धों को अपशकुन समझा जाता था। उस जमाने में वैदिकों की बौद्धों के बारे में यह आम अवधारणा थी, जिसकी अभिव्यक्ति 'मृच्छकटिकम्' में एक सौन्दर्यशास्त्रीय विधा में शूद्रक ने की है। बबुरा धनहुवां के पोखरे परपहुँचने से पहले जो कुछ मेरे साथ उस अकाल की कड़की में हुआ, उसमें रामचरन भैया मेरे आधुनिक शकार ही थे। यदि मैं उस समय 'मृच्छकटिकम्' के उस बौद्ध भिक्षु के बारे में जानता होता, तो शायद उतनी पीड़ा की अनुभूति नहीं होती, किन्तु दो दशक बाद जब बौद्ध दर्शन मेरे रोम-रोम में घर कर गया था तो 'मृच्छकटिकम्' से अवगत होने पर मुझे ऐसा लगा कि मानो सदियों पूर्व लिखे गए इस नाटक में वह बौद्ध भिक्षु मैं ही था। इस घटना ने उस पुरानी पीड़ा से मुझे मुक्त कर दिया। और मुझे लगने लगा कि वैसी दुर्घटनाएँ बदले की भावना से नहीं, बल्कि वैचारिक चेतना से ही रोकी जा सकती हैं। जो भी हो, उस ताड़ के पेड़ की आड़ में उदास बैठा चमरिया माई को मनौती मनाते हुए मैं बड़ी देर तक रोया था। आँख पोंछते-पोंछते मेरे दोनों हाथ अच्छी तरह धुल गए थे। अपशकुन या अनिष्टकारी होने की यह एक असहाय पीड़ा थी। इसी माहौल में मैं पाँचवीं कक्षा की परीक्षा में शामिल हुआ। रात में अन्य दलित छात्रों के साथ स्कूल के बाहर मैदान में अंगोछा बिछाकर मौन रुदन के साथ सोया। सोने या रोने से पहले वही लाटा-सत्तू काम आया। दूसरे दिन अन्तिम परीक्षा पीटी यानी व्यायाम से सम्बन्धित थी। इसके तहत गणित दौड़ सबसे अन्त में आयोजित हुई। कुछ जबानी सवाल पूछे गए। मैं उत्तर के साथ जब विजय रेखा की तरफ दौड़ा तो मुझे लगा कि रामचरन यादव मुझे मारने के लिए मेरे पीछे दौड़ रहे हैं। इसी कल्पना ने मुझे सबसे पहले विजय रेखा पर खड़ा कर दिया। मेरे स्कूल के सारे अध्यापकों ने जोरदार तालियाँ ठोंकी। शाम को पाँचवीं का रिजल्ट घोषित किया गया। उस परीक्षा स्थल पर मैं प्रथम घोषित हुआ। उस दिन हेडमास्टर परशुरामसिंह अत्यन्त गद्‌गद् हुए थे। वे दुखित भाव से बोले : 'आगे तोहार साथ छूटि जाई।' जाहिर था कि पाँचवीं के बाद अगले दर्जा की पढ़ाई के लिए अलग स्कूल

था। हम पुनः उसी परेड की मुद्रा में चलते हुए अपने-अपने गाँव वापस आ गए। दूसरे दिन दादी की हिदायत पर मनौती के अनुसार चमरिया माई के थान पर जाकर मैंने धार-पुजौरा चढ़ाया।

* * *

इस दौरान अकाल के कारण पशुओं के चारा का भी टोटा पड़ गया था। अनेक पालतू पशु भूख तथा बीमारी से पीड़ित हो गए थे। उस वर्ष गाँव में अनेक गाय, भैंस तथा बैल मरने लगे थे। हमारे घर में एक कलोरी गाय (यानी कुँआरी गाय) बीमार होकर मर गई। उस समय एक परम्परा के अनुसार गाँव का कोई भी हरवाहा अपने मालिक ज़मींदार के मरे पशु की खाल निकालकर उसे बेचने से मिले धन को अपने पास रख लेता था। ऐसे चमड़ों की कीमत प्रायः बीस रुपया होती थी। इस तरह के मरे पशुओं को दलित बाँस की काड़ी में पैर की तरफ से बाँधकर डोली की तरह ढोते हुए मुर्दहिया पर ले जाते थे। वहीं चमड़े छुड़ाए जाते थे। हमारे घर में मुन्नर चाचा चमड़ा छुड़ाने में माहिर थे। चमड़ा छुड़ाते समय उन्हें हमेशा एक टहलुवा (यानी उनके अनुसार काम करने वाला) की ज़रूरत होती थी। जब हमारे घर वाली कलोरी गाय मरी तो छह आदमी काड़ी पर ढोते हुए मुर्दहिया पर ले गए थे। मुन्नर चाचा कहने लगे कि उस छुट्टी में मैं चमड़ा छुड़ाना धीरे-धीरे सीख जाऊँ ताकि भविष्य में इस 'चर्मकला' में पारंगत हो सकूँ। हम दोनों ने ज़मीन पर पड़ी मुर्दा गाय को पैरों की तरफ से ठेलकर पेट को उतान किया। मुन्नर चाचा ने मुझे आदेश दिया कि मैं गाय के पिछले पैरों को पकड़कर ऊपर ताने रहूँ। मैंने वैसा ही किया। अब गाय का पेट सीधे ऊपर था। मुन्नर चाचा ने एक बड़ी-सी छुरी को एक छोटे से पत्थर से रगड़कर तेज किया। पत्थर से रगड़ने के कारण छुरी से निकलती हुई 'कर्र-कर्र' की ध्वनि ने मुर्दहिया के सन्नाटे को भंग कर दिया। देखते ही देखते मुन्नर चाचा ने गाय के गर्दन के निचले हिस्से में छुरी भोंक दी तथा तेजी से पूरे पेट को चीरते हुए पिछली टाँगों के बीच से आर-पार कर दी। उनके आदेशानुसार मैं दोनों टाँगों को ऊपर उठाए पकड़े रहा। उन्होंने चीरे हुए पेट के दोनों तरफ के चमड़ों को एक-एक बित्ता चौड़ाई के साथ छुड़ा दिया। फिर उन्होंने कहा कि मैं उनके साथ एक तरफ का चमड़ा पकड़कर उल्टी दिशा में उचाड़ने में मदद करूँ। इस विधि से हम दोनों ने पेट के दोनों तरफ से चमड़े को उचाड़कर पीठ की तरफ ला दिया। इस दौरान जहाँ छुरी की ज़रूरत होती थी, मुन्नर चाचा उसे चला देते थे। अब गाय का लगभग पूरा शरीर चुकचुकाते खून से लथपथ रक्त के टीले जैसा दिखाई देने लगा। जैसा कि स्वाभाविक था, अचानक सैकड़ों गिद्ध आसमान में मँडराने लगे। कुछ गिद्ध बहुत नीचे उड़ान भरते हुए मांस नोचने के लिए झपट्टा मारने लगे। मैं बेतहाशा डर गया था, क्योंकि गिद्ध के चोंच मुन्नर चाचा की छुरी से कहीं ज़्यादा तेज थे। यदि किसी गिद्ध की चोंच मेरे हाथों पर लग जाती तो मैं भी स्वयं उस मुर्दा गाय का एक हिस्सा बनकर रह जाता। जाहिर है, वह मुर्दा गाय गिद्धों के लिए अकाल की एक लहलहाती फसल थी, जिस पर वे अधिकार करने के लिए बेताब थे। अभी चमड़ा पूरी तरह से छुड़ाया नहीं जा सका था। चाचा के कहने पर मैं मुर्दहिया की झाड़ियों से एक लम्बी डाल तोड़कर गाय के ऊपर आसमान में 'हाहो-हाहो' करते हुए घुमाता रहा। इस दौरान मुन्नर चाचा ने पूरा चमड़ा छुड़ाकर चादर की तरह चौपत कर मेरे सिर पर रख दिया। हम अपने घर की तरफ चल पड़े और सारे गिद्ध गोमांस पिण्ड पर गिर पड़े। बीच-बीच में कुत्ते आपस में कोंयं-कोंयं करके लड़ते रहे और उस मांसपिण्ड को नोचते हुए गिद्ध मजा उड़ाते रहे। इसके बाद मैं अनेक बार इस तरह की चामछुड़ाई के अवसाद से पीड़ित रहा,

किन्तु इसका एक रोचक पहलू यह था कि मरे पशुओं के मांसपिण्ड पर झपट्टा मारते हुए गिद्धों के बीच खड़ा होकर झाड़ियों से उन्हें भगाने में मुझे एक अनोखी कलाकृति का अभिन्न अंग होने जैसी अनुभूति होती थी। ऐसे अवसरों पर मुर्दहिया पर मुर्दा मांस खाने के बाद सैकड़ों गिद्ध उस पशु कंकाल से थोड़ी दूर हटकर अपनी टेढ़ी घेंटी लिए घण्टों तक मौनव्रती के रूप में किसी तपस्वी की तरह बैठे रहते थे। जाहिर है उनके अपने वजन से ज़्यादा मांसपिण्ड का वजन उनके पेट में रहता था, इसलिए वे जल्दी उड़ नहीं पाते थे। घण्टों तक शान्त बैठे ये गिद्ध ऐसा लगता था कि मानो वे मुर्दहिया के भूतों को शोकांजलि देने के लिए विपस्सना कर रहे हों। गिद्ध रात में कुछ भी नहीं खाते थे। इस मायने में वे बौद्ध भिखुओं जैसे होते हैं, जो दिन में सिर्फ़ एक बार भोजन करते हैं। सांझ होते ही डूबते सूरज को देखकर यकायक ये गिद्ध शोर मचाते हुए विभिन्न दिशाओं में स्थित अपने खोतों की तरफ उड़ान भरने लगते थे। उनकी ये उड़ानें युद्धक विमानों की तरह लगती थीं। मुर्दहिया के पास स्थित खोतों वाले पीपल तथा बरगद के पेड़ों पर वे काफी नीचे से उड़ान भरते थे। उस समय उनकी उड़ान से उत्पन्न सांय-सांय करती हवाओं से बड़ी डरावनी भुतही कल्पना साकार हो उठती थी। इन खोतों से मुश्किल से एक फर्लांग की दूरी पर हमारा घर था। अतः डांगर खाने के बाद वाली रात को ये गिद्ध रह-रहकर बड़े जोर से चिंघाड़ने लगते थे। मेरी दादी कहती थी कि गिद्धवा ढेर खाइ लेहले हउवैं, येहि मारे पेटवा दुखात हउवै, जौने कारन ऊ चिल्लावै लगै लं। चाहे जो भी हो, गिद्धों का यह सम्पूर्ण माजरा मुझे बार-बार मोहित करता रहता था। कभी-कभी मैं कल्पना करता कि यदि मैं भी उन्हीं खोतों में गिद्धों के साथ रहता तथा उनके ही जैसी उड़ानें भरता, तो शायद लोगों के लिए अपशकुन या अनिष्टकारी होने से बच जाता।

* * *

इस ऊहापोह के दौरान एक अजीब हादसा हो गया। जेदी चाचा वहीं बंसू पांड़े के यहाँ फिर से हरवाही करने लगे थे। उचित बनि की माँग के कारण वे अक्सर झगड़ पड़ते थे। उनके इस स्वभाव के कारण बंसू ने बकरी चोरी के आरोप में सबक सिखाने के लिए चिरैयाकोट थाने के एक ब्राह्मण सिपाही, जिससे उनकी दोस्ती थी, को बुलाकर जेदी चाचा को बहुत पिटवाया और डोरी में बाँधकर थाने ले जाने की तैयारी करने लगे। विचित्र तथ्य यह था कि बंसू के पास कोई बकरी थी ही नहीं। किसी तरह जेदी चाचा पाँच रुपया घूस देकर पुलिस से छुटकारा पाए। पुलिस से इस बार भी हम सभी बुरी तरह से डर गए थे। बंसू पांड़े के इस छलिया कपट से आघातित होकर जेदी चाचा प्रतिरोधस्वरूप एक नए किस्म का सत्याग्रह करने लगे। वे सब काम-धाम बंद कर दाढ़ी-मूँछ बढ़ाना शुरू कर दिए तथा निचंड धूप में चारपाई डालकर एक चादर ओढ़कर दिन भर सोते रहते थे। पूछने पर कहते थे कि जब तक बाभन न्याय नहीं करते, मैं दाढ़ी-मूँछ बढ़ाता रहूँगा तथा धूप में ही सोऊँगा। वे इस मामले में निहायत जिद्दी थे। पंचायत आदि द्वारा किसी अन्य समझौते को वे मानने से साफ इनकार कर दिए थे। धीरे-धीरे वे बीमार पड़ने लगे। अन्ततोगत्वा उसी अकाल में वे प्राण त्याग दिए। उनकी मृत्यु से बड़ा शोकमय वातावरण हो गया था। जेदी चाचा गुरमुख थे। वे शिवनारायण पंथ को मानने वाले थे। जब-जब हमारे घर गादी लगती थी, जेदी चाचा संतौवा गायकी में माहिर थे। उनकी बड़ी बुलंदआवाज़ थी। जब संतौवा ढोल-मजीरे के साथ अपनी चरम सीमा पर होता था, तो जेदी चाचा अचानक खड़े होकर बहुत जोर से डाँटने की शैली में 'ह्वै' बोल पड़ते थे। उनके इस जोरदार

'ह्वै' से संतौवा का आकर्षण बेहद रोचक बन जाता था। ऐसे अवसरों पर मैं इंतज़ार करता रहता था कि कब जेदी चाचा 'ह्वै' कहकर डाँटते हैं ? जब उनकी लाश दफनाने के लिए मुर्दहिया पर ले जायी जा रही थी तो शिवनारायण पंथ की परम्परा के अनुसार संतौवा के दौरान कई लोगों ने उनकी इस डाँटने वाली शैली का अनुसरण करना चाहा, किन्तु वो बात कहाँ जो जेदी चाचा में थी। मैं भी उनकी लाश के पीछे-पीछे मुर्दहिया पर गया था। उनके दफ़न के साथ ही वहाँ के भूतों की आबादी में एक और नाम जुड़ गया। उनकी कब्र से लौटते हुए मेरे मस्तिष्क में उनके ये शब्द चरचेलवा, मसपोटम, फैटर, डमडम, खम्मा, दजला आदि शोर मचाते रहे। आज जब मैं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक बड़े सेंटर का प्रोफेसर एवं अध्यक्ष बन चुका हूँ, तो यह स्वीकारने में गर्व होता है कि इसके पीछे मेरी प्रेरणा के असली जनक वे तीन गरीब मजदूर थे, जिन्होंने मुझे छोटी उम्र में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तरफ अनजाने में ही खींचा था। इनमें एक थे सोवियत संघ में 'समोहीखेती' वाले मुन्नर चाचा, दूसरे डांगे को 'डंगरिया' कहने वाले सोनई तथा तीसरे थे, दढ़ियल जेदी चाचा।

* * *

उधर हमारा स्कूल भी जाड़े की शुरुआत होते ही अनेक सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। पहली पंचवर्षीय योजना चालू तो पहले ही हो गई थी, किन्तु उसका प्रभाव कहीं नहीं नज़र आता था। पहली बार सन् 1959-60 के जाड़ों में हमारे क्षेत्र के जहानागंज कस्बे में ब्लॉक विकास केन्द्र खोला गया था, जिसके तहत विभिन्न स्कूलों में कृषि प्रदर्शनी आयोजित होने लगी। अनेक सरकारी अधिकारी जैसे ए॰डी॰ओ॰, बी॰डी॰ओ॰, तहसीलदार तथा डी॰एम॰ आदि इन स्कूलों का दौरा करने लगे। ऐसी प्रदर्शनियों के अवसर पर मुझे यह अनुभव होने लगा था कि दो वर्ष पहले कौड़ा तापते हुए मुन्नर चाचा जो कुछ भी रूस में 'समोही खेती' या नेहरू की योजना के बारे में बताते थे, उसका साकार रूप इनमें दिखाई देने लगा था। उस समय हमारे स्कूल पर बहुत बड़ा मेला लगा हुआ था। प्रदर्शनी में लहलहाती फसलों के बड़े-बड़े नमूने रखे गए थे। वहाँ बड़ी संख्या में किसान आते थे। शाम के समय बड़े स्तर पर सांस्कृतिक कार्यक्रम ब्लॉक द्वारा आयोजित किए जाते थे। उस समय जहानागंज ब्लॉक के एक मशहूर 'बिरहा गायक' थे, जो अपनी गायन शैली में विकास कार्यक्रमों को भी शामिल किए हुए थे। उनका नाम था जयश्री यादव। लोहे का करताल बजाते हुए जब बुलंद आवाज़ में इन लाइनों–

'होइहैं अब कल्यान पंचवर्षीय योजना से –
हरा-भरा खेत-खलिहान पंचवर्षीय योजना से',

– को गाते थे, तो सभी रोमांचित हो उठते थे। ऐसी प्रदर्शनियों के बाद गाँव-गाँव में ग्रामसेवक घूमने लगे। साथ में कभी-कभी स्कूलों के कृषि छात्र भी होते थे। वे सभी डिबलर से बीज बोने के लिए किसानों को प्रेरित करते रहते थे। 'डिबलर' लकड़ी का एक दर्जन खूटियों वाला चौकोर खाँचा होता था। इसके इस्तेमाल से खेत में खूटियों द्वारा बनाए गए छेद में फसलों के बीज बोए जाते थे। उस समय डिबलर से खेती का वर्णन विभिन्न लोकगीतों में खूब मिलता था। इन सब क्रिया-कलापों से नेहरूजी की छवि ग्रामीण इलाकों में काफी निखरने लगी थी। लोग अकाल से उत्पन्न दुःख-दर्द को भूल गए थे। धान की अच्छी फसलों के बाद चैत-वैशाख के दिनों में जौ, गेहूँ,

चना, मटर आदि फसलों की कटाई से दलितों के बीच काफी ख़ुशहाली छा गई थी, इसका कारण था कुछ महीनों के लिए उचित भोजन व्यवस्था, इस सन्दर्भ में हमारे पूरे क्षेत्र दूर-दूर तक ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ज़मींदारों के बीच चमारों को लेकर एक काव्यात्मक मुहावरा प्रचलित था –

'भादों भैसा चइत चमार – इनसे कबहूँ लगै न पार',

इस निरादरपूर्ण अमानवीय अभिव्यक्ति में चमारों की पेट भरकर खाने की खिल्ली उड़ायी गई थी। उपर्युक्त उक्ति से यह भी प्रकट होता है कि भारत का सवर्ण समुदाय चमारों को भूखे पेट देखना ही ज़्यादा पसंद करता है। हाँ, यह भी अवश्य परिवर्तन आया कि चैत आते ही अकाल के दौरान बंद शादी-विवाह के समारोह एक बार फिर पुनर्जाग्रत हो गए। हल्दी की रस्म तथा 'मटमंगरा' के गीत दलित बस्तियों में गूँजने लगे। ऐसे अवसरों पर :

सोने की थारी में जेवना परोसो रामा,
जेवना ना जेवै हमार बलमा

यह एक अत्यन्त प्रचलित लोकगीत हुआ करता था, जिसे मटमंगरा से लेकर शादी के दिन तक लगातार गाया जाता था। इस दौरान दलितों की झोंपड़ियों की दीवारों पर कोहबर कलाकृतियाँ विभिन्न रंगों में उभड़कर अपना एक अलग ही सौन्दर्य बिखेरने लगती थीं। दीवार पर गेरू तथा हल्दी से जो पेंटिंग की जाती थी, उसे कोहबर कहा जाता था। ऐसी कलाकृतियों में केले का पेड़, हाथी, घोड़े, औरत, धनुष-बाण आदि शामिल होते थे। इन कलाकृतियों को 'कोहबर लिखना' कहा जाता था। चिट्ठी की तरह कोहबर लिखने के लिए भी गाँव वाले मेरी ही तलाश में रहते थे। अतः मैं जब तक गाँव में रहा, शादी किसी के घर हो, कोहबर मैं ही लिखता रहा। एक विशेष बात यह थी कि इन कोहबर कलाकृतियों का प्रचलन सवर्ण जातियों में नहीं था। इन परम्पराओं से जाहिर होता है कि सदियों से चला आ रहा दलितों का यह बहिष्कृत समुदाय एक अलौकिक कला एवं संगीत का नसिर्फ़ संरक्षक रहा, बल्कि उसका वाहक भी है। अशिक्षा के कारण लिपि का ज्ञान न होने के कारण दलित लोग सम्भवतः भारत के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अभिव्यक्ति के लिए कोहबर पेंटिंग का सहारा लिया था। शादी-विवाहों के इन अवसरों पर भांड़ मण्डलियों या नौटंकियों का आयोजन दलितों के बीच एक आम बात थी। इन अत्यन्त आकर्षक मण्डलियों या नौटंकियों में नाटक से लेकर गायक, तबलची, अभिनेता, स्वांग आदि कोई प्रोफेशनल व्यक्ति नहीं, बल्कि वही अधपेटवा गुजारा करने वाले हरवाहे हुआ करते थे। ऐसे अवसरों पर एक सिद्धहस्त कलाकार के रूप में उनकी प्रस्तुति से सदियों पुराने उनके दुःख-दर्द कुछ समय के लिए हवा में उड़ जाते थे। मेरे ननिहाल तरवां के एक चचेरे मौसा थे, जो एक बड़े हाजिरजवाब स्वांग (यानी मसखरे) थे। इन भांड़ मण्डलियों में वे सामाजिक कुरीतियों पर लोकशैली में तरह-तरह के व्यंग्य द्वारा प्रस्तुति को बहुत ही मार्मिक बना देते थे। उनका एक गीत मुझे आज भी स्मरण होते ही रोमांचित कर देता है जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

हरिजन जाति सहै दुख भारी हो।
हरिजन जाति सहै, दुख भारी॥
जेकर खेतवा दिन भर जोतली,

ऊहै देला गारी हो, दुख भारी॥
हरिजन जाति सहै, दुख भारी॥

इसी तरह बालविवाह जैसी कुरीतियों पर तीखी टिप्पणियाँ, जो नंगी सच्चाइयों का पर्दाफाश कर देने वाली होती थीं, उन्हें वही हरवाहे नर्तक गा-गाकर अपनी नृत्यकला को बेहद आकर्षक बना देते थे। उदाहरण के लिए :

मंत हौं जवान मोर बलमा लरिकइयाँ।
आधी-आधी रतिया का बाबा माँगै पनिया॥
मंत जनि पियासल बाबा ले के गइलों पनिया,
बाबा के बोहरिया परै, धइलै करिहइयाँ
ऊ त लगलैं बोलै, जइसे बकरन की नइयाँ॥

इसी कुरीति पर एक विरहा शैली में बड़ा ही लोकप्रिय गीत गाया जाता था, जिसकी इन पंक्तियों में बहुत गूढ़ तथ्य छिपे रहते थे, जैसे :

बाबा विदा करौ लं लरिका क मेहरिया
रहरिया में बाजै घुँघरू॥

उपर्युक्त पंक्ति में छिपा गूढ़ रहस्य यह है कि गाँवों में अरहर के साथ उस जमाने में हमेशा सनई की भी फसल मिलाकर तैयार की जाती थी। सनई से पटसन बनता था तथा उसके फूल का साग बहुत स्वादिष्ट होता था। इसमें मूँगफली जैसी सैकड़ों फलियाँ लग जाती थीं, जिनके अंदर तीसी की तरह बीज भरे रहते थे। सनई की ये फलियाँ जब पककर सूख जाती थीं, तो उनके तने जरा भी किसी चीज के स्पर्श से हिल जाते तो यकायक इनके पूरे पेड़ से सैकड़ों घुँघरू जैसी खनक गूँज उठती थी। उपर्युक्त लोकगीत में छिपा हुआ रहस्य यह है कि बालविवाह से उत्पन्न कुरीति के कारण बालक दूल्हे की जवान पत्नी को उसका ससुर अरहर और सनई की संयुक्त खड़ी फसल के बीच से जाने वाले रास्ते से विदा कराकर ले जा रहा है। अतः सामाजिक रूप से अमान्य व्यवहार के स्पर्श से गहन फसल के बीच सनई के पौधों से घुँघरू की गूँजती आवाजों से सारा रहस्य उजागर हो जाता है। 'गीतगोविन्दम्' में जयदेव द्वारा वर्णित कृष्ण के शारीरिक स्पर्श से राधा के पैरों में बँधी पायल के खनक जाने से जो रहस्य खुल जाता है, उससे कहीं ज़्यादा सौन्दर्यशास्त्रीय रहस्य इन अधपेटवा दलितों की सनई से उजागर हो जाता है। इस प्रकरण में सनई की फलियाँ राधा के पायल से कहीं ज़्यादा खनकती नज़र आती हैं। ऐसे ही पति के बूढ़े होने की शिकायत करती युवती का विरह इस लोकगीत में प्रस्फुटित हो जाता था :

कइसे सपरी हो भैया कइसे सपरी
मीलल हमके बूढ़वा भतार,
भैया कइसे सपरी,
होइहैं कइसे बेड़ा पार
भैया कइसे सपरी॥

इसी प्रकार इन नाच मण्डलियों में दलित समाज में किसी भी नई चीज को अन्धविश्वासों के दबाव में न स्वीकारने की भावना भी परिलक्षित होती रहती थी। उदाहरण के लिए जब सरकार अंग्रेजी डॉक्टरों को ग्रामीण क्षेत्रों के कस्बाई दवाखाने भेजने लगी तो दलित उनसे इलाज कराने में हिचकते थे। इसलिए वे अपने लोकगीतों में इन डॉक्टरों का मजाक अपनी बीमार बकरियों के माध्यम से उड़ाने लगते थे। जैसे :

हे डकडर बाबू बेमार भइली बकरी।
संझिया क चरि के अइली खेतवा में लतरी॥
हे डकडर बाबू बेमार भइली बकरी॥

इन लोककला मण्डलियों में लैला-मजनूँ, शीरी-फरहाद, सुल्ताना डाकू आदि जैसे नाटकों का मंचन भी दलित कलाकार बहुत आकर्षक ढंग से करते थे। इन सभी नाटकों का अन्त एक विचित्र समापन शैली में होता था। मूल नाटक के खत्म होते ही मुख्य कलाकार मंच पर आकर अपने दोनों हाथों को कमर पर रखकर दाएँ-बाएँ हिलाते हुए नृत्य शैली में 'मोहे ले चल रे – मोहे ले चल' गाने लगता था। कुतूहलवश एक के बाद एक सारे कलाकार बारी-बारी से मंच पर आते और सभी वैसा ही करना शुरू कर देते थे। ऐसा लगता था कि 'मोहे ले चल रे – मोहे ले चल' कोई छूत की बीमारी थी जो सबको लग जाती थी। इतना ही नहीं, अन्ततोगत्वा दर्शक भी 'मोहे ले चल रे – मोहे ले चल' गाने लगते थे। इस तरह, इस लोककला में दर्शक विलुप्त हो जाते थे। इस कड़ी में बरात प्रस्थान के समय एक खास किस्म का नृत्य किया जाता था जिसे 'दुक्कड़' कहते थे। यह बहुत शक्तिशाली नृत्य होता था। इसमें सिर्फ़ दो कलाकार एक दफलावादक तथा दूसरा दुक्कड़ची नर्तक होता था, दफले की जोरदार लक्कड़ ध्वनि पर नाचने वाला व्यक्ति गोलाकार आवृत्ति में नाचते हुए तरह-तरह की कलाबाजियाँ दिखाता रहता था। इन कलाबाजियों में उसका मुकाबला दफलची स्वयं करता था। मेरे दादा के छोटे भाई के बड़े बेटे सुन्नर काका सिद्धहस्त दुक्कड़ची थे। ऐसे ही एक नाच हुआ करता था 'हूड़क' की ध्वनि पर कहंरउवा। हूड़क डमरू की आकृति वाला उससे काफी बड़ा वाद्य होता था जिसे कलाकार अपनी बाँह के नीचे काँख में दबा लेता था तथा उसे अपनी केहुनी से बजाता था। यह बड़ा गजब का वाद्य होता था जिससे बहुत सुरीली कहरवा शैली में आवाज़ निकलती थी। वादक स्वयं जो कुछ गाता था, उसके बीच-बीच में 'दहि दहि दे – दहि दहि दे' नामक तकियाकलाम भी ठोक देता था। हूड़क वाले का 'दहि दहि दे' अत्यन्त आकर्षक होता था। उस जमाने में भी इस शैली वाले कलाकार बहुत कम मिलते थे। आज के जमाने में तो वे सम्भवतः विलुप्त ही हो गए हैं। मैं इन नाच मण्डलियों तथा लोककलाओं के पीछे एक तरह से पागल-सा हो गया था। अतः दूर-दूर तक के गाँवों में मैं रात भर घूम-घूमकर इन्हें देखने-सुनने जाया करता था। अक्सर मैं इन नाचों को देखने के बाद देर रात हो जाने के कारण उन्हीं गाँवों के मैदानों तथा खलिहानों में भूसा फैलाकर बरातियों के साथ सो जाता था तथा सुबह होते ही घर वापस आता था जिसके कारण घर पर मुझे भीषण गालीयुक्त अपमान से जूझना पड़ता था। एक रोचक बात यह थी कि इस तरह की सारी लोककलाएँ सिर्फ़ दलितों के बीच ही केन्द्रित थीं। सवर्ण जातियों में किसी तरह की लोककला मौजूद नहीं होती थी। शायद यही कारण था जिसके चलते इन कलाओं के साथ जातिसूचक विशेषण जुड़ गए थे जैसे – चमरउवा नाच या गाना, धोबियउवा नाच, कहैरउवा धुन, गोड़इता नाच (हूड़क के साथ) आदि।

इस तरह उस अकाल का दुर्दिनिया असर समाप्त होते ही दलित बस्तियाँ तरह-तरह की लोककलाओं से गुलजार हो गई थीं। इस बीच अंग्रेजी के चलते मेरी पढ़ाई और भी रोचक होने लगी थी। छठी कक्षा में कोई विशेष समस्या नहीं हुई और मैं सन् 1960 की जुलाई में सातवीं में चला गया।

* * *

स्कूल में मेरी पढ़ाई रंग लाने लगी। लेजर के समय अनेक छात्र मेरे साथ मैदान में बैठ जाते थे और कोई गणित तो कोई अंग्रेजी का ग्रामर पूछने लगता। मैं तुरन्त खपड़े से ज़मीन पर आदिमानव की तरह लिखना शुरू कर देता था। इस तरह मेरी समानान्तर कक्षा बारहों महीने जारी रही। शायद भविष्य में प्रोफेसर होने की यही मेरी पृष्ठभूमि थी।

5

भुतनिया नागिन

जैसा कि हमारे गाँव में एक नट परिवार रहता था, जिसके मुखिया सोफी थे। यह नट परिवार इस्लाम धर्म को मानता था किन्तु कभी वे नमाज आदि नहीं पढ़ते थे। उनका रहन-सहन सब कुछ हिन्दुओं जैसा था। यह परिवार सही मायनों में धर्मनिरपेक्षता की एक ज्वलन्त मिसाल था। सोफी की बड़ी बेटी ललती, जिसे समस्त ग्रामीणवासी 'नटिनिया' के नाम से पुकारते थे, वह मुझसे अंग्रेजी सीखने के लिए अति उत्सुक हो गई। वह पूर्णरूपेण अनपढ़ थी, किन्तु अंग्रेजी के विचित्र बोल ने उसे बेहद प्रभावित कर दिया था। नटिनिया अप्रतिम मोहक होने के साथ एक अत्यन्त कुशल नर्तकी थी। उन दिनों दिन भर मजदूरी करने के बाद दलित प्रायः विभिन्न गाँवों में ढोल की थाप पर लोकगायन के साथ अपनी थकान मिटाया करते थे। ढोल चाहे किसी गाँव में बजे, उसकी ध्वनि सुनते ही नटिनिया जहाँ भी हो, थिरकना शुरू कर देती थी। नाचना किसी से सीखा नहीं था, किन्तु उसे देखते ही ऐसा लगता था कि मानो वह नाचते ही पैदा हुई थी। उसके अंग-प्रत्यंग नृत्यकला के कल-पुर्जे जैसे लगते थे। यहाँ तक कि संध्या होते ही मुर्दहिया से चरकर लौटीं गाय-भैंसों की 'बांव बांव' वाली धुन पर भी वह नृत्य की दो-चार छलांगें लगा लेती थी। हम जब मुर्दहिया पर गोरू चराने जाते, नटिनिया अपनी झोंपड़ी से निकलकर हमारे बीच आ जाती और सबके साथ 'लखनी ओल्हापाती' तथा 'चिल्हिया चिल्होर' आदि सारे खेल खेलती। इन सबके अन्त में हम प्रायः अपनी गोरू हाँकने वाली लाठियों को किसी मेड़ या झाड़ी से ओठगांकर दो सूखी लकड़ियों से लाठी पर नगाड़े की तरह बजाना शुरू कर देते थे जिसके साथ ही शुरू हो जाती थी नटिनिया की अनोखी नृत्यकलाएँ। शायद दुनिया की वह पहली नर्तकी थी, जो मेरे जैसे नौसिखुए लट्ठवादकों की लक्कड़ ध्वनि पर किसी श्मशाम में यूँ ही नाचने लगती थी। कालान्तर में नृत्यकला में उसकी स्वाभाविक सहजता ने ही उसे बदनामी का शिकार बना दिया। मैं जब भी शाम के समय स्कूल से लौटते हुए मुर्दहिया से गुजरता, वह झोंपड़ी से निकलकर रास्ते में अपने अंकवार (दोनों बाँहों में) समा जाने वाले किसी पेड़ के तने को जकड़ लेती और अपने मुँह को निरन्तर कभी दाएँ तो कभी बाएँ घुमाते हुए मुझसे कहती : 'हमहूँ के रिंगरेजिया पढ़ाव रे बाबू।' वह ऐसा कहते हुए

एकदम दीन-हीन हो जाती थी। मैंने शुरू में उसे चिकनी ज़मीन पर खपड़े से लिखकर कुछ अक्षर सिखाने की कोशिश की, किन्तु उसके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता था। एक दिन वह एक आंवां से निकला हुआ नया थपुआ लेकर आयी। उस समय घर की छवाई के लिए कुम्हार गाँव में ही मिट्टी से थपुआ यानी टाइल पाथकर आंवां में आग से पका लेते थे। वह कहने लगी कि मैं दुधिया से थपुआ पर लिखकर पढ़ाऊँ। मैं वैसा ही करने लगा। 'ए बी सी डी' तो उसने पहले ही दिन रट लिया था, किन्तु लिखना असम्भव हो गया। मैं उसके हाथ में दुधिया पकड़वाकर लिखवाता, किन्तु जब वह स्वयं लिखती तो उसका हाथ काँपने लगता। शीघ्र ही उसके काँपते हाथ नाचने की मुद्रा में आ जाते थे। वह मेरी विकट शिष्या थी। तमाम कोशिशों के बावजूद मैं उसे लिखना नहीं सिखा पाया। अब वह इस बात पर जिद करने लगी कि वह अंग्रेजी बोलना सीख जाए। उसने मुझसे पहला अंग्रेजी अनुवाद पूछा : 'पिपरा पे गिधवा बइठल हउवैं।' मैंने उसे बताया : 'वल्चर्स आर सिटिंग आन पीपल ट्री।' यह वाक्य उसे इतना भाया कि उसने इसे तुरन्त रट लिया और यही वाक्य उसके जीवन का तकियाकलाम बन गया। वह जब भी मुझे देखती, 'वल्चर्स आर सिटिंग आन पीपल ट्री' से ही मेरा स्वागत करती। इतना ही नहीं वह किसी अन्य से भी बातें करते समय इन्हीं जुमलों को दोहराती रहती थी, किन्तु सबसे मजेदार बात यह थी कि वह जब भी उन गिद्धों वाले पीपल, जो उसकी झोंपड़ी से मुश्किल से सौ कदम दूर था, के पास होती, जोर-जोर से चिल्लाकर कहती : 'वल्चर्स आर सिटिंग आन पीपल ट्री।' नटिनिया की विचित्र बोली शैली में बोले जाने वाले इस वाक्य ने शीघ्र ही गाँव में कुतूहल के साथ कोहराम मचा दिया। मेरे घर वाले मुझे कहने लगे : 'ई त वारिया निकरि गयल।' अर्थात् 'यह आवारा हो गया है।' मेरे लिए यह एक नई मुश्किल थी। वह हमेशा अपनी उसी स्वाभाविक मुद्रा में किसी पेड़ को अंकवार में भरकर दाएँ-बाएँ मुँह फेरती हुई मेरा रास्ता रोक लेती और आगे कुछ और सिखाने की विनती करती। मैंने उसे अनेक छोटे-छोटे वाक्यों वाला अनुवाद सिखाया, किन्तु गिद्धों वाला वाक्य उस पीपल के पेड़ से उतरकर उसके मस्तिष्क में हमेशा के लिए छा गया था। बात की बात में वह उसी को दोहराती। उसके द्वारा बार-बार दोहराये जाने वाले इस वाक्य ने मुझे दलित बस्ती का सबसे बड़ा आवारा बना दिया था।

* * *

इन्हीं दिनों पिताजी के भाइयों में दूसरे नम्बर वाले भंडारी चाचा कलकत्ता की एक जूट मिल से रिटायर होकर घर वापस आए। उन्हें रिटायमेंट के बाद की कुल जमाराशि 1760 रुपये मिली थी। सभी लोग डाकुओं के डर से आतंकित थे। अतः मुन्नर चाचा जो घर के मालिक थे, इन रुपयों को डाकू-चोर के भय से एक कपड़े में बाँधकर रोज उसी भैंसउर में पड़ी चारपाई पर मेरी पीठ के नीचे रख देते थे। मैं इन्हीं नोटों पर हफ्तों सोया करता था। सुबह होते ही मुन्नर चाचा रुपयों को उठा ले जाते थे। बाद में एक बड़ा-सा आम का पेड़ खरीदा गया, जिसकी लकड़ी से पुराने घर को फिर से नया बनाया गया। उस समय आठ-दस आदमियों का एक ग्रुप 'लकड़चिरवा' कहलाता था। मेरे घर के रजई भैया लकड़चिरवा थे। लकड़चिरवा बहुत कम लोग होते थे, क्योंकि उन दिनों किसी हरे पेड़ को काटना महापाप समझा जाता था। अतः लकड़चिरवा ग्रुप स्वयं कभी किसी पेड़ को नहीं काटता था। उसके लिए दस-बीस गाँव में कोई एक व्यक्ति ऐसा होता था, जो पाँच रुपये लेकर किसी बिके हुए पेड़ की जड़ को पाँच टांगा मारकर काटता। इसके बाद लकड़चिरवा ग्रुप उस पेड़ को काटकर गिरा देता। इस पाँच

टांगा मारने वाले व्यक्ति को आम लोग बहुत बुरा समझते थे। हमारे पूरे इलाके में बैलाकोट नामक गाँव में ऐसा सिर्फ़ एक व्यक्ति था, जो घूम-घूमकर टांगा मारा करता था। उसकी जीविका का वही साधन था। पेड़ों की रक्षा के प्रति हमारे इलाके के ग्रामीण जीवन की यह अनोखी संवेदनशीलता थी। किसी भी हरे पेड़ के काटे जाने के बाद गाँव की महिलाएँ बहुत दुखित हो जाती थीं, विशेष रूप से मेरी बुढ़िया दादी बार-बार ऐसे पेड़ों का जिक्र करती रहती थी। वह अक्सर कहती कि पेड़ कटने से आसमान उदास लगने लगता है।

* * *

सन् 1962 के आते ही स्कूल तथा सभी ग्रामीण इलाकों की छटा बदलने लगी थी। कारण था देश का तीसरा आम चुनाव जो फरवरी में होने वाला था। उन दिनों पार्टियों के नेता जनसभाओं पर विशेष जोर न देकर गाँव-गाँव घूमकर चुनाव प्रचार करते थे, जिसके कारण गाँवों में बड़ा गर्मजोशी का माहौल बन जाता था। इसी माहौल में पहला सामना हुआ बनारस के विख्यात साधु स्वामी करपात्रीजी से, जो हमारे स्कूल में पधारे थे। हमारे स्कूल के संस्थापक बाबा हरिहरदास ने पहले ही सूचना दे दी थी कि स्वामीजी अमुक दिन आने वाले हैं। स्वामीजी के बारे में अध्यापक लोग कहते थे कि दोनों करों यानी हाथों में जितना भोजन अँटता है, उतना ही वे खाते हैं, इसलिए उनको 'करपात्री' कहा जाता है। इस तथ्य को जानकर हम सभी बहुत अचम्भित थे। उनके आने से पहले हमें स्कूल के पीछे पोखरा के किनारे आम के पेड़ों के नीचे बैठाया गया था। शीघ्र ही बाबा हरिहरदास, जो हमेशा श्वेत वस्त्रधारी रहते थे, गेरुवाधारी स्वामी करपात्रीजी को अपने मन्दिर से लेकर सभास्थल पर पहुँचे। तत्काल अध्यापकों के आदेशानुसार हम सभी छात्रों ने साष्टांग लेटकर दूर से ही उनको प्रमाण किया। उस समय हम सभी स्वामी करपात्रीजी के दर्शन से भावविभोर हो गए थे। वे बिना किसी प्रस्तावना के गाने लगे : 'श्री राम जै राम, जै जै राम'। हम सभी छात्र तथा अध्यापक पूरे एक घण्टे तक इस जाप को दोहराते रहे। इसके अलावा वे कुछ भी नहीं बोले। बाद में बाबा हरिहरदास ने बताया कि स्वामी करपात्रीजी देश में 'रामराज' लाने के लिए काम कर रहे हैं। जाहिर है कि उनकी पार्टी 'रामराज्य परिषद्' चुनाव मैदान में थी। मैं इस पार्टी के बारे में कुछ भी नहीं जानता था, किन्तु स्वामी करपात्रीजी से इस बात के लिए बहुत प्रभावित था कि दोनों हाथों में जितना अँटता है, उतना ही वे खाते हैं। बाद में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रजीवन में मुझे पहली बार 1968 में महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन की पुस्तक 'रामराज्य और मार्क्सवाद' से पता चला कि स्वामी करपात्रीजी ने 1957 में 'मार्क्सवाद और रामराज्य' नाम की एक भारी भरकम पुस्तक लिखी थी जिसमें उन्होंने सतीप्रथा तथा बालविवाह जैसी अनेक कुरीतियों का समर्थन किया था। इसके अलावा उन्होंने कम्युनिज्म का विरोध तो किया ही था। इतना ही नहीं, स्वामी करपात्रीजी ने काशी के प्रसिद्ध विश्वनाथ मन्दिर में दलितों के प्रवेश का जबर्दस्त विरोध किया था जिसके चलते वे जेल भी गए थे। इससे पहले स्वामीजी ने डॉ॰ अम्बेडकर द्वारा 1951 में प्रस्तुत 'हिन्दू कोड बिल' का विरोध करते हुए कहा था कि डॉ॰ अम्बेडकर हिन्दू धर्म को नहीं समझते, क्योंकि उन्हें संस्कृत नहीं आती। स्मरण रहे कि डॉ॰ अम्बेडकर 'हिन्दू कोड बिल' के माध्यम से भारत की समस्त महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार दिलाना चाहते थे, किन्तु हिन्दू कट्टरपंथियों के विरोध के चलते जवाहरलाल नेहरू ने बिल को वापस ले लिया था, जिसके विरोध में डॉ॰ अम्बेडकर ने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से इस्तीफा दे दिया था। इस्तीफे के बाद डॉ॰

अम्बेडकर ने कहा था कि जो योगदान वे भारतीय संविधान लिखकर नहीं कर पाए थे, उसे वे हिन्दू कोड बिल के माध्यम से पूरा करना चाहते थे। इन तमाम जानकारियों के बाद स्वामी करपात्रीजी के प्रति सातवें दर्जे में पढ़ते हुए जो अगाध श्रद्धा जागी थी, वह यकायक चकनाचूर हो गई। स्वामी करपात्रीजी के बाद 'जनसंघ' पार्टी के उम्मीदवार ने, जो रानीपुर इंटर कॉलेज के प्रिंसिपल थे, हमारे स्कूल में एक सभा की। वे बार-बार राणा प्रताप तथा रानी लक्ष्मीबाई का गुणगान करते हुए भाषण देने लगे। हमें उनकी बातें बड़ी उबाऊ सी लगती थीं। स्कूल के बड़े छात्रों का कहना था कि जनसंघ अमीरों की पार्टी है। हमारे क्षेत्र में जनसंघ के बारे में लड़के एक रोचक नारा लगाते थे। चूँकि जनसंघ का चुनाव चिह्न 'दीया-बाती' था, इसलिए लड़कों का नारा था: 'इस दीये में तेल नहीं – चुनाव जीतना खेल नहीं।' वास्तव में इस नारे को हमारे क्षेत्र में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने लोकप्रिय बनाया था। दूसरी तरफ कम्युनिस्ट पार्टी का भी काफी जोर था। एक बार फिर वही पुराने सुरजन राम, चन्द्रजीत यादव, श्रीनाथ पथरकटवा के साथ कुछ अन्य पार्टी कार्यकर्त्ता हमारे गाँव आए और पिछले चुनाव की तरह हमारे घर के सामने वाली दीवार पर 'हंसिया बाली' का चिह्न गेरू से बना दिया। उनकी मण्डली ने एक क्रान्तिकारी गाना गया, जो इस प्रकार था :

ललका झंडा
मोटका डंडा
कब उठइबा बलमू
ज़मींदरवा लुटेरवा
कब भगइबा बलमू।
ललका झंडा
मोटका झंडा
कब उठइबा बलमू।

कहरवा धुन वाला यह गाना मेरे दिमाग पर अपनी अमिट छाप छोड़ गया। इस गाने को फैजाबाद जिले के राजबली यादव नामक एक प्रसिद्ध कम्युनिस्ट लोकगायक ने लिखा था। मैं स्कूल से वापस आने के बाद बस्ती के अन्य बच्चों के साथ खलिहान में चला जाता। हम मैदान के कूड़ेदान में पड़े लोहे के टूटे गगरे को उठा लाते और उस पर नगाड़े की तरह लकड़ी से बजा-बजाकर 'ललका झंडा मोटका डंडा' वाला गाना शुरू कर देते थे। हम घण्टों तक इसे गाते रहते और हमारे इर्द-गिर्द बड़े लोगों की भी भीड़ इकट्ठा हो जाती। हम गोरू चराते जब कभी मुर्दहिया पर होते, तो हमारी इस लक्कड़ध्वनि पर नटिनिया नाच-नाचकर पागल-सी लगने लगती थी। राह चलते कल्पना में मैं 'ललका झंडा मोटका डंडा' लिए लोगों का हुजूम देखता। इसी हुजूम में मैं स्वयं को ढूँढ़ता। उधर पिछले चुनावों की ही तरह रात में ब्राह्मण हमारे घर आते, कौड़ा तापते तथ गांजा पीते हुए चुनाव चर्चा करते। कुल मिलाकर हमारे क्षेत्र में कांग्रेस, कम्युनिस्ट तथा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का काफी प्रभाव था, किन्तु हमारे गाँव में कोई जनसंघ का नामलेवा नहीं था। इस दौरान हमारी दलित बस्ती में एक विवाह समारोह के अवसर पर 'टुँटवा का नाच' आया। 'टुँटवा' की बेटी हमारे गाँव में ब्याही गई थी। वे जन्म से ही एक हाथ के टूटे थे। टूटे हाथ में पंजा नहीं था तथा पूरी बाँह बड़ी पतली थी। इसलिए उन्हें टुँटवा के नाम से जाना जाता था। वे अत्यन्त हाजिरजवाब स्वांग थे। उन्होंने एक नाचमण्डली खोल ली थी जिसे 'टुँटवा का नाच' के रूप में बहुत ख्याति मिली

थी । वे अपने पेट पर ढेर सारा कपड़ा बाँधकर मोटी तोंद बना लेते और फटी हुई कोट पैंट पहनकर सिर पर हैट लगाकर अंग्रेज बन जाते । अपने लूले हाथ को दूसरे हाथ की मुट्ठी में नीचे ऊपर करते हुए वे मंच पर एक नेता का अभिनय करते हुए गाने लगते :

हम्मै देदा वोट भैया हम्मै देदा वोट
दउरत दउरत फटि गइली है कोट
भैया हम्मै देदा वोट ।
लेला दस रुपया कै नोट
भैया हम्मै देदा वोट ।
बोलत बोलत सुखि गइलै हैं होंठ
भैया हम्मै देदा वोट ।

टुँटवा के इस व्यंग्य ने हमारे पूरे क्षेत्र में धूम मचा दिया था । हम लोग इस गाने को भी गगरे की लक्कड़ध्वनि पर खूब गाते और अपना मनोरंजन करते । टुँटवा भी एक अनपढ़ खेत मजदूर थे, किन्तु उनकी सामाजिक एवं राजनैतिक व्यंग्य शैली हरिशंकर परसाई जैसी थी । उनके मुख से निकले हुए स्वतःस्फूर्त डायलॉग श्रोताओं के मस्तिष्क में हिलती हुई लकीर जैसा कम्पन पैदा कर देते थे । उनके पास अपने सन्देश को संचारित करने की अद्‌भुत शैली थी । उनकी एक सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे पूर्वनियोजित ढंग से कोई गीत या डायलॉग तैयार नहीं रहते थे । चूँकि वे लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे, इसलिए मंच पर आते ही सामाजिक यथार्थ को देखते हुए उनकी वाणी प्रस्फुटित हो जाती थी । शीघ्र ही श्रोता उनके स्वर में अपना स्वर मिलाने लगते थे । टुँटवा की याद आने पर याद आता है गौतम बुद्ध का समकालीन वह व्यक्ति जिसका नाम था तालपुट नाटककार । तालपुट नाटककार की एक बृहत् नाटकमण्डली थी, जिसे लेकर वह गाँव-गाँव घूम-घूमकर नाटक दिखाता था, जिससे उनकी रोजी-रोटी चलती थी । एक दिन वह अपनी मण्डली के साथ श्रावस्ती पहुँचा और बुद्ध का उपदेश सुना, जिसके बाद वह बौद्ध भिक्षु बन गया ।

* * *

गाँव में अनेक शादियाँ होने वाली थीं । हमारी दो चचेरी बहनों की भी बरात आने वाली थी । उन दिनों हमारे गाँव के ब्राह्मणों की शादियों में एक शास्त्रार्थ की परम्परा थी । शादी के दूसरे दिन बरातियों द्वारा मजलिस सजायी जानी थी । यह कार्य अक्सर दोपहर बाद सम्पन्न होता था । मजलिस के दौरान घराती बराती आपस में तरह-तरह के सवाल-जवाब करते रहते थे । इन सवालों में धार्मिक सवाल ज़्यादातर होते थे । चूँकि आठवाँ दर्जा पास होते-होते मैं गाँव में काफी चर्चित हो चुका था, इसलिए दलित बस्ती के लोग कहने लगे कि अब गाँव में बरात आने पर ब्राह्मणों की ही तरह दलितों को भी शास्त्रार्थ करना चाहिए । दलित बस्ती में यह एक नई परम्परा स्थापित होने वाली थी, जिसका प्रमुख कारण था उस वर्ष वाली तनावपूर्ण होली । हमारी बस्ती के लोग यह दिखाना चाहते थे कि वे ब्राह्मणों से किसी मायने में कम नहीं हैं । 'कमरवा कमथरी' नामक गाँव से हमारे घर बरात आयी थी । मेरे गुस्सैल नग्गर चाचा की बेटी किस्मतिया की शादी थी । उन दिनों दलितों के विवाह समारोहों के

अवसर पर बाना-बनेठी, गदा, मुकदरबाजी, फरी, कलैया तथा कुश्ती आदि जैसी देशी कलाओं का काफी प्रचलन था। विवाह के दूसरे दिन दोपहर को उक्त सारी कलाओं का खूब प्रदर्शन हुआ, जिसमें घराती-बराती सभी शामिल हुए। इन्हें देखने के लिए आसपास के अनेक गाँवों के सैकड़ों लोग इकट्ठा हुए थे। इसके बाद महफिल सजायी गई, जिसे मजलिस कहा जाता था। वैसे तो फारसी भाषा में मजलिस का मतलब पार्लियामेंट होता है। सच मानें तो बरात के साथ जो मजलिस सजायी गई थी, वह सचमुच में अपने अर्थ के ही अनुरूप थी। गाँव के दलितों की माँग पर मुझे कहा गया कि बरातियों से 'शास्त्रार्थ' करूँ। इस तरह की मजलिसों में लोग एक बड़ी परात में काजू, किशमिश, गरी, मुनक्का आदि लेकर प्रसाद की तरह उपस्थित लोगों में बाँटते थे। साथ में सिगरेट, बीड़ी, पान का भी वितरण होता था। तेज गर्मी के कारण गुलाबजल से भरी पिचकारियाँ लोगों के चेहरों पर चलायी जाती थीं। उन दिनों गाँवों में बिजली का नामोनिशान नहीं था। इसलिए करीब चार फीट की गोलाई में कपड़े से बना झालरनुमा 'बेना' जिसे लाठी में पिरोकर एक ताकतवर आदमी दाएँ-बाएँ हिलाता था, तेज हवा का झोंका चल पड़ता था। ये मजलिसें मध्ययुग के सुल्तानों के दरबारों जैसी लगती थीं। ऐसे ही वातावरण में मुझे घर-गाँव वाले उकसाने लगे ताकि 'शास्त्रार्थ' शुरू हो जाए। शर्म के मारे मेरा हाल बेहाल था। नग्गर चाचा बार-बार कहते : 'पूछ पूछ, तोसे केहू ना जीत पाई।" ब्राह्मणों की बरात में पूछे जाने वाले धार्मिक प्रश्नों का मुझे अनुभव था। अतः काँपते-काँपते मैंने हिम्मत जुटायी। चूँकि मैं वर्षों से शाम के समय बस्ती वालों की उपस्थिति में 'रामचरितमानस' का पाठ किया करता था, इसलिए इस ग्रन्थ का पूरा वृत्तान्त मेरी जबान पर रहता था। उस सजी हुई मजलिस में हकलाते हुए खड़ा होकर मैंने बरातियों से पूछा कि रामचरितमानस की पहली चौपाई क्या है ? मेरे इस सवाल पर पूरी मजलिस में सन्नाटा छा गया। काफी देर तक कोई उत्तर नहीं आया। सन्नाटा जारी था। इसी बीच गाँव के फेरू काका ने जोर से चिल्लाकर कहा : 'बता दे बेटा, बता दे।' मैंने उत्साहवश गाकर सुनाया :

बंदऊँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥

इस उत्तर के साथ ही वहाँ इकट्ठे सैकड़ों घराती खड़े होकर तालियाँ बजाने लगे। नग्गर चाचा बार-बार कहते : 'अउर पूछ, अउर पूछ।' मेरा भी साहस ऐसा बढ़ा कि मैंने एक के बाद एक रामचरितमानस से प्रश्नों की झड़ी लगा दी। इन प्रश्नों में मनु-शतरूपा तप, मारीच प्रकरण, सीता-त्रिजटा संवाद, मेघनाद वध जैसे अनेक प्रश्न शामिल थे। बरातियों की ओर से कोई उत्तर नहीं आ पाया। घरातियों के दम्भ का ठिकाना नहीं रहा। इस विजय के दम्भ के कारण गाँव के पहलवान एक बार पुनः बाना-बनेठी भाँजने लगे जिसके कारण घरातियों-बरातियों के बीच काफी तनाव बढ़ गया। किसी तरह मामला शान्त हुआ। इस प्रथम 'शास्त्रार्थ' की विजय के बाद दूर-दूर स्थित दलित बस्तियों में विवाह के अवसर पर शास्त्रार्थ के लिए मेरी माँग बढ़ने लगी। आठवाँ दर्जा पास करते ही यह मेरी एक विचित्र उपलब्धि थी। मैं मजलिसों में शास्त्रार्थ के लिए काफी मशहूर हो गया था।

जुलाई 1962 में जब स्कूल खुला, तो नौवीं कक्षा का नजारा ही कुछ और था। मैं काफी उत्साहित था। अन्य विषयों के साथ 'रेखागणित' एक नया विषय था। मेरी रुचि इस विषय में इतनी बढ़ गई थी कि शीघ्र ही मैं किसी भी प्रमेय को हल कर लेता था। इन प्रमेयों में सबसे प्रमुख थी पाइथागोरस की प्रमेय जिसे पूरे स्कूल में सिर्फ़

मैं हल कर पाता था। लेजर के दौरान पहले की तरह ही मैं मैदान में बैठ जाता और अनेक लड़के मुझे घेरकर बैठ जाते और मैं ज़मीन पर खपड़े से लिखकर उन्हें प्रमेय हल करना सिखाने लगा। नौवीं कक्षा में मुझे रेखागणित सर्वाधिक प्रिय लगती थी। इस बीच न जाने क्यों मेरी कक्षा के कुछ छात्र मुझसे बहुत चिढ़ने लगे, जिनमें एक थे हीरालाल। वे लोहार जाति के थे, किन्तु अकारण वे मुझे 'चमरा-चमरा' कहकर बुलाते तथा बात-बात पर गालियाँ देने लगते थे। हीरालाल की एक विशेषता यह थी कि वे फुटबॉल के बहुत अच्छे खिलाड़ी थे। उनकी इस कला की सभी लोग सराहना करते थे। मैं भी उनका बड़ा प्रशंसक था, किन्तु वे मुझे जन्मजात दुश्मन समझने लगे थे। वे हमेशा कुछ क्षत्रिय छात्रों के साथ रहते और जातिसूचक गालियों का इस्तेमाल करते थे। इन लोगों के चलते कक्षा में मेरे लिए बैठना मुश्किल हो गया था।

* * *

भंडारी चाचा जब कलकत्ता से रिटायर्ड होकर आए, तो मेरे लिए वे वहीं से एक पाजामा लेते आए थे, किन्तु मैं शर्म के मारे उसे नहीं पहनता था। नौवीं कक्षा में बहुत सारे लड़के पाजामा पहनकर आते थे। एक दिन मैंने जैसे-तैसे हिम्मत जुटायी और पाजामा पहनकर स्कूल चला गया। शर्म के मारे पाजामा को ऊपर खोंस लिया था ताकि वह धोती की तरह लगे। पहले दिन एक बार कक्षा में बैठा, तो दिन भर बैठा ही रहा। शर्म के मारे उठा नहीं। बड़ी तेज पेशाब लगी थी, किन्तु अपनी दर से हटा नहीं। शाम को छुट्टी होने पर सबसे बाद में कक्षा से निकलकर पहले पास वाले अरहर के खेत में गया। वापस आने पर बड़ी राहत मिली। पाजामा पहने देखकर गाँव के ब्राह्मण कहते : 'बाप के पाद न आवे – पूत शंख बजावे।' जाहिर है मेरे बाप खेत में मजदूरी करते थे, इसलिए उक्त व्यंग्य मुझे बहुत खलता था, किन्तु कुछ जवाब नहीं दे पाता था। ब्राह्मण यह भी कहते : 'अरे ई त 'अणकुटवा' जइसन लगत हौ।' हमारे गाँव के पास वाले गाँव भुजही के रहने वाले दो मुस्लिम भाई थे, जो बड़ी संड़सीनुमा एक मशीन लेकर गाँव-गाँव घूमकर बैलों के अंडकोशों को कुचलकर बधिया करते थे। बैलों को बधिया करने का तरीका बड़ा निर्दयी होता था। बैलों को पटककर आठ-दस आदमी बाँस की काड़ियों से उसे सूअर की तरह दबाते रहते थे और इस तरह अणकुटवा उसे बधिया कर देते थे। वे भी मेरी तरह पाजामा ऊपर खोंस उटंग करके आते-जाते रहते थे। या यूँ कहें कि मैं उनकी तरह पाजामा खोंसकर चलता था। यही कारण था कि गाँव के ब्राह्मण मुझे अणकुटवा जैसा कहने लगे। धीरे-धीरे स्कूल में भी अनेक छात्र मुझे अणकुटवा कहने लगे। उधर मेरी दलित बस्ती के लोगों ने भी मेरे पाजामे के लगभग आधा दर्जन पर्यायवाची शब्द बना डाला, जिनका उल्लेख करना सम्भवतः भाषा की अवमानना होगी। इस बीच एक दिन मैंने स्कूल के बरामदे में खड़ी एक साइकिल के हैंडिल को छू दिया। यह साइकिल भुजही गाँव के रणबीरसिंह की थी। पूरे स्कूल में वही एक ऐसे व्यक्ति थे जो साइकिल से आते-जाते थे। मैंने ज्यों ही साइकिल को छुआ, अचानक पीछे से मेरे सिर पर जोर का तमाचा लगा और मैं गिर गया। उठने से पहले मुझे सुनना पड़ा : 'चरजामा पहिर के तोहार दिमगवा खराब होइ गयल है, सरऊ कहीं कै।' ऐसा सुनाने वाले कोई और नहीं, बल्कि स्वयं रणबीरसिंह थे, जो मेरे पीछे-पीछे आ रहे थे, जिन्हें मैं देख नहीं पाया था। यह घटना मेरे पाजामे की पराकाष्ठा थी। अन्ततोगत्वा इसने मुझे पिटवा ही दिया। यह पाजामा मेरे लिए एक मुसीबत बन गया

था। मैं कितना भी ऊपर खोंसकर उसे धोतीनुमा बनाता, वह उटंग होकर सही मायनों में मुझे अणकुटवा की श्रेणी में ला देता था। आखिर साला था तो पाजामा ही।

6

चले बुद्ध की राह

भविष्य में दार्शनिक उड़ान के हिसाब से नौवीं कक्षा की पढ़ाई एक नया मोड़ बनकर आई। अनेक अध्यापक अनेक गुण। प्रिंसिपल धर्मदेव मिश्र आजमगढ़ के वीररस के प्रसिद्ध कवि श्याम नारायण पांड़े के गाँव डुमराव के रहने वाले थे। स्मरण रहे कि वीररस में लिखी गई 'हल्दीघाटी' नामक रचना के चलते श्याम नारायण पांड़े को काफी प्रसिद्धि मिली थी। 'हल्दीघाटी' की ये पंक्तियाँ आज भी लाखों लोगों की जबान पर थिरकती रहती हैं :

रण बीच चौकड़ी भर-भर कर
'चेतक' बन गया निराला था।
राणाप्रताप के घोड़े से
पड़ गया हवा का पाला था॥

धर्मदेव मिश्र स्वयं कवि थे। कवि होने के नाते उन्होंने अपना उपनाम 'कमलेश' रख रखा था। हमारी कक्षा में उनका कोई निर्धारित कोर्स नहीं था। किन्तु कभी-कभी यूँ ही वे कक्षा में आकर हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित किसी भी विषय पर बहस करने लगते थे। उनकी ऐसी कक्षाएँ अत्यन्त रोचक हुआ करती थीं। एक दिन उन्होंने बताया कि कैसे हिन्दीभाषी लोगों को छोटा 'स' तथा बड़ा 'श' के बीच लिखते या बोलते समय फर्क करना नहीं आता। उदाहरण के लिए उन्होंने गाकर एक जुमला सुनाया :

शांई के शरपतवा में शांप बोलेला,
शांई मारै शिटकुनिया शे शपशपाशप

यह जुमला सुनते ही कक्षा में ठहाका गूँज उठा। परिणामस्वरूप खाली समय में बच्चे हमेशा इसी जुमले को प्रिंसिपल साहब के लहजे में गाते रहते थे।

* * *

ये कुछ ऐसी घटनाएँ थीं जिनके चलते साहित्य में सौन्दर्यशास्त्र के प्रति मेरी रुझान का सूत्रपात हुआ। हमें हिन्दी पढ़ाने वाले एक अध्यापक पारसनाथ पांड़े थे, जो राहुल सांस्कृत्यायन के गाँव कनैला के रहने वाले थे। वे कक्षा में अक्सर बताते थे कि राहुल सांकृत्यायन बचपन में ही घर से भाग गए थे तथा कम्युनिस्ट बनकर रूस में रहते हैं। उनका यह भी कहना था कि राहुल गोमांस खाते हैं तथा हिन्दू धर्म के विरोधी हैं। वे राहुलजी की प्रसिद्ध पुस्तक 'वोल्गा से गंगा' का नाम लेकर कहते कि इसके अलावा उन्होंने सैकड़ों किताबें लिखी हैं। राहुल

सांकृत्यायन के बारे में यह सब सुनकर मेरे मन में उत्कण्ठा जगती कि मैं भी उनके जैसा होता तो कितना अच्छा होता ? 'वोल्गा से गंगा' में क्या है, इसके बारे में पारसनाथ पांड़े कुछ भी नहीं बताते, किन्तु बार-बार कहते रहते थे कि यह पुस्तक सारे विश्व में जानी जाती है । इन सब बातों के अलावा पांड़ेजी की राहुल के बारे में कोई अन्य जानकारी नहीं थी । किन्तु राहुलजी का बचपन में घर से भागना, कम्युनिस्ट के रूप में रूस में रहना, गोमांस खाना, हिन्दू धर्म का विरोधी होना तथा 'वोल्गा से गंगा' की रचना आदि ऐसी जानकारियाँ थीं, जिनके चलते मेरे अंदर राहुल सांकृत्यायन के प्रति एक अजीब आकर्षण उत्पन्न हो गया। 'वोल्गा से गंगा' पढ़ने की इच्छा दिन-प्रतिदिन बलवती होती चली गई । इसकी अनुपलब्धता ने अपने आकर्षण को और भी तेज कर दिया था । इस दौरान सबसे ज़्यादा प्रभावशाली एवं दूरगामी सिद्ध हुआ अंग्रेजी का एक पाठ, जिसका शीर्षक था – 'गौतम बुद्ध' । यह पाठ नौवीं कक्षा की अंग्रेजी विषय की पुस्तक 'फाइटर्स ऑफ फ्रीडम' (स्वाधीनता के सेनानी) का हिस्सा था । इस पुस्तक में गौतम बुद्ध के अलावा अब्राहम लिंकन, गाँधी, नेहरू आदि छह महापुरुषों का चरित्र चित्रण था । इस पाठ्यक्रम को पढ़ाने वाले अध्यापक थे सूर्यभान सिंह। वे अत्यन्त गम्भीर तथा विनम्र स्वभाव वाले अध्यापक हुआ करते थे । अंग्रेजी पढ़ाते समय वे पहले एक-एक शब्द का हिन्दी में अर्थ बताते तथा बाद में पूरे वाक्य का अनुवाद । उनके द्वारा इस पद्धति से पढ़ाया गया हर पाठ मेरे दिमाग में एकदम चिपक-सा जाता था । गौतम बुद्ध वाले पाठ में वही थी पुरानी कहानी । एक राजा थे शुद्धोधन। उनकी रानी महामाया राजधानी कपिलवस्तु से अपने मायके जा रही थीं। रास्ते में प्रसव पीड़ा हुई। परिणामस्वरूप लुम्बिनी के जंगल में एक पेड़ के नीचे एक शिशु का जन्म हुआ । रानी शिशु के साथ कपिलवस्तु लौट आई । यही शिशु सिद्धार्थ कहलाया। सिद्धार्थ बचपन से ही एकान्तवासी निकले । बड़े होने पर एक दिन रथ पर सवार हो अपने सारथी के साथ घूमने निकले । इस दौरान उन्होंने एक जर्जर बूढ़े, एक गम्भीर रूप से बीमार तथा एक मृत व्यक्ति को देखा । सिद्धार्थ को प्रश्न के उत्तर में सारथी से जवाब मिला कि हर व्यक्ति की यही गति होती है । इसके बाद सिद्धार्थ को वैराग्य हुआ और वे सच्चे ज्ञान की तलाश में एक दिन रात के समय घोड़े पर चढ़कर महल से भाग निकले। राज्य की सीमा पर जाकर उन्होंने अपनी तलवार से अपने सिर के बालों को काट दिया तथा राजसी परिधान फेंककर भिखारी के रूप में निकल पड़े । अन्ततोगत्वा बोधगया में उन्हें एक पीपल के पेड़ के नीचे विकट विपस्सना के बाद ज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञानप्राप्ति के बाद उन्होंने सारनाथ में अपना पहला उपदेश दिया, जिसके बाद वे गौतम बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके ज्ञान का मुख्य निचोड़ था– दुनिया में दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का निवारण है तथा दुःख निवारण का मार्ग है। यही चार आर्यसत्य कहलाए। दुःख निवारण के मार्ग के रूप में उन्होंने प्रज्ञा, शील तथा समाधि से जुड़े आष्टांगिक मार्ग सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि का प्रचार किया । सबसे महत्त्वूपर्ण बात यह थी कि अपने सभी कर्मों में अतियों से विलग गौतम बुद्ध ने मध्यम मार्ग पर चलने की सलाह दी। यही था उनका महाज्ञान।

इस छोटे से पाठ ने मेरे मस्तिष्क में एक चलता-फिरता चलचित्र-सा छाप दिया था। हरदम घुड़सवार बुद्ध मेरी कल्पना से गुजरते रहे । मैं प्रायः अपने गाँव के बूढ़ों, बीमारों तथा कभी-कभी अपनी मुर्दहिया पर जाने वाले मुर्दों को घूर-घूर देखता और वैरागी होकर घर से भागने की कल्पना में डूब जाता । यह कल्पना दिन-प्रतिदिन बलवती इसलिए भी होती गई, क्योंकि मैं नौवीं कक्षा में पढ़ रहा था तथा दसवीं के बाद पढ़ाई हमेशा के लिए छूट

जाने वाली थी। हमारे उस पूरे इलाके में दूर-दूर तक कोई इंटर कॉलेज नहीं था। ऊपर से घर वाले पढ़ाई छुड़ाई पर एकदम नहट गए थे। इस संकट से उबरने का मेरे सामने कोई अन्य मार्ग नहीं था। हाईस्कूल के आगे ज्ञान की तलाश मुझे भी थी, इसलिए गौतम बुद्ध अत्यधिक प्रिय लगने लगे। निकट भविष्य में मेरा घर में भागना निश्चित हो गया। किन्तु हाईस्कूल की पढ़ाई पहाड़-सी लगने लगी। एक-एक दिन सालों जैसा लगने लगा। बस एक ही धुन हरदम सवार थी कि हाईस्कूल समाप्त हो और मैं बुद्ध की तरह घर से भाग जाऊँ। इस प्रक्रिया में मैं भी एकान्तवासी होने लगा।

* * *

नौवीं कक्षा की पढ़ाई समाप्त होते-होते मेरे जीवन की भावी दिशा भी निर्धारित हो चुकी थी। दर्शन से सम्बन्धित कोई भी सामग्री मुझे बहुत प्रभावित करने लगी थी। इस दौरान 14 अप्रैल, 1963 को चिरैयाकोट थाने से सूचना आई कि प्रख्यात विद्वान महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का निधन हो गया है, इसलिए दोपहर बाद स्कूल में छुट्टी रहेगी। उनकी मृत्यु की खबर से हमारे स्कूल में मातम छा गया था।

* * *

दसवीं के फाइनल इम्तहान के लिए फॉर्म भरे जा रहे थे। कुल तीस रुपये फीस जमा करना था। उन दिनों तीस रुपये एक बड़ी धनराशि थी। मेरी जैसी उस परिस्थिति में इतना धन उपलब्ध होना निश्चित रूप से एक बड़ा संकट था। घर से किसी तरह की सहायता पहले से ही बंद हो चुकी थी। मेरी दुर्दशा देखकर वही हिन्दी वाले अध्यापक सुग्रीवसिंह ने मेरे द्वारा बिना किसी आग्रह के स्वयं तीस रुपये फीस के रूप में जमा कर दिए। मुझे उन्होंने आश्वासन दिया कि और भी ज़रूरत पड़ने पर वे सहायता करते रहेंगे। स्कूल के एक अन्य अध्यापक रामबृक्षसिंह, जो पी०टी० मास्टर थे, ने भी सहायता की पेशकश की। स्कूल में उनकी ख्याति एक सुरीले गायक के रूप में थी। रामबृक्षसिंह भी सुग्रीवसिंह की तरह मेरे साथ बड़े सम्मान से पेश आते थे। मैंने रामबृक्षसिंह से कोई आर्थिक सहायता नहीं ली, किन्तु उस चिन्ताजनक संकट की घड़ी में ये दोनों अध्यापक मेरे लिए बहुत बड़े प्रेरणा के स्रोत सिद्ध हुए। परीक्षा का फॉर्म भरने के डेढ़ महीने बाद यू०पी० बोर्ड, इलाहाबाद से स्कूल पर सूचना आई कि हमें परीक्षा देने चंडेसर डिग्री कॉलेज जाना पड़ेगा। यह कॉलेज हमारे स्कूल से लगभग बारह किलोमीटर दूर आजमगढ़ जाने वाली सड़क पर स्थित था। पाँचों विषयों की परीक्षा का टाइमटेबल पूरे महीने भर जारी रहने वाला था, जिसका अर्थ यह था कि वहाँ हमें एक महीना टिकना था। चंडेसर डिग्री कॉलेज के संस्थापक भी एक साधु चन्द्रबलीसिंह 'ब्रह्मचारी' थे। इस कॉलेज में भी क्षत्रियों का बोलबाला था तथा यह मारपीट के लिए कुख्यात था। यह कॉलेज बहुत विशाल था, जहाँ करीब दर्जन भर हाई स्कूलों के परीक्षा केन्द्र हुआ करते थे। उन दिनों चंडेसर परीक्षा केन्द्र पर दलित परीक्षार्थियों में से अनेक जातीय हिंसा के शिकार हो जाते थे। कॉलेज प्रशासन द्वारा ऐसी हिंसा को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया जाता था जिससे परीक्षा के दौरान स्थिति काफी तनावपूर्ण हो जाती थी। अनेक स्कूलों से जो छात्र यहाँ परीक्षा देने आते थे, वे अपने ही स्कूल के दलित छात्रों को अकारण पीट दिया करते थे, जिसके चलते कई छात्र गम्भीर चोट लग जाने के कारण परीक्षा से वंचित हो जाते थे। परीक्षा शुरू होने के

एक सप्ताह पूर्व चिन्तामणिसिंह मुझे अपनी साइकिल पर बैठाकर चंडेसर ले गए, ताकि कहीं रुकने की व्यवस्था की जा सके। कॉलेज के पास एक छोटा-सा बाजार था, जिसमें चिन्तामणिसिंह ने अपने लिए एक कमरा किराये पर लिया, जिसका पूरे एक महीने का किराया पाँच रुपया था। चिन्तामणिसिंह मुझे अपने साथ रखना चाहते थे, किन्तु मकान-मालिक ने पहले ही साफ कह दिया था कि किसी 'चमार-सियार' को नहीं रहने दिया जाएगा। मकान-मालिक की इस शर्त से चिन्तामणिसिंह बहुत परेशानी में पड़ गए थे, किन्तु इसके निवारण का कोई अन्य उपाय नहीं था। अतः अपने मंगरपुर वाले तान्त्रिक रिश्तेदार के बेटे दीपचंद, जो चंडेसर के हाईस्कूल के छात्र थे, से मिलकर मैंने मकान संकट के बारे में बात की। दीपचंद स्वयं चंडेसर से करीब एक किलोमीटर पश्चिम धरवारे मोड़ पर एक दलित के घर में दो अन्य छात्रों के साथ रहते थे। वे मुझे चंडेसर कॉलेज के दक्षिण में स्थित दलित बस्ती में ले गए। यह बस्ती काफी विशाल थी, जिसमें कई सम्पन्न परिवार रहते थे। ऐसे ही एक परिवार के मालिक थे रूपराम। वह मुफ़्त में मुझे पूरी परीक्षा के दौरान अपने घर में रखने पर राजी हो गए। रूपराम परीक्षा के दौरान दलित छात्रों की समस्या से पूरी तरह परिचित थे। उन्होंने बताया कि पिछले साल यानी 1963 की परीक्षा के दौरान उनकी बस्ती में रह रहे चार परीक्षार्थियों पर रास्ते में ही उन्हीं के स्कूल के सवर्ण छात्रों ने हॉकी से हमला करके बुरी तरह घायल कर दिया था। यद्यपि मेरी किसी से दुश्मनी नहीं थी, किन्तु तत्कालीन वातावरण से मैं काफी भयभीत हो गया था। रहने का इंतजाम हो जाने के बाद मैं चिन्तामणिसिंह के साथ घर वापस चला आया। हमारी परीक्षा 4 मार्च, 1964 को शुरू होने वाली थी। अतः हमें दो दिन पहले परीक्षास्थल पर पहुँचना था, जिसके लिए मुझे पूरे एक महीने के राशन-पानी का इंतजाम करना था। मेरे घर का पूरा वृहद् संयुक्त परिवार मेरे खिलाफ असहयोग पर उतारू था। मेरी माँ ने दस-पन्द्रह दिन तक सुदेस्सर पांड़े के यहाँ किए गए काम के बदले मिलने वाली बनि उन्हीं के घर छोड़ रखी थी, ताकि वह इम्तहान स्थल पर मेरे खानपान के काम आ सके। बनि में मिले जौ को लाकर मेरी माँ ने जांता में पीसकर आटा मुझे चंडेसर ले जाने के लिए दिया। साथ में कुछ मटर की दाल तथा लाटा भी था। पिताजी ने सुदेस्सर पांड़े से दस रुपया उधारमाँगकर बाकी खर्चे के लिए दिया। इसी पूँजी के साथ गठरी-मोठरी लिए मैं जहानागंज तक पैदल जाकर वहाँ से आठ आना किराया देकर एक्के द्वारा दो दिन पहले चंडेसर पहुँचा। जिस एक्के से मैं चंडेसर आ रहा था, उसका एक्केवान घोड़े को चाबुक से मारता कम किन्तु गालियाँ बहुत ज़्यादा देता था। उसके अंदर मेरे नग्गर चाचा की छवि एकदम साकार हो उठी थी। उस दिन करीब पौन घण्टे के सफ़र में वह घोड़ा सैकड़ों गालियों से नवाजा गया। एक्केवान के व्यवहार से मैं सहम गया था। ऐसा लगता था कि मानो वे सारी गालियाँ मुझे पड़ रही थीं। चंडेसर पहुँचने के बाद एक्का से उतरकर मैं करीब एक किलोमीटर दक्षिण स्थित दलित बस्ती में रूपराम के घर पहुँचा। उनके घर एक अन्य स्कूल का छात्र दर्शन भी रहने आया था। हम दोनों अपना खाना उनके घर के सामने ईंट के चूल्हे पर लकड़ी जलाकर बना लेते थे। 4 मार्च को अंग्रेजी की परीक्षा होने वाली थी। चिन्तामणिसिंह ने परीक्षा के एक दिन पूर्व शाम को मुझे अपने निवास पर बुलाया था, ताकि मैं परीक्षा की तैयारी करा सकूँ। मैं निर्धारित समय पर उनके निवास पर गया तो देखा कि पहले से ही तेजबहादुर तथा मोहम्मद हनीफ वहाँ मौजूद थे। किन्तु सबसे चौंकाने वाली उपस्थिति थी हीरालाल की जो मुझे बात की बात में गालियाँ दे पड़ते थे। मुझे देखते ही हीरालाल ने कहा : 'का रे चमरा तं येहों आ गइले।' इस पर मैंने उनसे कहा कि आप मुझसे इस तरह क्यों बात करते हैं ? मेरा इतना कहना था कि हीरालाल मेरे ऊपर शेर की तरह झपट पड़े और जब तक चिन्तामणिसिंह उन्हें पकड़ें, वे तब तक मुझे चार चाँटे लगा चुके थे। ये वही

हीरालाल थे, जो मुझे बुलाने के लिए हमेशा 'चमरा-चमरा' शब्द का इस्तेमाल किया करते थे। चिन्तामणि के निवास से जाने के पहले उन्होंने मुझे यह कहकर धमकाया कि 'देख़त हईं तूं कइसे इम्तिहान दे ला'। हीरालाल के व्यवहार से मैं बहुत डर गया था। उस समय जातीय हिंसा के लिए कुख्यात चंडेसर मेरे लिए साकार हो उठा। इस घटना से मैं इतना आहत हुआ कि चिन्तामणि के लिए इम्तहान की पूर्वसंध्या पर कोई तैयारी नहीं करवा सका। बड़े दुखित मन से मैं आँसू बहाते हुए रूपराम के घर वापस आ गया। मुझे अत्यन्त परेशान देखकर वे कारण पूछने लगे। हिचकते हुए मैंने घटना बयान कर दी। वैसा सुनते ही रूपराम उठकर खड़े हो गए और पास-पड़ोस के लोगों को बुलाने लगे। वे कहते रहे कि अभी बस्ती से दस-पन्द्रह आदमी लाठी-भाला लेकर चलते हैं और उसका हाथ-पैर तोड़कर वापस आ जाते हैं। 'बिरादरी के लइकवन के ई गुंडवा हर साल पीटि देलैं, येप्पर रोक लगै के चाही', ऐसा कहते हुए रूपराम अपने घर के अंदर चले गए और लाठी में लगे एक नुकीले भाले के साथ बाहर आ गए। उस दिन रूपराम का रूप देखते ही बनता था। वे अत्यन्त उत्तेजित थे। यद्यपि वे मेरे लिए बिल्कुल नये थे, किन्तु दलित समुदाय के प्रति उनकी एकजुटता बेजोड़ थी। यदि मैं रूपराम की उत्तेजना का जरा भी शिकार हो जाता, तो उस दिन हीरालाल की खैर नहीं थी। मैं बार-बार ही सोचने लगा कि यहाँ तो रूपराम सबसे निपट लेंगे, किन्तु जब वापस गाँव चला जाऊँगा तो फिर क्या होगा ? इसलिए मैंने रूपराम को जैसे-तैसे शान्त किया। मैंने जब उनसे यह कहा कि यदि हम हिंसक लफड़े में फँस गए तो शायद हाईस्कूल की परीक्षा ठीक से नहीं दे सकेंगे और सब कुछ चौपट हो जाएगा। मेरी इस बात से सहमत होकर उन्होंने मारपीट वाला अपना इरादा छोड़ दिया। किन्तु जिस-जिस दिन हमारी परीक्षा होती, रूपराम हमेशा चार-पाँच लठैतों के साथ हमें परीक्षास्थल तक पहुँचाकर वापस आ जाते थे तथा तीन घण्टे बाद वे पुनः परीक्षास्थल से हमें अपने घर लाते थे। इस तरह चंडेसर के उस अपरिचित वातावरण में रूपराम मेरे लिए एक विश्वस्त संरक्षक सिद्ध हुए।

* * *

आखिरकार परीक्षाफल निकलने के एक दिन पहले जहानागंज में आजमगढ़ से लौटते हुए एक छात्र ने बताया कि कल यानी 18 जून, 1964 को परिणाम अवश्य ही प्रकाशित हो जाएगा। उस दिन मैं पड़ोस के गाँव मठिया के कुबेरराम, जो प्राइमरी स्कूल के अध्यापक थे, से साइकिल लेकर परीक्षाफल देखने आजमगढ़ रवाना हो गया। अभी मैं चंडेसर तक पहुँचा था कि घनघोर बारिश होने लगी। चंडेसर के बाहरी हिस्से में सड़क पर दोनों तरफ अनेक पीपल के बड़े-बड़े पेड़ थे। मैं बुरी तरह भीग गया था। वहीं एक पीपल की घनी छाया के नीचे मैं खड़ा होकर पानी बंद होने का इंतज़ार करने लगा। अचानक मैंने देखा कि हमारे स्कूल के सहपाठी कर्मवीरसिंह उलटी दिशा यानी चंडेसर से आते दिखाई दिए। मुझे देखकर मेरे पास आकर उन्होंने अपनी साइकिल रोक दी और बोल पड़े : 'तं कहां जात हउवे रे, तं त फस्ट आ गयल हउवे।' उन्होंने यह भी बताया कि चंडेसर कॉलेज के गेट पर एक आदमी आठ आना लेकर परीक्षाफल दिखा रहा है। वे तृतीय श्रेणी में पास हुए थे। मेरे साथ कर्मवीर सिंह पुनः चंडेसर कॉलेज चल पड़े। आठ आने देकर जब मैंने अपने स्कूल वाला पन्ना देखा तो सबसे ऊपर प्रथम श्रेणी की लिस्ट में मेरा अकेला नाम था। चार लड़के द्वितीय श्रेणी तथा आठ लड़के तृतीय श्रेणी में पास थे। यानी हमारे स्कूल के छियालीस लड़कों में सिर्फ़ तेरह पास हुए थे। सबसे ज़्यादा मुझे दुःख हुआ था यह देखकर कि

चिन्तामणिसिंह फेल हो गए थे। हीरालाल भी फेल थे। जहाँ तक मेरी अपनी अनुभूति का सवाल था, वह ख़ुशी से कहीं ज़्यादा आश्चर्य वाली थी। जिस परिस्थिति में मैंने इम्तहान दिया था, उसमें इस तरह के परिणाम की आशा बहुत कम थी। मेरा परिणाम इसलिए भी चौंकाने वाला था, क्योंकि बाबा हरिहरदास के उस स्कूल में पहले कोई भी छात्र प्रथम श्रेणी में पास नहीं हुआ था। इस स्कूल की स्थापना आजादी के तुरन्त बाद हुई थी। चंडेसर से परीक्षाफल देखने के बाद वापस लौटते हुए उस पीपल के पेड़ के पास पुनः रुककर मैंने उसकी जड़ों को प्रमाण किया जिसके नीचे कर्मवीरसिंह ने सबसे पहले परिणाम सुनाया था। उस वक्त मैं बहुत अन्धविश्वासी हो गया था। ऐसा लगता था कि मानो बुद्ध की ही तरह पीपल के नीचे मुझे भी ज्ञान प्राप्त हो गया। उस समय मैं एक अजीब अनुभूति से गुजरा था। जहानागंज पहुँचकर मैंने एक बार फिर 'खड़खड़िया' बाबा को प्रमाण करके उन्हें बताया कि मैं प्रथम श्रेणी में पास हो गया। उन्होंने स्लेट पर लिखकर दिखाया : 'आगे भी।' जब वापस घर पहुँचकर मैंने परीक्षाफल बताया तो विशेष रूप से मेरी दादी को कुछ समझ में नहीं आया। मेरी समझ में भी कुछ नहीं आ रहा था कि दादी को कैसे समझाऊँ। जब मैंने कहा कि पढ़ाई में सबसे आगे निकल गया तो वह बहुत ख़ुश हुई। दूसरे दिन बाबा हरिहरदास स्वयं प्रिंसिपल धर्मदेव मिश्र के साथ मेरे घर बधाई देने आ गए। बाबा के घर आने की खबर चारों तरफ फैल गई, जिसके परिणामस्वरूप उस पूरे क्षेत्र के सवर्णों में 'चमरा टाप कइलै' की ध्वनि गूँज उठी। मेरे गाँव के अनेक ब्राह्मण भी घर आकर मेरी तारीफ करते नहीं थकते थे।

* * *

मेरे चचेरे मामा रामखेलावन राम आजमगढ़ के प्रसिद्ध डी॰ए॰वी॰ कॉलेज में बी॰ए॰ प्रथम वर्ष के छात्र थे। उन्होंने मुझसे कहा कि डी॰ए॰वी॰ कॉलेज में ग्यारहवें दर्जे में सिर्फ़ प्रथम श्रेणी के छात्रों को ही दाखिला दिया जाता है और हर दलित छात्र को सरकार की तरफ से सत्ताईस रुपया महीना वजीफा मिल जाता है, जिससे पढ़ाई का खर्चा चल जाता है। उन्होंने यह भी बताया कि आजमगढ़ के मातबरगंज मुहल्ला में लाल डिग्गी के पास एक सरकारी हॉस्टल है, जिसमें दलित लड़कों को मुफ़्त में रहने दिया जाता है। रामखेलावन मामा उसी हॉस्टल में स्वयं रहते थे। उनके द्वारा दी गई यह जानकारी मेरे लिए युगान्तरकारी सिद्ध हुई। उन्होंने मुझे 1 जुलाई, 1964 को आजमगढ़ आकर उसी हॉस्टल में मिलने के लिए कहा। सबसे बड़ा संकट यह था कि उन दिनों जो वजीफा मिलता था, वह कम-से-कम छह महीने बाद। अतः शुरू के छह महीने का खर्च स्वयं उठाना था। इस बीच एक बार फिर संकटमोचक के रूप में मेरे सामने वही हिन्दी अध्यापक सुग्रीवसिंह प्रस्तुत हुए। उन्होंने मुझे फिर तीस रुपये दिया और कहा कि आजमगढ़ जाकर पढ़ाई जारी रखूँ। इन तीस रुपयों के बारे में मैंने किसी को कुछ बताया नहीं। 30 जून, 1964 की सुबह होते ही मेरा मस्तिष्क विभिन्न विचारों के हुजूम से भर उठा। गृहत्याग की इच्छा अपनी चरम सीमा पर थी। भविष्य में ज्ञान हासिल करने की कल्पना और मोहमयी ग्रामीण रिश्तों के बीच मैं बुरी तरह उलझकर रह गया था। उस दिन मैं निरुद्देश्य अपने गाँव के तीनों मुहल्लों को जोड़ने वाली पगडंडियों के आर-पार गया और लौटकर वापस आया। इस दौरान ग्रामीण देवी 'चमरिया माई', ग्राम देवता 'डीह बाबा' तथा ब्राह्मणों के देवता 'बरम बाबा' आदि सबके सामने शीश नवाकर मैंने मनौतियों की भरमार कर दी थी। उन दिनों हमारे गाँवों में बृहस्पतिवार तथा शनिवार को कहीं जाना होता था तो लोग उसे 'दिशासूल' कहकर अशुभ मानते

थे। अतः दिशासूल मिटाने के लिए एक दिन पीछे वाली शाम को गमछे में थोड़ा-सा सत्तू लेकर लोग गंतव्य मार्ग में किसी पेड़ की डाली से लटका देते थे। फिर दूसरे दिन उसी सत्तू को लेकर लोग अपनी राह चल देते थे। इसी दिशासूल को मिटाने के लिए मैंने भी इस टोटके का सहारा लिया। मेरी माँ के पास एक छोटा-सा बहुत पुराना बक्सा था, जिसे वह अपनी शादी के बाद तरवां गाँव से लायी थी। इस बक्से को वह हमेशा अपनी खटिया के नीचे रखती थी, यद्यपि उसमें कोई सामान नहीं होता था। घर से भागने की पूर्व संध्या में मैंने रसोई के अंदर गगरी में रखे सत्तू में से दो मुट्ठी निकालकर चुपके से एक चिथड़े में बाँधकर माँ के बक्से में रख दिया तथा अँधेरा होते ही उस बक्से को सबकी नज़र से बचाते हुए ले जाकर नटिनिया की झोंपड़ी में यह कहकर रख दिया कि कल बरहलगंज बाजार से कुछ सामान लाना है, इसलिए आज दिशासूल मिटाने के लिए ऐसा कर रहा हूँ। इस बक्से की चोरी मैंने इसलिए की थी ताकि घर से भागने के बाद मैं उसमें आटा-दाल आदि साद्य सामग्री रख सकूँ। दूसरे दिन 1 जुलाई, 1964 की सुबह हमेशा की तरह उस 'भैंसउर' मैं सोकर उठने के बाद मैंने गीता के पाँच श्लोक पढ़े और कलकत्ता से भंडारी चाचा द्वारा लाए गए 'रामचरितमानस' को लेकर घर वालों की नज़र से बचते हुए नटिनिया की झोंपड़ी पहुँच गया। वहाँ रखे बक्से में रामचरितमानस, गीता तथा हाईस्कूल की मार्कशीट को मैंने बंद कर दिया। उसमें दो मुट्ठी सत्तू तो पहले से ही था। इन्हीं चोरी के सामानों के साथ बक्से को काँख में दबाए मैं आजमगढ़ की ओर चल पड़ा। अभी मैं मुश्किल से पचास कदम मुर्दहिया के बाएँ वाली पगडंडी पर चला था कि पीछे से दौड़ते हुए नटिनिया ने आवाज़ दी : 'ओहर कहवां जात हउवे रे बाबू, तं तै बरहलगंज जाए ख़ातिर टोटका कइले रहले।' जाहिर है बरहलगंज जाने के लिए मुर्दहिया के दाएँ वाली पगडंडी का सहारा लेना पड़ता था। जब मैंने कहा कि जहानागंज के बाजार से सामान लाना है तो उसे एकदम विश्वास नहीं हुआ। वैसे मेरे पूरे गाँव वालों को आभास हो चुका था कि अब मैं वहाँ ठहरने वाला नहीं था। अतः नटिनिया को भी ऐसा लगा कि मैं गाँव छोड़कर भाग रहा था। इसलिए उसने कई बार इस बात को दोहराया कि 'अब लउटि के ना अइबे का रे बाबू।' वह मुझे बातों में जितना उलझाती जाती, मैं उतना ही डरता जाता, क्योंकि आशंका थी कि किसी घर वाले ने देख लिया तो शायद भाग नहीं पाऊँ। देर हो रही है, ऐसा कहकर मैं तेजी से आगे चल पड़ा। क्षणभर के लिए नटिनिया वहीं खड़ी रही और शायद मेरे द्वारा पढ़ायी गई अंग्रेजी वह भूल गई थी, इसलिए बोल पड़ी : 'पिपरा पे गिधवा बइठल हउवे।' उसके द्वारा बके गए इस वाक्य ने मुझे यकायक विचलित कर दिया था। गिद्ध हमारी मुर्दहिया की अमूल्य निधि थे। किसी जीव का प्राण चाहे जैसे भी निकले, उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को हमेशा के लिए मिटा देने की क्षमता तो सिर्फ़ इन्हीं गिद्धों में थी।

उस जंगल में मैं जैसे-जैसे आगे बढ़ रहा था, मुर्दहिया पीछे छूटती चली जा रही थी और साथ ही छूट रहे थे इस प्रियस्थली के अनगिनत यादों के ढेर। गौतम बुद्ध की लिए जो स्थान था आम्रपाली का, सम्भवतः वही थी मेरे लिए नटिनिया। इन सबके बीच मेरे मस्तिष्क पर हावी हो गई मेरी 'अपशकुन' वाली छाया। चेचक से जिस दायीं आँख की रोशनी चली जाने के कारण लोग मुझे देखकर रास्ता बदल देते थे, उससे भी उतनी ही जलधारा फूट पड़ी थी जितनी कि रोशनी वाली आँख से। जंगल की निर्जनता का फायदा उठाकर मैं बेधड़क रुदन प्रक्रिया का शिकार हो गया। इस दौर से गुजरता हुआ, जब मैं गाँव की सीवान भर्थैया की झील के पास पहुँचा तो यकायक इच्छा हुई कि गाँव के जोगी बाबा का आशीर्वाद लेकर आगे बढ़ूँ। अतः उस घने जंगल में स्थित झोंपड़ी की तरफ

मैं मुड़ गया। काँख में दबा बक्सा मेरे सिर पर चढ़ चुका था। ऐसी ही आदर्श स्थिति में याद आते हैं सदाबहार क्रान्तिकारी चे गुआरा जो मास्को से डॉक्टर की पढ़ाई पूरा करने के बाद क्रान्तिकारी बने थे। क्यूबा की क्रान्ति के बाद जब वे फिडेल कास्त्रो का मन्त्रिमण्डल छोड़कर लैटिन अमरीका के अन्य हिस्सों में क्रान्ति के उद्देश्य से चुपके से भाग रहे थे, तो उन्होंने अपनी डायरी में लिखा था : 'मेरे पैरों के पास दो बक्से थे। एक में दवाइयाँ भरी पड़ी थीं और दूसरे में हथियार। मैंने दवाइयों वाले बक्से को छोड़ दिया और हथियारों वाले बक्से को लेकर गन्ने की घनी फसलों के बीच से जंगल के लिए रवाना हो गया।' खैर, उस समय मेरे अंदर न तो चे गुआरा जैसे विचार थे और न बक्से में हथियार। इस बीच जब मैंने जोगी बाबा को उनकी झोंपड़ी के पास खड़ा देखा तो उनके पैरों पर गिरने से पहले मेरे मुँह से निकल पड़ा, 'बाबा'। इसके बाद जोगी बाबा ने गाया :

जइसन कहत बाड़ा बाबा।
बइसन जइबा काशी काबा॥
बड़ ससतिया सहबा राम।
बड़ ससतिया सहबा राम॥

7

आजमगढ़ में फाकाकशी

1 जुलाई, 1964 (मेरा 15वाँ सर्टिफिकेटिया जन्मदिन) को घर से भागते हुए नटिनिया तथा जोगी बाबा, दो ऐसे व्यक्ति थे, जिनसे होकर मैं एक अनिश्चित भविष्य के लिए रवाना हो गया। भूतकाल में मुर्दहिया तथा जहानागंज के बीच का सात किलोमीटर लम्बा रास्ता न जाने कितनी बार बड़ी आसानी से पार कर लिया था, किन्तु इस बार अपरम्पार लग रहा था। जब जहानागंज पहुँचा तो देखा सवारियों से भरे एक एक्के पर खड़ा एक्केवान चिल्ला-चिल्लाकर बोल रहा था : एक सवारी आजमगढ़ सिधारी, एक सवारी आजमगढ़ सिधारी। सम्भवतः मेरा बक्सा देखकर एक्केवान को आभास हो गया था कि मेरी मंजिल आजमगढ़ अवश्य होगी। पास पहुँचने पर उसने मेरा बक्सा अपने हाथों में लेते हुए मुझे एक्के पर चढ़ने को कहा। मैं पाँवदान पर एक पैर रखकर खड़ा हो गया। दूसरे पैर के लिए कोई जगह नहीं थी। बैठने का तो सवाल ही नहीं था। मेरी असुविधा को भाँपते हुए एक्केवान बड़ी सहजता से कहने लगा कि घबराने की कोई बात नहीं है, चंडेसर पहुँचते ही जगह खाली हो जाएगी, फिर आजमगढ़ तक मस्ती ही मस्ती। इसका अर्थ यह था कि जहानागंज और आजमगढ़ के बीच का आधा रास्ता खड़े-खड़े नापना होगा। इस भगोड़ी यात्रा ने साबित कर दिया कि ज्ञान प्राप्त करना कोई आसान काम नहीं था। एक्का के पीछे एक पाँव के सहारे पाँवदान पर खड़े-खड़े उस यात्रा से धराशायी होने का ख़तरा हमेशा मौजूद था। सबसे ज़्यादा व्यग्र करने वाली बात यह थी कि एक्के पर बैठे सारे लोग मुझे निरन्तर घूर-घूरकर देखते जा रहे थे। उनकी बेधती निगाहों से बचने के लिए मैं अपने सिर को दाएँ-बाएँ फेरने में भी असमर्थ था, अन्यथा पाँव का संतुलन बिगड़ने का ख़तरा झेल पाना असम्भव हो जाता। एक्का जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता, मन में अनायास भावना उमड़ती कि पाँवदान से उछलकर सीधे घोड़े पर सवार होकर चम्पत हो जाऊँ। इसी मुद्रा में

चंडेसर पहुँचने से थोड़ा पहले मुझे वह विशाल पीपल का पेड़ दिखाई दिया, जिसके नीचे दो सप्ताह पूर्व कर्मवीरसिंह ने हाईस्कूल का परीक्षाफल सुनाया था। मन-ही-मन उसे दण्डवत् करते हुए मैं आगे निकल गया। चाहने की उत्कण्ठा के बावजूद एक्के की स्थिति ने मुझे मुड़कर एक बार फिर उसे देखने नहीं दिया। मुश्किल से पाँच मिनट बाद चंडेसर आने पर एक्का वहीं रुक गया। खूब बड़ी चुर्की गठियाए एक आदमी एक्के से उतरते हुए एक्केवान से बोल पड़ा : एक फाटक बंद है। मुझे समझने में जरा भी देर नहीं लगी कि उनकी अन्योक्ति मेरी रोशनीविहीन आँख की तरफ थी। जो भी हो, एक्केवान के वचनानुसार चंडेसर में मुझे बैठने की जगह मिल गई।

* * *

इस बीच मातबरगंज का तिराहा आ गया, जहाँ शंकर भगवान् की लगी मूर्ति से पानी की बौछार उछल रही थी। बिल्कुल मिथकीय गंगा का दृश्य था। वहीं से रिक्शेवाला बाएँ मुड़ा और पलक झपकते ही उस खपड़ैल किन्तु बड़ी इमारत के दरवाजे पर रिक्शा रोक दिया। दरवाजे के ऊपर एक छोटा-सा टीन का बोर्ड लगा हुआ था, जिस पर लिखा था : 'अम्बेडकर छात्रावास'। मैंने अपने जीवन में पहली बार अम्बेडकर का नाम पढ़ा या सुना। रामखेलावन मामा, जो इसी छात्रावास में रहते थे, उन्होंने भी अम्बेडकर के बदले हरिजन छात्रावास मुझे बताया था। बोर्ड पर नाम पढ़ते ही मुझे लगा कि यह आजमगढ़ शहर का कोई व्यक्ति होगा जिसने दलितों के लिए छात्रावास बनवाया होगा। इन्हीं विचारों के साथ मैंने अम्बेडकर छात्रावास में प्रवेश किया जहाँ रामखेलावन मामा मेरे इंतज़ार में बैठे थे।

मामा ने कहा कि आज आराम करूँ और कल यानी 2 जुलाई, 1964 को डी॰ए॰वी॰ कॉलेज चलकर 11वें दर्जे में नाम लिखा लूँ। उस दिन शाम को मामा मेरी हाईस्कूल की मार्कशीट अटेस्ट कराने के लिए आजमगढ़ के प्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेता तेजबहादुरसिंह के पास ले गए, जो उस समय विधान परिषद् के सदस्य थे और मातबरगंज में ही रहते थे। उनका मकान शंकरजी की मूर्ति वाले तिराहे के ठीक सामने वंश गोपाललाल की दुकान का ऊपरी हिस्सा था। स्मरण रहे कि ये वही तेजबहादुरसिंह थे, जिन्होंने 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के दौरान मेरे ननिहाल वाला तरवां का थाना फूँक दिया। मार्कशीट अटेस्ट करने के बाद उन्होंने मुझे मिलते रहने के लिए कहा। तेजबहादुरसिंह पहले ऐसे नेता थे जिनसे व्यक्तिगत रूप से मेरी मुलाकात हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि मेरा मार्क्सवादी प्रभाव में आना लगभग पक्का हो गया। दूसरे दिन डी॰ए॰वी॰ कॉलेज में मेरा दाखिला हो गया और दो-चार दिनों बाद कक्षाएँ शुरू हो गईं। इस कॉलेज में शीघ्र ही आश्चर्यचकित करने वाली बात यह लगी कि दोपहर के बाद चलने वाली कक्षाओं में अनेक अध्यापक सफेद कमीज पर खाकी हाफ पैंट पहनकर आते थे। अनेक छात्र भी वैसे ही आते थे। पाँच बजे छुट्टी का घण्टा बजते ही ये सभी कॉलेज के प्रांगण में लगने वाली आर॰एस॰एस॰ (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) की शाखा में शामिल हो जाते थे। इस तरह शुरू हो जाती थी हिन्दुत्व की उग्रवादी पाठशाला। धीरे-धीरे पता चलने लगा कि आजमगढ़ का यह डी॰ए॰वी॰ कॉलेज सम्पूर्ण रूप से आर॰एस॰एस॰ के अधीन था। यद्यपि मैं इससे पहले आर॰एस॰एस॰ के बारे में कुछ भी नहीं जानता था, किन्तु इससे जुड़े हुए लोग कॉलेज के अंदर जिस तरह पेश आते थे, उससे मेरे अंदर घृणा का भाव बढ़ने लगा।

* * *

वापस अम्बेडकर हॉस्टल में झाँकते हुए अजीब-सा लगता था। इस तरह के हॉस्टलों की व्यवस्था डॉ॰ अम्बेडकर के संघर्षों के परिणामस्वरूप देश भर में दलित छात्रों के लिए मुफ़्त में की गई थी, ताकि छुआछूत के कारण ऐसे छात्रों के लिए किराये पर मकान न मिलने की समस्या को हल किया जा सके। किन्तु ऐसे हॉस्टलों का उस समय नजारा कुछ और ही था। इन हॉस्टलों का मैनेजर प्रायः कोई न कोई स्थानीय दलित नेता हुआ करता था। ऐसे मैनेजर महाभ्रष्ट होते थे। यद्यपि इन हॉस्टलों में दलित छात्रों को मुफ़्त में रहने का प्रावधान था, किन्तु मैनेजर बिना घूस लिए किसी को प्रवेश नहीं देते थे। दस रुपये से लेकर बीस रुपये तक का दिए जाने वाला यह घूस सन् 1964 के हिसाब से एक बड़ी धनराशि हुआ करती थी। मुझे भी दस रुपया लेकर प्रवेश दिया गया था। हॉस्टल के मैनेजर शुभचरन वियोगी, बाबा साहब अम्बेडकर द्वारा स्थापित रिपब्लिकन पार्टी के स्थानीय नेता थे। जैसा कि मैं अम्बेडकर के बारे में पहले से कुछ भी नहीं जानता था, उनके सन्दर्भ में मेरे पहले गुरु सिद्ध हुए सनवारी राम, जो डी॰ए॰वी॰ कॉलेज में 12वीं कक्षा में साइंस के छात्र थे। सनवारी राम बड़े ओजस्वी वक्ता थे। वे अम्बेडकर हॉस्टल के ठीक सामने वाले मकान में रहते थे। इस मकान में आजमगढ़ डाक तार विभाग के मैनेजर रामनाथ किराए पर रहते थे। रामनाथजी 'तारबाबू' के नाम से जाने जाते थे। तारबाबू की पत्नी प्राइमरी स्कूल की अध्यापिका थीं। दोनों लोग बहुत सामाजिक व्यक्ति थे। सनवारी राम तारबाबू के बेटे विजय तथा भतीजे प्रह्लाद को ट्यूशन देते थे, जिसके बदले वे उनके साथ उसी मकान में रहते थे। सनवारी राम हरदम अम्बेडकर हॉस्टल में ही मौजूद रहते थे तथा अम्बेडकर के बारे में प्रायः बातें किया करते थे। सनवारी राम ने ही पहली बार डॉ॰ अम्बेडकर की प्रसिद्ध उक्ति 'जातिविहिन समाज के बिना स्वराज प्राप्ति का कोई महत्त्व नहीं' से मुझे अवगत कराया था। सनवारी राम बहुत मेधावी छात्र थे। गणित शास्त्र में उन्हें महारथ हासिल थी किन्तु बारहवीं कक्षा में सात बार फेल होकर आठवीं बार किसी तरह पास हुए और बाद में रेलवे विभाग में स्टेशन मास्टर बन गए थे। सनवारी राम से ही पता चला कि डॉ॰ अम्बेडकर बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिये थे तथा उन्होंने ही गाँधीजी से लड़कर दलितों के लिए आरक्षण हासिल किया था। डॉ॰ अम्बेडकर बौद्ध बन गए थे, यह बात मुझे सबसे ज़्यादा प्रिय लगी थी। इन दो-चार प्रमुख जानकारियों के अलावा सनवारी राम को कुछ और नहीं मालूम था, किन्तु वे इन्हें बार-बार दोहराया करते थे, जिससे डॉ॰ अम्बेडकर के बारे में चर्चा हमेशा जारी रहती थी। सहदेव तथा तेजबहादुर राम दो अन्य छात्र अम्बेडकरवादी थे। ये दोनों बाद में इंजीनियर बन गए थे। हॉस्टल के अंदर भोजनालय की कोई व्यवस्था नहीं थी, जबकि सरकारी नियमों के अनुसार इसका प्रावधान था। अतः इसमें रहने वाले छात्र आपस में पैसा इकट्ठा कर स्वयं मेस चलाते थे। जो छात्र घर से राशन लाते थे, उसे भी मेस में जमा करके खाने का हिसाब पूरा कर लिया जाता था। जिस छात्र का पैसा या राशन का ब्योरा समाप्त हो जाता था और आगे कुछ जमा नहीं हो पाता, तो उसका मेस में खाना बंद कर दिया जाता था। अनेक छात्रों के लिए यह एक विकट समस्या थी, क्योंकि वे सभी बहुत गरीब परिवारों से आते थे। मेरा खाना भी मेस में प्रायः बंद होने लगा। उस समय अम्बेडकर हॉस्टल के सामने तारबाबू वाले मकान के बायीं तरफ एक बड़ी पकौड़ी की दुकान थी, जो 'दुक्कू की पकौड़ी' के नाम से मशहूर थी।

* * *

मेस में मेरा खाना जब भी बंद हो जाता, मेरा काम दुक्कू की पकौड़ियों से चल जाता था। जैसा कि तीन-चार दिन से ज़्यादा उनकी उधारी नहीं चल पाती थी, इसलिए पकौड़ियाँ खाना बंद हो जाता था, जिसका मतलब था फाकाकशी शुरू। इस तरह अम्बेडकर हॉस्टल के मेस तथा दुक्कू की पकौड़ी की दुकान के बीच जूझते हुए आजमगढ़ की मेरी अनगिनत रातें फाकाकशी से गुजरती रहीं। अब धीरे-धीरे समझ में आने लगा कि घर से भागा हर व्यक्ति बुद्ध नहीं बन जाता। गृहत्याग के बाद चामत्कारिक शक्ति पाने के लिए ब्राह्मणों के चक्कर में बुद्ध भी भूखे रहकर श्मशान में साधना करने लगे थे, किन्तु जब चमत्कार नहीं मिला तो उन्होंने कह दिया कि बिना भोजन के दिमाग काम नहीं करता। उस समय मेरे लिए भोजन मिल जाना ही चमत्कार था। फिर भी आजमगढ़ मुझे बहुत अच्छा लगने लगा था।

* * *

आर्थिक परेशानियों से पढ़ाई छूट जाने की आशंका से मैं हमेशा ही घिरा रहा। आजमगढ़ के कुछ छात्रों से मैंने सुना था कि जो लोग ईसाई बन जाते हैं, उन्हें चर्च वाले पढ़ाई-लिखाई का पूरा खर्चा देते हैं। उदाहरणस्वरूप वे शहर के प्रसिद्ध मिशन कॉलेज के प्रिंसिपल विलियम थ्यूपलस का नाम लेते थे। उनके अनुसार थ्यूपलस अपने आरम्भिक जीवन में किसी मुसहर के अनाथ बालक थे। अपने बचपन में वे एक दिन आजमगढ़ से मऊ जाने वाली सड़क पर गिरा चोटा चाट रहे थे। इस दौरान उसी सड़क से कोई चर्च का फादर गुजर रहा था। वे इस बालक को अपने साथ ले गए और खूब पढ़ाया-लिखाया। बाद में यही बालक आजमगढ़ के सबसे लोकप्रिय कॉलेज का प्रिंसिपल बना। थ्यूपलस के पीछे जुड़ी इस कहानी से मैं बहुत प्रभावित हुआ था और मन-ही-मन ठान लिया था कि मैं भी ईसाई बनूँगा ताकि आगे की पढ़ाई जारी रखूँ। आजमगढ़ रोडवेज के पास एकमात्र चर्च था। मैंने रात में खाना खाने के बाद दीपचंद से ईसाई बनने के इरादे को जाहिर कर दिया और तुरन्त चर्च जाने के लिए जिद करने लगा। दीपचंद मुझे समझाते रहे कि मैं ईसाई बनने का इरादा छोड़ दूँ। किन्तु मैं शंकर की मूर्ति के पास से एक रिक्शा पकड़कर रोडवेज स्थित चर्च के लिए रवाना हो गया। दीपचंद मेरे साथ चश्मदीद के रूप में गए। जब मैं रात के करीब नौ बजे चर्च पर पहुँचा तो उसके विशाल लौह फाटक पर बहुत बड़ा ताला लगा हुआ था। रविवार का दिन था। मैं अत्यन्त निराश होकर चर्च से लौटा था। यदि उस दिन चर्च के फादर से मुलाकात हो जाती, तो मैं अपनी स्थिति का बयान कर समस्या का हल पाते ही अवश्य ईसाई बन गया होता। चर्च के उस बड़े ताले ने मेरी मंजिल बदल दी।

❖❖❖